

श प्रजापति की अनुकम्पा से आज हम ईशोपनिषत्–हिन्दी–विज्ञानभाष्य द्वितीय खण्ड अपने उपनिषत् प्रेमियों के समक्ष उपस्थित करने में समर्थ हो सके हैं। प्रथम खण्ड में ३ मन्त्रों का भाष्य प्रकाशित हुआ है, एवं इस दूसरे खण्ड में उपनिषत् के शेष १५ मन्त्रों का भाष्य सम्पन्न हुआ है। आरम्भ के तीन मन्त्र पुरुषात्मा का निरूपण करते हैं, एवं आगे के १५ मन्त्र प्राकृतात्मा का प्रतिपादन करते हैं। इस विषय विभाग को लक्ष्य में रखकर ही हमने तीन मन्त्रों को स्वतन्त्र खण्ड में, एवं १५ मन्त्रों को स्वतन्त्र खण्ड में प्रकाशित करना आवश्यक समझा है। मन्त्रत्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण भी ६५० पृष्ठों में, एवं पञ्चदशमन्त्रात्मक प्राकृतात्माधिकरण भी ६५० पृष्ठों में ही संपन्न हुआ है। इस प्रकार संभूय यह ईशभाष्य ६०० पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। इन दोनों खण्डों के प्रकाशन का श्रेय "बम्बईवैदिकविज्ञानप्रकाशनफन्ड" को ही है।

उक्त फन्ड में माननीय श्रीलेडीमहस्मीबाई महोदया, एवं माननीय राजाबहादुरश्रीमुकुन्द लालजी पित्ती महोदय के स्तुत्य प्रयास से सन् १८ में लगभग ५ सहस्र रु० एकत्रित हुए थे। उक्त द्रव्य से बम्बई से प्रकाशन सम्बन्धी सामान (ट्रेडिल मशीनें–टाइप–फर्नीचर मकान आदि) खरीदा

गया था। साथ ही में कमेटी से लिखितरूप में यह प्रतिज्ञा की गई थी कि "५ सहस्र रु० की लागत के हिन्दी-वैज्ञानिक ग्रन्थ स्थानीय श्रीबालचन्द्र इ० प्रेस से प्रकाशित कर दिये जायगे। तदनुसार एक वर्ष के भीतर भीतर हमनें लगभग २॥ सहस्र के व्यय के दो खण्ड प्रकाशित कर दिए हैं। लिखित प्रतिज्ञानुसार व्यय के हिसाब के साथ प्रकाशित खण्डों की १०० प्रतियें कमेटी की सेवा में भेज दी गई हैं। बाकी बचे हुए व्यय से भी हम शीघ्र ही मुक्त होनें का प्रयास कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में कमेटी से, विशेषतः श्रीमतीसेठीलक्ष्मीबाई, एवं रावसाहब श्रीमुकन्दमालजी से यह विनम्र निवेदन करना चाहते हैं कि कमेटी ने जो द्रव्य हमें प्रदान किया था उसका उपयोग पूर्वक्रमानुसार प्रकाशन सम्बन्धी सामान में ही होगया है। ऐसी स्थिति में प्रकाशन जैसा परिष्कृत होना चाहिए था, नहीं होसका है। कमेटी द्वारा प्राप्त सामान से किस प्रकार संकट-ग्रस्त बन कर हम दो खण्ड कमेटी के सामनें रखनें में समर्थ होसके हैं इस का पूरा विवरण "हमारी भाषा, और वैदिकसाहित्य" नाम के वक्तव्य से कमेटी को विदित होगा। इन सब सकटों के रहते हुए भी कमेटी को हम विश्वास दिलाते हैं कि आग्रिम वर्ष की समाप्ति तक जैसे भी बनेगा हम शेष व्यय से मुक्त होनें का प्रयास करेंगे। हमें आशा है—सेठी साहिबा एवं रावसाहब हमारी विषम परिस्थिति को लक्ष्य में रखते हुए भविष्य में भी इस साहित्य पर इसी प्रकार अनुग्रहदृष्टि बनाए रक्खेंगे।

इस के अनन्तर "उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका" का प्रथम खण्ड प्रकाशित होगा। यह भूमिका १० ० पृष्ठों में सम्पन्न हुई है। इसी लिए इसे भी दो खण्डों में ही प्रकाशित करनें का विचार किया है। इस में निम्न लिखित विषयों का समावेश हुआ है—

१—प्रारम्भिक वक्तव्य———१००	भूमिकाप्रथमखण्ड
२—मङ्गलपाठरहस्य———८०	
३—उपनिषत् शब्द का अर्थ—१००	
४—क्या उपनिषत् वेद है?—१२०	

(लगभग ४२०)

प्रकाशित दोनों खण्डों के सम्बन्ध में हमें अपने प्रेमी पाठकों से यह निवेदन करते हुए लज्जा का अनुभव होता है कि प्रकाशन में अशुद्धियों को आवश्यकता से अधिक स्थान मिला है। कारण इसका यही है कि अध्ययन के कार्य में संलग्न रहने कारण हमें समय बहुत ही कम मिलता है। साथ ही में अर्थसम्बन्धिनी जटिल समस्या के कारण हम इस कार्य के लिए स्वतन्त्र व्यक्ति रखने में भी असमर्थ हैं। इन्हीं सारी परिस्थितियों को लक्ष्य में रखते हुए पाठक उक्त अपराध के लिए हमें क्षमा प्रदान करेंगे यही निवेदन कर हम अपनी संक्षिप्त प्रस्तावना समाप्त करते हैं।

प्रीयतामनेनात्मदेवतेति-शम्

फाल्गुनकृष्ण १३ शिवरात्रि
वि० सं० १९९०
(ग्रन्थसमाप्ति)

विद्वद्भिर्विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा, भारद्वाज
जयपुर—राजधानी

॥ श्री ॥

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य-द्वितीयखण्ड की विषयसूची



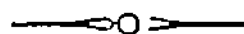
अथ

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणम्

१

(१ पृष्ठ से १५१ पृष्ठ पर्यन्त)



इति-विषयोपक्रमः

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी-त्रयीवेदनिरुक्ति

(१२ पृष्ठ से १० पर्यन्त)



मन्त्रार्थप्रकरण—समाप्त ।

अव्यक्तात्माधिकरण में *ब्रह्म—कर्म्मसम्बन्धाधिकरण*

(११७ पृष्ठ से १५१ पर्य्यन्त)

सम्बन्धाधिकारसमाप्त

इति—सम्यकात्माधिकरण समाप्तम्

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे—

२—महदात्माधिकरणम्

(१५३ पृष्ठ से २११ पृष्ठ पर्यन्त)

इति प्राकृतात्मधिकरणे

महदात्माधिकरणम्

२

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

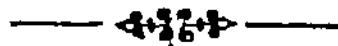
विज्ञानात्माधिकरणम्

(२१५–२०४ पर्यन्त)

मन्त्रार्थप्रकरण

प्रथममन्त्रार्थप्रकरण

(२७३ पृष्ठ से २७८ पृष्ठ पर्यन्त)



प्रथममन्त्रार्थसमाप्त

द्वितीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२७८ पृष्ठसे २८८ पृष्ठ पर्यन्त)

द्वितीयमन्त्रार्थसमाप्त

तृतीयमन्त्रार्थप्रकरण

(२८८ पृष्ठसे ३०३ पृष्ठ पर्यन्त)

तृतीयमन्त्रार्थसमाप्त

इति

प्राज्ञात्माधिकरणे विज्ञानात्माधिकरणम्

समाप्तम्

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे

प्रज्ञानात्माधिकरणम्

—४—

(१०५ पृष्ठसे १२६ पृष्ठपर्यन्त)

विषयसूची—समाप्त

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

—४—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे
प्राणात्माधिकरणम्

—५—

इति

प्राकृतात्माधिकरणे प्राणात्माधिकरण

समाप्तम्

५

—•०•—

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणम्

६

(१७६ पृष्ठसे १८६ पृष्ठपर्यन्त)

इति

प्राकृतात्माधिकरणे शरीरात्माधिकरणं

समाप्तम्

६

अथ

प्राकृतात्माधिकरणे उभयो सत्यात्मनोरग्निना–ऐकात्म्यम्

(१८४ पृष्ठ से १८६ पृष्ठ पर्यन्त)

इति

वाजसनेयोपनिषत्–विज्ञानभाष्य सम्पूर्णम्



उपनिषत् निष्कर्ष

(१८७ पृष्ठ से १९२ पृष्ठ पर्यन्त)



ओं शान्तिः ! शान्ति !! शान्ति !!!



"मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्"

प्राकृतात्माधिकरण

२

प्राण–आप–वाक्–अन्न–अन्नादमयः प्राकृतात्मा **'विश्वात्मा'**

४—१—१—अनेजदेकं मनसो जवीयः
५—२—२—तदेजति तन्नैजति
६—३—३—यस्तु सर्वाणि भूतानि
७—४—४—यस्मिन् सर्वाणि भूतानि
→ अव्ययात्माधिकरण

८—५—१—स पर्यगाच्छुक्रमकायम्
→ महानात्माधिकरण

९—६—१—अन्धं तमः प्रविशन्ति
१०—७—२—अन्यदेवाहुर्विद्यया
११—८—३—विद्यां चाविद्यां च
→ विज्ञानात्माधिकरण

१२—९—१—अन्धं तमः प्रविशन्ति
१३—१०—२—अन्यदेवाहुः सम्भवात्
१४—११—३—सम्भूतिं च विनाशं च
→ प्रज्ञानात्माधिकरण

१५—१२—१—हिरण्मयेन पात्रेण
१६—१३—२—पूषन्नेकर्षे
१७—१४—३—वायुरनिलममृतम्
→ प्राणात्माधिकरण

१—अथेदं भस्मान्तं शरीरम्
→ शरीरात्माधिकरण

१८—१५—१—अग्ने नय सुपथा राये
→ अग्नि की सर्वता

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदम्



पूर्णमदः  पूर्णमिदम्

१-स्वयम्भूः  १-शान्तात्मा

अधिदैवतम्  अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

ब्रह्म-कर्म्ममयः प्राकृतात्मा स्वयम्भूः

अव्यक्तात्मा

१

स्वयम्भू  **प्राणः**  शान्तात्मा

(अव्यक्तात्माधिकरणे *शान्तात्मा*)

वेदावच्छिन्नो वेदमूर्त्तिर्विद्याकर्म्ममयात्मा

विश्वेश्वरः

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

(ईशोपनिषत् ४ मन्त्र)





अव्यक्तस्वरूपनिदर्शन

सर्वा दिश ऊर्ध्वमधश्च तिर्यक् प्रकाशयन् भ्राजते यद्वनड्वान् ।
एवं स देवो भगवान् वरेण्यो योनिस्वभावानधितिष्ठत्येकः ॥ १ ॥

यच्च स्वभावं पचति विश्वयोनिः पाच्यांश्च सर्वान् परिणामयेद्यः ।
सर्वमेतद्विश्वमधितिष्ठत्येको गुणांश्च सर्वान् विनियोजयेद्यः ॥ २ ॥

तद्वेदगुह्योपनिषत्सु गूढं तद् ब्रह्मा वेदते ब्रह्मयोनिम् ।
ये पूर्वं देवा ऋषयश्च तद्विदुस्ते तन्मया अमृता वै बभूवुः ॥ ३ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः संचरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥ ५ ॥

स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ ६ ॥

एष देवो विश्वकर्मा महात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ७ ॥

छन्दांसि यज्ञाः क्रतवो व्रतानि भूतं भव्यं यच्च वेदा वदन्ति ।
अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् तस्मिंश्चान्यो मायया संनिरुद्धः ॥ ८ ॥

यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको यस्मिन्निदं सं च विचैति सर्वम् ।
तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥ ९ ॥

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः ॥ १० ॥

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥

॥ श्री ॥

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥ १ ॥ (गी० २।२८।)

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥ २ ॥ (गी० ८।१८)

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ ३ ॥ (गी० ९।८।)

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्
हेतुनानेन कौन्तेय ! जगद्विपरिवर्तते ॥ ४ ॥ (गी० ९।१)



अन्वर्थ से सम्बन्ध रखने वाला बहिरङ्ग विषय समाप्त होगया। अब मन्त्र-प्रकरण आरम्भ होता है। पुरुष प्रकरण का 'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि मन्त्र आवरणतन्त्र का निरूपण करता है। आवरणतन्त्र विघ्न है। इसी विघ्नावरण से आत्मप्रकाश रहता हुआ भी तिरोहित हो रहा है। इस आवरणतन्त्र के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि—आवरणतन्त्र का प्रवर्तक कौन है? विशुद्ध अव्यय पुरुष तो केवल आत्मकाम बनता हुआ आप्तकाम अतएव निष्काम है। ऐसी अवस्था में विशुद्ध अव्यय से आवरणरूप विघ्न की प्रवृत्ति हो—यह सम्भव नहीं है। इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'असुर्याः' इत्यादि मन्त्र के अव्यवहितोत्तरकाल में ही निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

"वह (कोई) एक (विलक्षण तत्त्व सर्वथा) कम्प रहित है। (वह) मन से भी (अधिक) वेग वाला है। पहिले से ही (सर्वत्र) व्याप्त उस तत्त्व को देवतालोग प्राप्त करने में

यही सीमित भसात्प्रबिष्ट बनता हुआ, मतएव त्रिनियतिभाव का प्रवर्तक बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट करदिया गया है। (देखिए ई० उ प्र० २६५–२८५ पृ०) बलभाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोभ ही इस का स्वरूपधर्म है। इसी मात्यन्तिक क्षोभ से अव्ययपुरुष 'असत' कहलानें लगता है। रसभाग सर्वथा अक्षय है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य अशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत–मृत्युरूप सदसद् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, यही अहंकार (ईश्वरांशभूत जीवाव्यय) है, यही अहस्कार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है–कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों? इसका उत्तर अपनें वस्त्र से पूछिए। वस्त्र में कपड़ा है, सूत है, रूई है, कपास है, मिट्टी है, जल है तेज है, वायु है आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। वस्त्र में इतनी चीजें, फिर भी वस्त्र एक कहलावे, ऐसा क्यों? बस जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझनें वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि "यदि रसवत् बल को भी शाश्वत एवं वस्तुसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूल विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अनृतं द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानलें वाले—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गी० १६ अ० ८ श्लो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के व्याज से इस बल की शाश्वतता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। यह मानलेनें पर भी बल स्वीकार करनें से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

समर्थ है। वह तत्त्व दौड़ते हुए देवताओं का स्वयं बैठा बैठा ही अतिक्रमण कर रहा है ऐसे इस तत्त्व में मातरिश्वा (वायु का तत्त्वविशेष) अप् नाम के प्राण को रखता है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

श्रुति कहती है कि एक तत्त्व ऐसा है जो सब के सिर चढ़ा हुआ है एवं वही तत्त्व एक पादके सिर भी चढ़ा हुआ नहीं है। वह एजत्तत्त्व चलता है, अनेजत्तत्त्व अचल है। दोनों धर्मों में वह नित्य व्याप्त है। उभयधर्मावच्छिन्न वस्तुतत्त्व एक है। इस प्रकार श्रुति एक ही तत्त्व में सर्वथा विरुद्ध दो भावों का सन्निवेश बतला रही है। ऐसा कौनसा तत्त्व है जो निरन्तर चल भी रहा है, एवं ठहरा भी हुआ है, जो अनेजत् भी है, एवं मनसे भी तेज दौड़ने वाला है? इस का उत्तर है वही आत्मपुरुष। आत्मा का अमृतरूप विद्याभाग सर्वथा स्थिर (अनेजत्) है, मृत्युरूप कर्मभाग सर्वथा चर है। अपनी इन्हीं दोनों विभूतियों से वह संसारमें व्याप्त हो रहा है। संसार चलाचल है। बनना—बिगड़ना संसार का स्वाभाविक धर्म है। इसी द्विनियति से यह विश्व भी 'द्विनियति' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। विश्व के बनना (स्थिति—[illegible]) और बिगड़ना (गति—[illegible]) यही दो रूप (रंग) हैं अतएव लोकभाषा में विश्व के लिए—'दुनिया दुरंगी' यह आभाणक प्रसिद्ध है। निरुक्तक्रमानुसार द्विनियति शब्द ही 'दुनिया' बन गया है। यहाँ एक बनता है एक बिगड़ता है। एक रोता है दूसरा हँसता है। एक सोता है एक जागता है। एक सेवक है दूसरा स्वामी है। एक पति है दूसरी पत्नी है। एक भोक्ता है दूसरा भोग्य है। एक बालक है दूसरे खिलौने हैं। इस प्रकार मायाबलावच्छिन्न आत्मा की सृष्टि में सुख दुःख, पुण्य पाप, अच्छा बुरा, रात दिन, [illegible] गुरु शिष्य, राजा प्रजा, [illegible] आदि भेद से सर्वत्र ही द्विनियति का साम्राज्य है।

आत्मा का [illegible] है [illegible] है। [illegible] अमृत है [illegible] मृत्यु है। यही मृत्युरूप [illegible] उस अमृतरूप [illegible] समुद्र में प्रविष्ट हो जाता है, उस समय यह आत्मा [illegible] निर्विशेष [illegible] से [illegible] हुआ [illegible] कहलाता है, [illegible] है। ([illegible] २४५-२८०))।

यही सीमित बलावच्छिन्न बनता हुआ, अतएव द्विनियतिभाव का प्रवर्तक बनता हुआ अव्यय कहलाने लगता है जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में स्पष्ट करदिया गया है। (देखिए ई० उ प्र० २६५–२८५ पृ०) बलभाग सर्वथा क्षणिक है, क्षोभ ही इस बल का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक क्षोभ से अव्ययपुरुष 'असत्' कहलानें लगता है। रसभाग सर्वथा शाश्वत है। शान्ति इस का स्वरूपधर्म है। इसी आत्यन्तिक शान्ति से यह 'सत्' नाम से व्यवहृत होने लगता है। नित्य बलशान्तिगर्भित नित्य शान्त अमृत—मृत्युरूप सदसत् तत्त्व ही ओंकार (ईश्वर) है, यही अहंकार (ईश्वरांशभूत जीवात्मा) है, यही अहस्कार (विश्व) है। यही रामानुज सम्प्रदाय का विशिष्टाद्वैत है। इस प्रकार तत्त्व दो हैं, परन्तु आश्चर्य है—कहलाते हैं दोनों 'एक'। ऐसा क्यों ? इसका उत्तर अपने वस्त्र से पूछिए। वस्त्र में कपड़ा है, सूत है, रुई है, कपास है, मिट्टी है, जल है तेज है वायु है, आकाश है, प्राण है, मन है, विज्ञान है, आनन्द है, अनन्त (परात्पर) है। वस्त्र में इतनी चीजें, फिर भी वस्त्र एक कहलावे, ऐसा क्यों ? बस जो उत्तर इस 'क्यों' का है, वही उत्तर पूर्व के 'क्यों' का है।

अद्वैततत्त्व के वास्तविक मर्म को न समझने वाले कुछ एक दार्शनिकों का कहना है कि "यदि रसवत् बल को भी शाश्वत एवं वस्तुसत् (एकपदार्थ) मानलिया जायगा तो अद्वैत का समूल विनाश होजायगा। अतः नाम रूप कर्मात्मक विश्व को सर्वथा मिथ्या ही समझना चाहिए। केवल रसतत्त्व सत्य है। और सारा प्रपञ्च मायिक है, मिथ्या है"। इस प्रकार—'अनृते द्वे तु मायिके' कहते हुए नामरूपात्मक विश्व को असत्य मानने वाले—"असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्" (गी० १६ अ० ८ श्लो०) भगवान् के इस कथन के अनुसार अनीश्वरवादी कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा के व्याज से इस बल की शाश्वतता पर प्रहार करना चाहते हैं। उनके प्रति हमारा यही कहना है कि थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद से हम अद्वैतरक्षा के लिए कर्ममय विश्व को आपके कथनानुसार मिथ्या मान लेते हैं। पर मानलेनें पर भी बल स्वीकार करनें से जो आपत्ति हमारे ऊपर आती है, उस आपत्ति से आप भी नहीं बच सकते। सांसारिक पदार्थों में स्वगत, सजातीय, विजातीय भेद से तीन प्रकार के भेद

हुआ करते हैं। गाय और मनुष्य का भेद विजातीय भेद है। मनुष्य-मनुष्य का भेद सजातीय भेद है। एक ही मनुष्यशरीर में कान-नाक-मुख हाथ-पैर आदि शरीरावयवों का पारस्परिक भेद "स्वगत" भेद है। ब्रह्मतत्त्व इन तीनों भेदों से पृथक् माना जाता है, जैसा कि– 'एकमेवा द्वितीय ब्रह्म" इत्यादि वचनों से स्पष्ट है। विजातीय भेद को हटाने के लिए 'एकम्' कहा है सजातीय भेद को हटाने के लिए 'एव' कहा है एवं स्वगत भेद की व्यावृत्ति के लिए 'अद्वितीयम्' कहना पड़ा है। इस पर हमारा यह कहना है कि हम उसे सजातीय विजातीयभेदशून्य तो मानते हैं, परन्तु आपके माने हुए अद्वैतब्रह्म के स्वरूपानुसार उसे स्वगतभेद शून्य नहीं माना जासकता। कारण स्पष्ट है। 'नित्य विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" के अनुसार उसमें सत्ता-चेतना-आनन्द यह तीन धर्म स्वतः सिद्ध हैं। अस्ति (सत्ता), भाति (चेतना), प्रिय (आनन्द) यह तीन धर्म आपके ही माने हुए हैं। उस एक ब्रह्म का तीन तरह से मान होरहा है। क्या भातिमूलक भेद अभेद का प्रतिबन्धक नहीं है? यदि हां तो इस विप्रतिपत्ति को हटाने का आप के पास क्या उपाय है? यही सत्ताद्वैत। उक्त विप्रतिपत्ति का निराकरण करते हुए आप कहते हैं कि–' यद्यपि ब्रह्मतत्त्व सत्ता-चेतना-आनन्द रूप से तीन तरह से भासित होता है परन्तु सत्ता तीनों की एक है। भातिभेद द्वैत का कारण नहीं है अपि तु सत्ताभेद द्वैत का कारण है। ऐसी अवस्था में सत्ताभेदमूलक स्वगतभेद का प्रकृत में समावेश नहीं होसकता"। क्या यह उत्तर (हम मान रूप को मानते हुए) नहीं देसकते? अवश्य देसकते हैं। मान की भाति होती है सत्ता एक है। पूर्वोक्त बस्त्रोदाहरण पर ध्यान दीजिए। मन मात्रा बना है, प्राण आकाश बना है आकाश वायु, वायु अग्नि अग्नि जल जल मिट्टी मिट्टी कपास कपास रूई रूई सूत सूत कपड़ा एवं कपड़े से वस्त्र बना है। प्रतिसञ्चरक्रम का आश्रय लेते हुए यदि आप सम्मिश्रण तोड़ते जावेंगे तो उक्त सब पदार्थ आप एक ही वस्त्र में प्रत्यक्ष देख लेंगे। इन सब अनेक भातियों के रहने पर भी—"वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" के अनुसार पूर्वपूर्व कारण सत्ता ही उत्तरोत्तर कार्य में प्रतीत होती है। इस एक सत्ताभाव से अनेक भातियों के (प्रतीतियों के) रहने पर भी

ब्रह्म एक कहलाता है। यही अवस्था यहां है। मलतत्त्व अनेकरूप से प्रतीत हो रहा है साथ ही में उपाधिभेद से सत्ताभाव का भी पार्थक्य प्रतीत हो रहा है, परन्तु परमार्थत सत्तारस एक है। अतः नामरूपप्रवर्त्तक मलपदार्थ को मानलेने से अद्वैततत्त्व में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। ऐसी अवस्था में कल्पित अद्वैतवाद की रक्षा में व्यस्त होकर नामरूपात्मक विश्व को मिथ्या मानना सर्वथा मिथ्या है। "अनृते द्वे तु मायिके" 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या" यह प्रमाण किस शास्त्र के हैं यह पता न लगा। सम्पूर्ण वेदवाङ्मय में गीता में वेदान्तसूत्रों में कहीं भी विश्व को मिथ्या नहीं बतलाया है। विश्व को मायिक अवश्य बतलाया है परन्तु माया वस्तु मिथ्या है- यह किस आधार पर मान लिया गया, यह समझ में न आया। यदि आप बुरा न मानें तो हमें यह कहलेने दीजिए कि भारतवर्ष का उन्नति का समूल विनाश यदि किसी ने किया है तो वह यही कल्पित जगन्मिथ्यावाद है। "संसार मिथ्या है—आत्मा सत्य है, सांसारिक कर्म बन्धन के कारण हैं" इन अनुचित एवं अशास्त्रीय भावनाओं ने कमप्रय भारतवर्ष को सर्वथा अकर्मण्य बना डाला है। पाठकों को हम यह विश्वास दिलादेते हैं कि आप के शास्त्रों में कहीं भी जगत् को मिथ्या नहीं बतलाया गया है, अपितु वह विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रहा है।

'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' के अनुसार विश्व का मूलप्रभव ब्रह्म सत्ता चेतना—आनन्दलक्षण बनता हुआ 'सत्य' है। इधर— 'ब्रह्मैवेद सर्वम' यह श्रुति सत्यब्रह्म के कार्यभूत विश्व को 'ब्रह्म' मान रही है। एक सत्यपूत महर्षि की कृति जब सत्य मानी जाती है तो सत्यमूर्त्ति ब्रह्म की कृतिरूप विश्व को कैसे मिथ्या माना जासकता है। कारण के गुण ही तो कार्य के आरम्भक (स्वरूपसम्पादक) बनते हैं। जब कारण सत्य है तो कार्य कैसे मिथ्या होसकता है। 'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते' (गीता १० अ ८ श्लो) के अनुसार सत्यमूर्त्ति अव्यय से सारा विश्व बना है। अव्यक्त ब्रह्म ही व्यक्तरूप में आकर विश्व कहलाने लग गया है। ऐसा विश्व मिथ्या होगा—यह कौन विश्वास करेगा। 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूत सनातनः' (गीता १५ अ ७ श्लो) 'एकांशेन स्थितो जगत्' 'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादो

स्योऽभवत् पुनः' 'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' 'एक वा इदं विबभूव सर्वम्' 'तमेकं सन्तं विभा बहुधा वदन्ति' इत्यादि श्रुतिस्मृतिएं जब स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मकारणतावाद को पुष्ट करती हुईं विश्व को ब्रह्म की विभूति मान रही हैं तो ऐसी अवस्था में विश्व को मिथ्या मानना क्या निरी कल्पना नहीं है। अपि च सृष्टि होती है प्रजापति से। प्रजापति को सृष्टिकामना से तपश्चर्या करनी पड़ती है। उस की चिरकाल की तपश्चर्या से विश्व उत्पन्न हुआ है जैसा कि – 'प्रजापतिर्वा इदमग्र एक-आसीत्। सोऽकामयत बहुस्यां प्रजायेय भूमानं गच्छेयम्' स तपोऽतप्यत' (कै० उ० १।१६।१) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है। साधारण मनुष्य परिश्रम करके यदि किसी वस्तु का निर्माण करता है तो लोक में उस का आदर होता है। ऐसी स्थिति में जगन्नियन्ता ने तपश्चर्या से जिस विश्व का निर्माण किया उसे एक रेखा से मिथ्या बतला देना सचमुच अपराध है, अपराध ही नहीं अक्षम्य अपराध है। अपि च– 'अहं ब्रह्मास्मि' 'योऽसावसौ' इत्यादि रूप से उपनिषच्छ्रुतिएं मर्त्य पदार्थ को 'ब्रह्म' मानती हैं। 'उभयं हैतदग्रे प्रजापतिरास–मर्त्यं चैवामृतञ्च'' (शत० १०। का०।१ब्रा०।२।१क०) इत्यादि ब्राह्मणश्रुति उस ब्रह्म प्रजापति को अमृत-मृत्युमय मान रही है। श्रौती उपनिषत् के आधार पर चलनेवाली स्मार्त्ती उपनिषत् (गीता) 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' इत्यादि रूपसे स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म को उभयधर्मावच्छिन्न बतला रही है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म के मृत्युप्रधान विश्व को मिथ्या मानना साहस नहीं तो और क्या है। जिस नामरूपमय विश्व को आप मिथ्या मान रहे हैं देखिये श्रुति उसी के लिए अपने क्या विचार प्रकट करती है—

त्रयं वाऽइदं नाम रूपं कर्म। तेषां नाम्नां वाग्—इत्येतदेषामुक्थम्। अतो हि सर्वाणि नामान्युत्तिष्ठन्ति। एतदेषां साम, एतद्धि सर्वैर्नामभिः समम्। एतदेषां ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि बिभर्ति। अथ रूपाणां चक्षु ———— । अथ कर्मणामात्मा (शरीरम्) ———— । तदेतत् त्रयं सदेकमयमात्मा। आत्मा-उ एकः सन्नेतत् त्रयम्। तदेतदमृतं

सत्येन छन्नम् । प्राणो वाऽअमृतम् । "नामरूपे सत्यम्" । ताभ्या-मयं प्राणश्छन्नः" —

(शत० १४का०।३प्र०।४ब्रा०।३) इति।

जिसप्रकार हमने स्पष्ट शब्दों में 'नामरूपे सत्यम्' इस रूपसे स्वयं वेद में नाम रूपा-त्मक विश्व की सत्यता बतलाई है, क्या विश्व को मिथ्या सिद्ध करने वाला कोई वाक्य आप बतला सकेंगे? नहीं तो क्यों आपके काल्पनिक मत का आदर किया जाय। 'असत्यम प्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्' के अनुसार क्यों नहीं आपको 'अनीश्वरवादी' माना जाय। रामानुज सम्प्रदाय के अनुसार क्यों नहीं आपको 'प्रच्छन्नबौद्ध' कहा जाय। समस्या बड़ी जटिल है। आज जगन्मिथ्यात्ववाद पर प्रायः सभी विद्वानों का दृढ़ अभिनिवेश है। उनके इस मन्तव्य के विरोध में कुछ भी कहना आपत्ति को निमन्त्रण देना है। फिर भी सत्य सिद्धान्त सत्य ही रहेगा। ऊपर की पङ्क्तियों से केवल क्षोभ प्रकट कर देना दूसरी बात है, एवं शास्त्रीय विचार से निर्णय पर पहुंचना दूसरी बात है। हम आज स्पष्ट शब्दों में आर्यावर्त्त के सभी विद्वानों को यह बतला देना चाहते हैं कि जगन्मिथ्यात्ववाद अशास्त्रीय है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' वाक्य का शास्त्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। प्रस्थानत्रयी का कोई भी वाक्य जगत् को मिथ्या नहीं बतला रहा। विश्व के लिए 'अनृत' शब्द अवश्य आया है। परन्तु इस अनृत शब्द का अर्थ भी मिथ्या नहीं है, जैसा कि विचार उपस्थित होने पर प्रकट होगा। नीरक्षीरविवेकियों के सम्मुख कुछ एक वचन उपस्थित कर दिये जाते हैं। यह वचन 'विश्व ईश्वर की कृति है—ईश्वर ही अपने अंशरूप से विश्व बना है। अतः तदंशभूत विश्व तद्रूप ही है' इस सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं। विद्वानों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे इन वचनों का समन्वय कर चिरकाल से चली आने वाली जगन्मिथ्यात्वविषयिणी मिथ्या भ्रान्ति का निराकरण कर देश को निष्काम कर्मयोग में प्रवृत्त करें।

१— सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० १)।

२— स एवाधस्तात् स उपरिष्टात्, स पश्चात्, स पुरस्तात् स दक्षिणत स उत्तरत., स एवेदं सर्वम्—(अहमेवेदं सर्वम्)" (छां उ ७।२५।१)।

३— 'पुरुष एवेदं सर्वम्-यद्भूतं यच्च भाव्यम" (यजु सं ३१ म० । २ म०)।

४— एकं वा इदं विबभूव सर्वम्"

५— 'प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिता बभूव" (यजु १०।२०)।

६—"एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः' ऋ.सं १। १६४।४६)।

७—' ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः' (तै.ब्रा २।८।९।६)

८— तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे" (कठ.२।६।१)

९—' यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि" (श्वेता उप ३।४)।

१०— षोडशकल प्रजापतिः" (शत ७।२।१।१७)।

११—" एष ह प्रजानां प्रजापतिर्यदग्निचित्" (गो पू ५।१)।

१२— प्रजापतिर्वा इदं सर्वमनु प्रजायते" (श ४।५।५।१)।

१३—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्। तेषां तप्यमानानां रसान् प्रावृहद्—अग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षाद् आदित्यं दिव' (छां उ ४।१७।१)।

१४— प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा" (श ७।४।२।५)।

१५—'इमे लोका प्रजापतिः" (श० ७।५।१।७)।

१६— द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः" (श ५।१।५।६)।

१७—' सं बाहुभ्यां धमति सम्पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक" (ऋक् १।८१।३)।

१८— सर्वमु ह्येवेद प्रजापति' (श ५।१।१।४)।

१९— त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः' (यजु ३ ।४)।

२ "प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्व यदिदं किञ्च" (———)

२१—'य एको जालवानीशत ईशनीभिः सर्वांल्लोकानीशत ईशनीभिः" (श्वे उ ३।१)।

२२– "क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः" (श्वे० १।१०)।

२३–"य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगात् वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति" (श्वे० ४।१)।

२४–"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" (गी० पृ० ८)।

२५–"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी०)।

२६–"मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय" (गी० ७।७)।

२७–"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्" (गी० १०।४२)।

२८–"नामरूपे सत्यम्" (श० १४ कां० १।४)।

२९–"ऐतदात्म्यमिदं सर्वं, तत् सत्यं, स आत्मा" (छां० उ० ६।८।७)।

३०–"तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नाद्रेतः, रेतसः पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। + + + + + अन्नाद्वै प्रजा प्रजायन्ते याः काश्च पृथिवीं श्रिताः। सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्" (तै० उ० २।१–२)।

३१–"यद्वै किञ्च प्राणि स प्रजापतिः" (शत० ११।१।१)।

३२–"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यः" (बृ० आ० ५ अ० ६ ब्रा०)।

३३–"अन्नमयं हि सोम्य मनः" (छां० उ० ६।७।१)।

३४–"षोडशकलः सोम्य पुरुषः" (छां० उ० ६।७।१)।

३५–"रूपं वै प्रजापतिः + + + । नाम वै प्रजापतिः" (तै० ब्रा० ३।२।७।१)।

३६–"प्रजापतिः प्रजा असृजत। स ऊर्ध्वेभ्य एव प्राणेभ्यो देवानसृजत, येऽवाञ्चः प्राणास्तेभ्यो मर्त्याः प्रजाः + + + तस्य ह प्रजापतेरर्धमेव मर्त्यमासीदर्धममृतम्" (शत० १०।१।३।२–३)।

३७–"स आस्येनैव देवानसृजत, तस्मै ससृजानाय दिवेवास। अथ योऽयमवाङ्प्राणस्तेनासुरानसृजत। तस्मै ससृजानाय तम इवास" शत० ११।१।६।७–८)।

३८–"एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः। स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ्जनांस्तिष्ठति सर्वतोमुखः ॥ (श्वे० उ० २।१६)।

उक्त सत्यमीमांसा से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि रस बलरूप विद्या कर्म दोनों आत्मा के स्वरूपधर्म हैं। अभिन्नसत्ताभाव के कारण दोनों एकतत्त्व हैं। विद्याभाग स्थितिमूर्ति होने से सर्वथा कम्प रहित है। इसी विद्याभाग को लक्ष्य में रखकर श्रुतिने 'अनेजत्' कहा है। कर्मभाग गतिरूप होने से एजत्' है। इन दोनों विरुद्धभावों से द्वैत का भ्रम न होजाय अत एकत्वव्यवहारमूला उसी सत्तातत्त्व की ओर लक्ष्य रख कर श्रुति ने 'एकम्' कहा है। अनेजत्-और एजत् दोनों उस एक के उदर में समाविष्ट हैं। मध्यस्थ 'एकम्' दोनों का समन्वय सूत्र है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर "अनेजत्—एकम्—मनसो जवीयः" यह क्रम रक्खा गया है। इस प्रकार स्पष्ट ही इस मन्त्र का विद्याकर्ममयाव्ययप्रतिपादकत्व सिद्ध होजाता है। यदि इस मन्त्र में 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' यह वाक्य न होता तो अवश्यमेव प्रथम प्रकरणवत् यह द्वितीय प्रकरण भी निरुपाधिक (वेदोपहित) शुद्ध अव्यय का ही निरूपक मान लिया जाता। परन्तु उक्त चतुर्थ चरण ही उस के वेदयुक्त सोपाधिक भाव की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है।

उस स्थितिगतिमय विलक्षण तत्त्व में मातरिश्वा नाम का तत्त्व विशेष अप् का आधान करता है। आधान का अर्थ है आहिति। एक आलम्बन पर दूसरी वस्तु का रक्खा जाना ही आहिति किंवा आधान है। वैदिक परिभाषानुसार जिस आलम्बन पर वस्तु का आधान होता है जिस पर वस्तु आहित होती है वह अन्ना (भोक्ता) बनता हुआ 'अन्नाद' नाम से व्यवहृत होता है एवं आहित होनेवाला पदार्थ 'आहुति' कहलाता है। आहिति शब्द ही परोक्षभाषा में आहुति है यही अन्न है। उदर अन्नाद है वहां आहित अन्न अन्न है। दोनों का सम्मिलित-रूप ही यज्ञ कहलाता है। उदाहरणार्थ सूर्य अन्नाद है उस पर आहित अतएव आहिति नाम से प्रसिद्ध चन्द्रमा (सोम) आहुति है। यही प्राकृतिक (आधिदैविक) नित्ययज्ञ है। इसी अन्नान्नादात्मक यज्ञ का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

> स वै यः सोऽन्नाग्निरेव सः। तस्मिन् यतकिंचान्याद्धति—आहितय एवास्य ताः। आहितयो वै ता आहुतय इत्याचक्षते परोक्षम्। आदित्यो

या मघा, तस्य चन्द्रमा (सोम) एवाहितयः, चन्द्रमस प्राश्विस्ये प्रादधाति"
(शत० १०।६।३।१-२)

प्रकृत मन्त्रभाग यही यज्ञक्रम बतला रहा है। प्राचीन भाष्य के अनुसार अप् का अर्थ है कर्म, मातरिश्वा का अर्थ है सूत्रवायु। सूत्रवायु उस अनेजदेकद् नाम के परमात्मतत्व में कर्म का आधान करता है। वैज्ञानिक दृष्टि से अप् आहुति द्रव्य है, मातरिश्वा भी एक स्वतन्त्र तत्व है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। इस अन्नाहुति से यह अव्ययपुरुष यज्ञ पुरुषरूप में परिणत होजाता है। पुरुष जबतक यज्ञ का आश्रय नहीं होता, तबतक प्रजोत्पत्ति नहीं होसकती। कारण 'सह यज्ञाः प्रजा सृष्ट्वा' (गी ३।१०) के अनुसार प्रजा सृष्टि का मूल उपक्रम यज्ञ प्रजापति ही है।

अप् की आहुति होती है इससे यज्ञस्वरूप निष्पन्न होता है। उधर हमारा शुद्ध अव्यय पुरुष मोक्षमोग्यलक्षण अमृतानन्दात्मक यज्ञ से सर्वथा बहिर्भूत है। क्योंकि यज्ञ का पहिला मत आपोमय परमेष्ठी है। आपसे ही यज्ञ होता है। यज्ञमूर्ति परमेष्ठी का अप् नाम का पुरजन प्राणमय वेदपुरजन से उत्पन्न होता है। स्वयम्भू का प्राण ही 'ब्रह्मनिश्वसित' वेद है। 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात्' के अनुसार इसी वेदवाक् से पानी उत्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में वेद हो तब अप् तत्व का विकास हो अप् हो तब मातरिश्वा द्वारा उस अव्ययब्रह्म पर अप् का आधान हो। अतः मानना पड़ता है कि मन्त्रगत अव्यय ब्रह्म वेदमय ही है। वेदमूर्ति अव्यय पर ही अन्नाहुति सम्भव है। वेदमय अव्ययब्रह्म ही, दूसरे शब्दों में अव्ययावच्छिन्न वेद ही इस मन्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। अव्यय स्वयं विद्याकर्ममय है। अतएव इस के आत्मक्षर के पञ्चीकृत प्राणभाग से प्रकट होनेवाला वेद भी अवश्य ही विद्याकर्ममय है। वेद में जो विद्या-कर्म का भाग है, वह अव्यय के विद्या-कर्म का ही अनुग्रह है। वेद क्या पदार्थ है? वह अपौरुषेय है, अथवा पौरुषेय? आदि प्रश्नों के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। इन सब विषयों का विवेचन भाष्यभूमिका में किया जाचुका है। अतः प्रकृत में मन्त्रार्थ से सम्बन्ध रखने वाले वेदपदार्थ का ही स्वरूप पाठकों के सामने रक्खा जाता है।

इति-विषयोपक्रम

---o---

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी–त्रयीवेदनिरुक्ति



पदार्थक्रम का साधक तत्त्व वेद है। 'प्रथ पद' "प्रथ पद" इत्यादि रूप से जिसके द्वारा पदार्थ की उपलब्धि होती है वह उपलब्धि ही वेद है जैसा कि पूर्व की वेदनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है। वेद का जन्म किंवा आविर्भाव आत्मक्षर से होता है। आत्मक्षर की (मर्त्य) ब्रह्मा विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम यह पांच कलाएं हैं। सृष्टिनिर्माण करना ब्रह्मा का काम है। परन्तु जब तक यह ब्रह्मतत्त्व प्राणमय वेदाक्षर को अपनी प्रतिष्ठा नहीं बना लेता, तब तक यह सृष्टिनिर्माण में सर्वथा असमर्थ रहता है। सृष्टिनिर्माता है ब्रह्मा, परन्तु साधन (उपादान) है वेद। अतएव मन की इच्छा से ब्रह्मा से सर्व प्रथम वेद का ही प्रादुर्भाव होता है। उस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ब्रह्मा विश्व निर्माण करता है जैसा कि पूर्व की विश्वनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

वेदग्रन्थों के भक्तों को यह सुविदित है कि वेदतत्त्व ऋक्, यजुः, साम अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त है। चतुर्धा विभक्त वेदतत्त्व विज्ञानदृष्टि से अग्नि–सोम भेद से दो भागों में विभक्त है। अग्निवेद पहिला वेद है, सोमवेद दूसरा वेद है। जो तत्त्व जो दाहक होता हुआ केन्द्र से निकलकर विविध अवस्थाओं में परिणत होता हुआ, उत्तरोत्तर विकसित होता रहता है वही अग्रगामी होने से 'अग्रि' कहलाता है। आगे चलना, आगे बढ़ना इसका स्वाभाविक धर्म है। परोक्षभाषानुसार यह अग्रितत्त्व ही 'अग्नि'* नाम से व्यवहृत होता है– (देखिए शत ६ कां०। प्र०।१ अ।१ ब्रा।११ क०)। जो तत्त्व जो दाह्य होता हुआ प्रति (परिधि) से केन्द्र की ओर आता हुआ अग्नि की ओर जाते हुए दाहक अग्नि में आहुत होकर अग्नि

---

* अग्निः कस्मात् अग्रणीर्भवति अग्रं यज्ञेषु प्रणीयते, अङ्गं नयति सन्नममानः — न क्नोपयति न स्नेहयति"

[या नि ७ अ १ खं० १-४-५-]।

को सत्स्वरूप से सुरक्षित रखता है यही सुत (आहुत) होने से 'सूयते' इस निर्वचन के अनुसार सोम नाम से प्रसिद्ध है। सोम स्नेहतत्त्व है, अग्नि तेजतत्त्व है। स्नेहतत्त्व की प्रतिष्ठा स्थितितत्त्व है, तेजतत्त्व की प्रतिष्ठा गतितत्त्व है। स्थिति-गति ही आगे जाकर स्नेह-तेज रूप में परिणत होजाती है। प्रत्येक पदार्थ स्थिति-गति-स्नेह-तेज इन चारों की समष्टिमात्र है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा। ससार में आप जितनी भी मूर्त्तिए देख रहे हैं, वे सब अग्निमयी हैं। अग्नि ही मूर्त्ति का निर्माण करता है। दूसरे शब्दों में अग्नि ही वस्तु का स्वरूप है। वस्तु (पदार्थ) 'गुणकृतो द्रव्यम्' इस दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार कर्म का पुद्गल है। यह कर्म कर्म एवं क्रिया भेद से दो भागों में विभक्त है। एक एक क्रिया क्रिया कहलाती है, ऐसी अनेक क्रियाओं की समष्टि 'कर्म' नाम से व्यवहृत होती है। अनेक क्रियाओं के संघात से एक कर्म (काम) पूरा होता है। उदाहरणार्थ भोजन निर्माण एक कर्म है। इस कर्म की सिद्धि के लिए इंधन अग्नि-पानी-आटा-नमक-कूकार आदि अनन्त क्रियाएं करनी पड़ती हैं। 'रसोई तैयार होगई' यह एक कर्म सपन्न होगया। इस कर्मसपत्ति के लिये तदवयवभूत अवान्तर कितने ही कर्म करने पड़े। बस महाकर्म सिद्धि के लिए क्रियमाण अवान्तर कर्म क्रिया नामसे एवं अवान्तर कर्मों से निष्पन्न कर्म कर्म नाम से व्यवहृत किया जाता है। एक ही कर्म की दो अवस्थाएं होजाती हैं। इसी क्रियासंतानरहस्य को लक्ष्य में रख कर अभियुक्त कहते हैं—

> गुणभूतरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम् ।
> बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ वाक्यपदी)

कर्म की क्रिया अवस्था क्षोभयुक्त है, कर्मावस्था शान्तवत् है। हल-चल क्रिया है। स्थिति कर्म है। स्वस्थान पर स्थिर रहते हुए चलना हिलना है इसे ही कम्पन कहते हैं। प्रदेश का परित्याग करते हुए आगे बढ़ना चलना है, यही गति है। इस प्रकार क्रियाभाव कम्पन और गति दो भावोंमें परिणत रहता है। इसी अभिप्राय से इस का 'हल चल' शब्द से अभिनय किया जाता है। कहना यह है कि वस्तुमात्र में एक स्थिरभाव है, एक चलभाव है।

निरन्तर उस पदार्थ में से उसके परमाणु निकला करते हैं इसी (परमाणुविनिर्गमा) अवस्था का नाम क्रिया है। वस्तुपिण्ड कर्म है। शरीर पर दृष्टि डालिये। शरीर अग्निपिण्ड है। आप शरीर को जहाँ छूते हैं, गरम पाते हैं। यह अग्नि के प्रत्यक्ष दर्शन हैं। इस अग्निमूर्ति शरीर से प्राणाग्नि का निरन्तर विस्रंसन होता रहता है। इन्द्रियजन्य परिश्रम, रोमकूप आदि से प्राणाग्नि व्यय होता रहता है। इसी कमी को पूरा करने के लिये साय प्रातः अन्नाहुति (भोजन) की आवश्यकता होती है। शरीरपिण्ड अग्निमय है जो वस्तु खर्च हो रही है वह भी अग्नि है। इस प्रकार पिण्डरूप कर्म विस्रंसनरूप क्रिया दोनों का अग्निमयत्व सिद्ध होजाता है। वस्तुपिण्ड कर्म है यह भी अग्नि है। वस्तुपिण्ड में होने वाला व्यापार क्रिया है यह भी अग्नि ही है। इस प्रकार संसार में जितने भी कर्म हैं उन सब का अग्निमयत्व मान लेना पड़ता है। अग्नि की इसी कर्मव्यापकता को लक्ष्य में रखकर 'विश्वानि (सर्वाणि) कर्म्माण्ययमग्निः'" (शत० ब्रा० ८ कां० । ५ अ० । १ ब्रा० । ४२ कं०) यह कहा जाता है। हम अमुक वस्तु देख रहे हैं इस वाक्य का 'देखना' कर्म से ही तो सम्बन्ध रखता है। परिवर्तनरूपा क्रिया एवं मूर्त्तकर्म्म (वस्तुपिण्ड) ही तो दृष्टि के विषय बनते हैं। दृष्टि विषयक सारे कर्म अग्निरूप हैं दूसरे शब्दों में इन कर्मों का प्रवर्तक क्रिया स्वरूप सम्पादक अग्नि ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर निघण्टु (निरुक्त) भाष्य कहता है—

"यत्र किञ्चिद्दृष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत्" (या० नि० दै० कां० ७।८।२)

सर्वकर्मप्रवर्तक सर्वकर्म्ममूर्ति इस अग्नि की प्राणभूत भेद से दो अवस्थाएं हैं। प्राणाग्नि अमृताग्नि है यही देवता है। भूताग्नि मर्त्याग्नि है यही भूत है। वस्तुपिण्ड भौतिकाग्नि है, पिण्ड गत निराकार प्राणाग्नि देवता है। प्राणाग्नि क्रिया है भूताग्नि कर्म है। इस प्रकार संसार के सारे भूत एवं संपूर्ण देवता "सर्वाणि वाऽएष भूतानि सर्वान् देवान् गर्भो बिभर्ति यो ऽग्निं बिभर्ति" (शत० ब्रा० ६ कां० । ५ अ० । १ ब्रा० । ६२ कं०) के अनुसार अग्निमय ही हैं। इस भूताग्नि की सत्ता सोमाहुति पर निर्भर है। जब तक सोमाहुति होती रहती है तभी तक अग्नि स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। भूतप्राणमय प्राणाग्नि ही मूर्तिरूपमें परिणत हुआ है। परन्तु विश्वास कीजिए जब तक इस में सोम की आहुति नहीं होगी, तब तक वह

मूर्ति कभी प्रतिष्ठित न रहेगी। कारण—अग्नि तेजोमय होता हुआ विशकलनधर्मा है। वह ठहरना जानता ही नहीं। उसमें निरन्तर गति होती रहती है। वह मूर्ति का निर्माण नहीं करता, अपि तु उस के स्वरूप को विशकलित करता है। परन्तु स्नेहगुणक सोम इस में आहुत होकर इस की विशकलनशक्ति का स्तम्भन कर देता है। इस सोमसम्बन्ध से अग्नि को बाध्य होकर मूर्तिरूप में परिणत रहना पड़ता है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्निमय बनकर ही मूर्ति सत्ता का कारण बनता है इसी आधार पर अग्नि को मूर्ति का अधिष्ठाता मानलिया जाता है। परन्तु वस्तुत यह मूर्तिभाव सोम की कृपा पर ही निर्भर है। जिस प्रकार अग्नि 'प्राण' कहा जाता है, एवमेव सोमतत्त्व 'रयि' नाम से व्यवहृत होता है। रयि (सोम) ही मूर्ति बनता है, इसी आधार पर —'तस्मान्मूर्तिरेव रयिः' (प्रश्नोपनिषत् १ प्र० ५ कं०) यह कहा जाता है। सोमतत्त्व आहुति द्रव्य है, अत एव भोक्ता अग्नि की अपेक्षा इसका स्थान (दर्जा) नीचा माना जाता है। यह सब कुछ होते हुए भी सोम अग्नि का अभिन्न मित्र है, अन्तरंग सखा है। अपने छोटे दर्जे के इसी सोम सखा के कारण प्रज्वलित होकर यह अग्नि ही वेदत्रयी का प्रवर्तक बनता है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

> अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते, अग्निर्जागार तमु सामानि यन्ति ।
> अग्निर्जागार तमयं सोम आह तवाहमस्मि सख्ये न्योकाः ॥
>
> (ऋक् सं० ५।४४।१५)

उक्त अग्नि-सोम के निरूपण से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि सम्पूर्ण भौतिक विश्व में अग्नि-सोम का साम्राज्य है, जैसा कि 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' इत्यादि से स्पष्ट है। स्वयम्भू-परमेष्ठी आदि विश्व के पांच पर्व हैं। पांचों में स्वयम्भू सत्याग्निमय, सूर्य देवाग्निमय, पृथिवी भूताग्निमयी है। परमेष्ठी और चन्द्रमा सोममय हैं, जैसा कि शुक्लनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इस दृष्टि से भी विश्व का अग्निसोममयत्व सिद्ध होजाता है। इनमें अग्नि-वेद वेदत्रयी है, सोमवेद चौथा अथर्ववेद है। अग्नि की अग्नि-वायु-आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं, अतएव अग्निवेद ऋक्-यजु-साम भेद से तीन भागों में विभक्त होजाता है।

सोमतत्व दिक्सोम (निरायतन सोम) भास्वर सोम (सायतन सोम) भेद से दो मार्गों में विभक्त है। अतएव सोमवेद—घोराङ्गिरा अथर्वाङ्गिरा भेद से दो मार्गों में विभक्त होजाता है। दोनों की समष्टि अथर्ववेद है। त्रयीवेद की प्रतिष्ठा अग्निमूर्त्ति ब्रह्मा है, दूसरे शब्दों में त्रयीवेद पिता पर प्रतिष्ठित है, एवं सोमवेद ब्रह्मा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा पर प्रतिष्ठित है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सोमवेद को थोड़ी देर के लिये छोड़ दीजिये, अग्नि वेद पर दृष्टि डालिए।

यह अग्निवेद आत्मा प्रतिष्ठा ज्योति भेद से तीन भागों में विभक्त है। आत्मवेद यजुर्वेद है प्रतिष्ठावेद ऋग्वेद है एवं ज्योतिर्वेद सामवेद है। यह तीनों ही वेद पूर्वप्रतिपादित मन—प्राण—वाक् के त्रिवृत्करण से त्रयीभाव से युक्त हैं। तीनों में से सर्वप्रथम सर्व प्रधान आत्मरूप यजुर्वेद को ही लीजिए।

१—आत्मवेद (यजुर्वेद — ऋग्यजुसाममय)

'स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः' के अनुसार आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। इसी का नाम विद्यागर्भित अव्ययात्मा (ब्रह्मात्मा) है। आत्मा की इन तीनों कलाओं से क्रमशः रूप—कर्म—नाम इन तीन मर्त्य कलाओं का उदय होता है। मन रूपमात्र का उक्थ है। मन ही विषयरूपाकाराकारित बनता है. दूसरे शब्दों में सारे रूप मन से ही उठते हैं अतएव हम मन को रूपों का उक्थ (प्रभवस्थान) मानने के लिए तय्यार हैं। मन ही रूपों को धारण करता है विषयाकार मन पर ही प्रतिष्ठित रहता है अतएव इसे सब रूपों का ब्रह्म (बिभर्ति रूपाणि) कहा जासकता है। अश्व—मनुष्य—घट—पट आदि सब के रूप परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। परन्तु इन भिन्नों में मन अभिन्न रूप से व्याप्त है, सब रूपों में समान है सम है, अतः मनको ही रूपों का साम (अवसानभूमि) कहा जासकता है। इस प्रकार 'यतो उत्तिष्ठन्ति सर्वाणि रूपाणि बिभर्ति यत् सर्वाणि रूपाणि, सर्वे यत् सर्वेषु भूतेषु' इस निर्वचन प्रक्रिया के अनुसार हम आत्मा की मनोकला को रूपों का उक्थ—ब्रह्म—साम लक्षण आत्मा मानने के लिए तय्यार हैं। इसी प्रकार आत्मा की प्राणकला कर्मों की उक्थ

ब्रह्म–साम है वाक्कला नामों का उक्थ–ब्रह्म–साम है। नाम–रूप–कर्म भेद से वह एक आत्मतत्त्व तीन मार्गों में विभक्त होरहा है। तीनों मिलकर एक आत्मा है। इस आत्मा की मनोकला में उक्थमात्र प्रधान है, ब्रह्म–साम भाव गौण हैं प्राणकला में ब्रह्मभाव की प्रधानता है, उक्थ–साम गौण हैं, एवं वाक्कला में साम की प्रधानता है उक्थ ब्रह्म गौण हैं। इस गौणमुख्य भाव के कारण तद्वादन्याय से हम मन को उक्थ कहसकते हैं प्राण को ब्रह्म कह सकते हैं, एवं वाक् को साम कहसकते हैं। यह उक्थ ऋक् है, ब्रह्म यजु है, साम साम है। इस प्रकार उक्थ-ब्रह्म-साम भेद से आत्मरूप यजुर्वेद में तीनों वेदों का समन्वय होजाता है।



२—प्रतिष्ठावेद (ऋग्वेद —ऋग्यजु साममय)

दूसरा है प्रतिष्ठावेद। इसीका नाम ऋग्वेद है। यह प्रतिष्ठातत्त्व आत्मधृति, असतोधृति, सतोधृति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। मन–प्राण–वाक् की अव्याकृतावस्था का नाम सत्ता है, यही आत्मा है। प्रत्येक वस्तु पर इस आत्मलक्षण सत्ताब्रह्म का अनुग्रह है। प्रत्येक वस्तु अस्तिभावात्मक है। सूर्य स्वरूप से विद्यमान है पृथ्वी है हम हैं इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ का पदार्थत्व सुरक्षित रखने वाला जो अस्तिभाव है–स्वसत्ता है इसी का नाम आत्मधृति' (आत्मप्रतिष्ठा–आत्मसत्ता) है। हम (प्रत्येक पदार्थ) मन को धारण करते हैं, प्राण को एवं वाक् को धारण करते हैं। इसी धृति से हम हैं। 'अहमस्मि' (मैं हूं) यही तो आत्मधृति किंवा स्वधृति है।

जो वस्तु सत्ताशून्य होती है वह अन्य सत्ता के अनुग्रह से सत्तावद् बन जाती है। उदाहरणार्थ–घट पहले न था, वह असद् था नास्ति रूप था अभाव के गर्भ में विलीन था। कुम्भकार मिट्टी में कुलाल द्वारा अपनें मनप्राणवाङ्मय आत्मा के आधार पर हस्तप्रयोग से बना डालता है। कुम्भकार के बोद्धजगत् में प्रतिष्ठित, अतएव तदाकाराकारित (घटाकाराकारित) मन प्राण वाक् की सहायता से दण्ड–चक्र–चीवरादि साधनों द्वारा वह असद् घट

मृत्तिका में स्थित रूपा को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है। घट में जो सत्ता है वह मिट्टी से आई हुई है। असत् घट मृत्सत्ता से सत् बन रहा है। इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है। अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है। उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है। अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'असतो धृति' कहा जाता है, जैसा कि—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" इत्यादि से स्पष्ट है। सत्तारूप से हम आत्मधृति रूप हैं, एवं शरीर असतो धृति रूप है। जीवात्मसत्तारूप आत्मधृति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है। यही दूसरी प्रतिष्ठा है।

तीसरी सतोधृति है। जल भी सत् है, घट भी सत् है। सत् घट में सत् जल भरा हुआ है, यही सतोधृति है। हम भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित हैं पुस्तक मेज पर रक्खी है। अस्तियुक्त पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। महाप्राण अल्प प्राण की प्रतिष्ठा है। अन्नाद अन्न की प्रतिष्ठा है। शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है। हमारी प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है, भूपिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि कि प्रतिष्ठा वायु है वायु कि प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आनन्द सब की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है अतएव हम इसे सतोधृति' कहने के लिये तय्यार हैं। इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है। यही तीसरी प्रतिष्ठा है।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मधृति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोधृति है एवं विकृतिप्रतिष्ठा सतोधृति है। पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही व्यक्तावस्था में आकर विकृति कहलाने लगती है। अस्तु उक्त तीनों प्रतिष्ठाओं का अन्ततोगत्वा—'आत्मविधृति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है। तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं। प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है। ब्रह्मतत्त्व प्राण है, जैसाकि पूर्व के ब्रह्मवेद में बतलाया जाचुका है। यह वही प्राण है जो सप्तपुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

तप से प्रकट होता है। "ब्रह्म व सर्वस्य प्रथमजम्" "ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" के अनुसार ब्रह्माक्षर से समुद्भूत यह प्राणप्रतिष्ठा साक्षात् वेद है। जैसे अपप्रकृतिक अक्षर विष्णु से उत्पन्न होनेवाले मात्र लोक कहलाते हैं, एवमेव प्राणप्रकृतिक ब्रह्माक्षर से प्रसूत प्रतिष्ठामात्र वेद नाम से प्रसिद्ध हैं। पूर्वप्रतिपादित इन तीनों धृतियों में आत्मधृति ऋग्वेद है। क्योंकि आगे की सारी प्रतिष्ठाएं आत्मप्रतिष्ठा पर ही प्रतिष्ठित रहती हैं। असतोवृत्ति-सतोधृति दोनों का आधार आत्मप्रतिष्ठा है। यजु-और साम ऋक् पर प्रतिष्ठित रहते हैं। अतएव सर्वप्रतिष्ठारूप इस आत्मप्रतिष्ठा को हम अवश्य ही ऋग्वेद कह सकते हैं। प्रस्ताव ऋग्वेद है ऋक् ही उपक्रम है। आत्मप्रतिष्ठा ही इतर प्रतिष्ठाओं का प्रस्ताव (उपक्रम) स्थान है। असतोवृत्ति यजुर्वेद है। कार्य में कारण सत्ता का योग हो जाना ही असतोवृत्ति है। कारणसत्ता कार्य में आहुत हो जाती है। दोनों का यजन होता है। अतः 'यजनात्' से इस असतोवृत्ति को हम अवश्य ही यजुर्वेद कहने के लिये तय्यार हैं। एव शेष सतोधृति सामवेद है। साम का 'ऋचा सम मेने' यह लक्षण है। आत्मधृति ऋक् है। अन्य को धारण करने वाली आत्मसत्ता ही सतोधृति है। आत्मधृति ही आगे जाकर सतोवृत्ति बन जाती है। सतोधृति ऋग्रूपा आत्मधृति से समभावापन्न है, अतः इसे सामवेद कहा जासकता है। इस प्रकार ऋग्वेदरूप प्रतिष्ठावेद में प्रतिष्ठात्रयी के कारण ऋक्-यजु-सामात्मिका वेदत्रयी का उपभोग सिद्ध होजाता है।



३-ज्योतिर्वेद (सामवेद -ऋग्यजुःसाममय)

तीसरा है ज्योतिर्वेद। 'सर्वं तेजः सामरूप्यं शश्वत' के अनुसार ज्योति ही सामवेद है। ज्ञानज्योति, भूतज्योति, सत्यज्योति भेद से ज्योतिस्तत्त्व तीन भागों में विभक्त है। आत्मज्योति ज्ञानज्योति है। सूर्य-चन्द्र-विद्युत-नक्षत्र-अग्नि-भेद से पञ्चधा विभक्त ज्योति भूतज्योति है। ज्ञानज्योति ही भूतज्योति की प्रतिष्ठा है। ज्ञान ही भूत की आधार भूमि है। ज्ञानज्योति से ही भूतज्योति प्रकाशित रहती है, अतएव इस ज्ञानज्योति को 'ज्योतिषां ज्योतिः'

मृत्तिका में स्थित सत्ता को ग्रहण कर सत्तायुक्त बन जाता है। घट में जो सत्ता है वह मिट्टी से आई हुई है। असत् घट मृत्सत्ता से सत् बन रहा है। इसी सत्ता की अपेक्षा से 'घट उत्पन्न हुआ' यह व्यवहार होता है। अपूर्वसत्ताधारण को ही 'जन्म' कहा जाता है। उत्पन्न वस्तु अपनी प्रकृति (उत्पादक) में ही प्रतिष्ठित रहती है। अतएव इस प्रकृतिसत्ता को 'असतो धृति' कहा जाता है, जैसा कि—'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्'' इत्यादि से स्पष्ट है। जीवरूप से हम आत्मधृति रूप हैं, एवं शरीर असतो धृति रूप है। जीवात्मसत्तारूप आत्मधृति से असत् शरीर सत्तायुक्त बन रहा है। यही दूसरी प्रतिष्ठा है।

तीसरी सतोधृति है। जल भी सत् है, घट भी सत् है। सत् घट में सत् जल भरा हुआ है, यही सतोधृति है। हम भूपृष्ठ पर प्रतिष्ठित हैं पुस्तक मेज पर रक्खी है। अस्तियुक्त पदार्थ स्वप्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित रहते हुए अन्य प्रतिष्ठा पर प्रतिष्ठित हो रहे हैं। महाप्राण अल्पप्राण की प्रतिष्ठा है। अन्नाद अन्न की प्रतिष्ठा है। शरीर वस्त्र की प्रतिष्ठा है। हमारी प्रतिष्ठा घर है, घर की प्रतिष्ठा भूपिण्ड है, भूपिण्ड की प्रतिष्ठा पानी है, पानी की प्रतिष्ठा अग्नि है अग्नि कि प्रतिष्ठा वायु है वायु कि प्रतिष्ठा आकाश है, आकाश की प्रतिष्ठा सौम्यप्राण है, प्राण की प्रतिष्ठा मन है, मन की प्रतिष्ठा विज्ञान है आनन्द सब की प्रतिष्ठा है। इस प्रकार यह प्रतिष्ठा उत्तरोत्तर के सद्भावों को अपने में प्रतिष्ठित रखती है, अतएव हम इसे 'सतोधृति' कहने के लिये तय्यार हैं। इसी को परप्रतिष्ठा भी कहा जासकता है। यही तीसरी प्रतिष्ठा है।

पुरुषप्रतिष्ठा आत्मधृति है, प्रकृतिप्रतिष्ठा असतोधृति है, एवं विकृतिप्रतिष्ठा सतोधृति है। पुरुष ही प्रकृति है, प्रकृति ही व्यक्तावस्था में आकर विकृति कहलाने लगती है। अतएव तीनों प्रतिष्ठाओं का अन्ततोगत्वा—'आत्मविधृति' (आत्मप्रतिष्ठा) पर ही पर्यवसान सिद्ध हो जाता है। तीनों प्रतिष्ठा प्रतिष्ठा हैं। प्रतिष्ठातत्त्व 'ब्रह्म' है। ब्रह्मतत्त्व प्राण है, जैसाकि पूर्व के ब्राह्मवेद में बतलाया जाचुका है। यह वही प्राण है जो सप्तपुरुषपुरुषात्मक ब्रह्मप्रजापति के

इन्हीं तीनों ज्योतियों के कारण ज्योतिर्मय देवताओं को त्रिसत्य कहा जाता है । उक्त तीनों ज्योतिएं विश्व में परस्पर में नित्य सम्बद्ध हैं । ज्ञानज्योतिर्मय आत्मा (विज्ञानात्मा) सुषुप्तिकाल में जब पुरीतति नाडी में चला जाता है तो यह भूत-एवं सत्यज्योतियों का प्रत्यक्ष करने में असमर्थ होजाता है । सूर्य-चन्द्र-अग्नि-वाक्-आत्मभेद से पञ्चज्योतिर्मय यह ज्ञानज्योतिर्घन जीवात्मा मूलज्योति के सहारे ही अध्यात्मसंस्था में प्रतिष्ठित रहता है । आदित्यज्योति से ही यह सतत् कर्मों में प्रवृत्त होनें के लिए समर्थ होता है । तदभाव में चन्द्रमा, चन्द्राभाव में अग्नि, अग्नि के अभाव में वाक्, सर्वाभाव में आत्मा है । परन्तु बिना सूर्यादि ज्योतियों के यह अधिक समय तक नहीं ठहर सकता, जैसा कि 'असुर्या नाम ते लोकाः' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है । शरीरप्राणों के केन्द्रभूत हृदय में जो विज्ञानज्योति है वही आत्मा है । मूलज्योतिर्घन सूर्य द्वारा अध्यात्म में प्रविष्ट होनें वाला यह आत्मा स्वप्रभस्वरूप ज्योतिर्मय सूर्यादि के बिना कैसे प्रतिष्ठित रह सकता है । इसी प्रकार नामरूप के बिना भी शुद्ध ज्ञानात्मा का विकास असम्भव है । नामरूप को छोड़ देनेंपर ज्ञानात्मा निर्विकल्पकभाव में परिणत होता हुआ भातिजगत् से बाहर निकल जाता है । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि उपर्युक्त तीनों ज्योतिएं परस्पर में ओतप्रोत रहकर ही उपलब्ध होती हैं । इन तीनों में मूलप्रभव ज्ञानज्योति प्रस्तावस्थानीय होनें से ऋग्वेद है । विश्वावसानभूमिरूपा सत्य ज्योति सामवेद हैं । दोनों का यजन (सम्बन्ध) करानें वाली मध्यपतिता भूतज्योति यजुर्वेद है । इसप्रकार ज्योतिलक्षण सामवेद में ज्योतित्रयी से वेदत्रयी का योग सिद्ध होजाता है ।

आत्मा, प्रतिष्ठा, ज्योति इन तीनों में प्रतिष्ठा सत्तातत्व है, ज्योति चेतना है, आत्मा आनन्दघन है । सत्ताश्रयभाव सत् है, चेतनाश्रय चित् है आनन्दाश्रयभाव आनन्द है । विश्वातीत विशुद्ध अव्यय के सत्ता-चेतना-आनन्द के आश्रय से प्रतिष्ठित रहनें वाला विश्वमूर्ति प्रजापति भी सच्चिदानन्दघन है, तदंशभूत जीवात्मा भी सच्चिदानन्द है, ईश्वरांशभूत विश्व भी 'सच्चिदानन्दम्' है । सच्चिदानन्दघन ईश्वर-जीव-विश्व इन तीनों के सत्ता-चेतना आनन्द यह तीन वेद हैं । सुतरां वेदत्रयी का भी सच्चिदानन्दत्व सिद्ध होजाता है । यही अम

(ज्योतियों की भी ज्योति) कहा जाता है। मूलज्योति पांच हैं, इसी बहुत्व की अपेक्षा से 'ज्योतियां' कहागया है। इसी मूलज्योति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

बात यथार्थ है। जबतक हम में ज्ञान है, तभी तक सूर्य-चन्द्रादि हमारे लिए प्रकाशित हैं। यदि ज्ञान विलुप्त है तो सारे विश्व में हमारे लिये अन्धकार है। इसी आधार पर प्रान्तीय भाषा में 'आप मरा तो जग परलय (प्रलय)" यह किंवदन्ती प्रचलित है। इस ज्ञानज्योति से प्रकाशित मूलज्योतियों का मूलाधार सूर्यज्योति है। इसका चक्षुरिन्द्रिय पर अनुग्रह होता है। तीसरी सत्यज्योति नामरूपात्मिका है। नामरूपात्मक घटपटादि में जो भाग विशेष नाम से प्रसिद्ध है वही अमृत है। यही तत्त्व विज्ञानभाषा में 'भाग' नाम से प्रसिद्ध है। यह अमृतभाग घट-पटादि समस्त पदार्थों में समान है अतएव अविशेष रूप से व्याप्त है। यही अविशेष (अमृतब्रह्म) नामरूप की कृपा से विशेष बन कर 'अयं घटः' 'अयं पटः' इत्यादि रूप से पृथक् पृथक् प्रतीत होने लग गया है। यदि नामरूप का परित्याग करदिया जाता है तो यह अमृततत्त्व औपाधिक विशेषभाव से पृथक् होता हुआ अप्रतीति का विषय बन जाता है। नामरूप के बिना यह सर्वथा तिरोहित है। नामरूप से परिच्छिन्न होकर ही यह प्रकाशित होता है। अतएव अमृत को आच्छादित करने वाले, किन्तु उसे आविरूप से प्रकाश में लाने वाले नामरूप को हम अवश्य ही 'ज्योति' कहने के लिए तय्यार हैं। विषयोपक्रम में बतलाए हुए सत्यनिर्वचन के अनुसार नामरूपात्मिका ज्योति सत्यज्योति है। जैसा कि निम्न श्रुति से स्पष्ट होजाता है—

"तदेतदमृतं सत्येन छन्नम् । नामरूपे सत्यम् । ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः'

(शत० १४ कां०) इति ।

आत्म–प्रतिष्ठा–ज्योति तीनों मिलकर एक वेद है। तीनों का समुचित रूप ही हमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्तात्मक है, यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है—यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योति वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तु तत्त्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति–भाति–प्रिय की समष्टि ही वस्तूपलब्धि है। यही त्रयीवेद है। संसार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, अनन्त व्यक्तियें हैं अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपात्मक भूतभाग को हटादिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असत् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तिवत् प्रतीत होने लगता है। संसार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीगर्भित वेद ही है। वही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साथ ही में नामरूपकर्मात्मक मर्त्यभाग भी वही है। क्योंकि मनःप्राणवाङ्मय अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रभव है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> "स मर्त्यां चाव विधायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। एतद्वा अस्ति।
> एतद्धि–अमृतम्। यद्ध्यमृतं तद्ध्यस्ति। एतदु तत्–यन्मर्त्यम्।
> मर्त्यां चाव विधायां सर्वाणि भूतानि– प्रतिष्ठितानि"
>
> (शत० १०।६।१।२।) इति।

वेदत्रय को प्राजापत्य कहा जाता है। अमप्रजापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्रजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

है यही सर्वत्र व्याप्त है, यही सब कुछ है, इसी में सब कुछ है । यह है मौलिकवेद । इन तीनों में आनन्दात्मकवेद ही (यजुर्वेद ही) पहिला पुरुष्कन है । यही सृष्टि का मूलप्रभव है । यह अनेजत् है मनसो जवीय है, एकम् है । आगे का सारा प्रपञ्च इसी अव्यक्त वेद से उत्पन्न होता है उत्पन्न होकर इसी प्रतिष्ठित पर रहता है, अन्त में इसी में विलीन होजाता है—

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥

अग्निवेदविवर्त्त

अग्निवेदस्त्रयीवेद —(मूलवेद)

१—आत्मवेद ---- आनन्द ------ आनन्द →→ यजुर्वेद
२—प्रतिष्ठावेद ---- सत्ता ------ सत् →→ ऋग्वेद
३—ज्योतिर्वेद ---- चेतना ---- चित् →→ सामवेद
} अग्निमयो मूलवेदः

१ { उक्थम् — १ — उक्थवेदः → ऋग्वेद; ब्रह्म — २ — ब्रह्मवेद → यजुर्वेद; साम — ३ — सामवेद → सामवेद } आत्मवेदः—वेदत्रयात्मकः
यजुर्वेद १ यजुरग्नि

२ { आत्मा — १ — आत्मधृतिवेद → ऋग्वेद; धृति — २ — रजस्तोधृतिवेद → यजुर्वेद; विधृति — ३ सतोधृतिवेद → सामवेद } प्रतिष्ठावेद —वेदत्रयात्मकः
ऋग्वेद २ ऋगग्नि

३ { आत्मा — १ — ज्ञानज्योतिर्वेद → ऋग्वेद; भूतानि — २ — भूतज्योतिर्वेद → यजुर्वेद; नामरूपे ३ — सत्यज्योतिर्वेद → सामवेद } ज्योतिर्वेद —वेदत्रयात्मकः
सामवेद ३ सामाग्नि

पात्र-प्रतिष्ठा-ज्योति तीनों मिलकर एक वेद है। तीनों का समुच्चित रूप ही हमें उपलब्ध होता है। प्रत्येक वस्तु की हमें अस्तिरूप से उपलब्धि होती है। अस्ति सत्तामात्र है यही प्रतिष्ठावेद है। वस्तु है-यह हम जानते हैं। यह ज्ञानज्योति ही चेतना है। चेतना ही ज्योतिर्वेद है। जो वस्तु है, जिस का हमें ज्ञान होता है, ज्ञानसत्ता का प्रतिष्ठाभूत वही तीसरा वस्तुतत्त्व 'रस' है। यही प्रिय है, यही आनन्द है, यही आत्मा है, यही आत्मवेद है। अस्ति-भाति-प्रिय की समष्टि ही वस्तूपलब्धि है। यही त्रयीवेद है। संसार का प्रत्येक पदार्थ वेद है, अनन्त व्यक्तियें हैं अनन्त वेद हैं। समष्टिरूप से एक ही वेद है। उपलब्धिरूप यह 'सच्चिदानन्दात्मकवेद' नामरूपकर्मात्मक भौतिक पदार्थ के आधार से ही प्रतीति का कारण बनता है। यदि अस्तिमत् पदार्थ में से नामरूपात्मक मूलभाग को हटादिया जाता है तो स्वस्वरूप से निराकार रहता हुआ वेद तिरोहित हो जाता है। उपलब्धिरूप वेद को आप जब भी देखेंगे, भूत के आधार पर ही देखेंगे। त्रयीवेद के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला नामरूपकर्मप्रपञ्च सर्वथा असद् रहता हुआ भी उस वेद अस्ति से अस्तिवत् प्रतीत होने लगता है। संसार में आप जो कुछ 'अस्ति' 'अस्ति' कर के देख रहे हैं, विश्वास कीजिए वह सब त्रयीगर्भित वेद ही है। यही अस्ति अमृत है, जो अमृत है वही है। साथ ही में नामरूपकर्मात्मक मर्त्यभाग भी यही है। क्योंकि मनप्राणवाङ्मय अस्तिभाग ही तो नामरूपकर्म का प्रभव है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

> "स त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपश्यत्। एतद् वा अस्ति।
> एतद्धि-अमृतम्। यद्धयमृतं तद्ध्यस्ति। एतदु तत्-यन्मर्त्यम्।
> त्रय्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतानि- प्रतिष्ठितानि।"
> (शत० १०।४।१।२।) इति।

वेदतत्त्व को प्राजापत्य कहा जाता है। ब्रह्मप्रजापति से उद्भूत वेद वास्तव में प्राजापत्य है। पुरुष (मनुष्य) प्रजापति से उत्पन्न केशलोमादि जैसे पुरुष को चारों ओर से वेष्टित कर

लेते हैं, एवमेव प्रजापति से उत्पन्न प्राजापत्यवेद प्रजापति को केन्द्र बनाकर इस के चारों ओर व्याप्त हो जाता है । सम्पूर्ण विश्व इस प्राजापत्यवेद से आप्यायित रहता है । इसी प्राजापत्य-वेद का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

१—"प्रजापतिरिदं ब्रह्म वेदानां ससृजे रसम् ।
तेनाहं विश्वमाप्यासं सर्वान् कामान् दुहां महत् ॥ (ऐ ब्रा ·····)"
२—'महाव्रतं कर्म वा निष्केवल्य शस्त्रं वा सद्यमे,
तेन सर्वफलमाप्नुयाम, सर्वांश्च कामान् सम्पादयेयम ।'
३—'प्राजापत्यो वै वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।७) ।
४—"प्रजापतेर्वा एतानि श्मश्रूणि यद् वेदः" (तै० ब्रा० ३।३।६) ।

उक्त ब्रह्मप्रजापति अपनी वेदविभूति के कारण वेदि, वेद, यज्ञ, प्रजापति, भेद से पञ्चसंस्थ बन जाता है । उदाहरण के लिए पार्थिवप्रजापति की संस्थाओं का विचार करिए । पृथिवीस्वरूपसमर्पक सप्तपुरुषपुरुषात्मक अग्नि प्रजापति है, जैसा कि विश्वनिरुक्ति में बत लाया जा चुका है । भूपिण्ड निर्माण की इच्छा रखने वाले इस अग्निप्रजापति की सब से पहिले 'पुष्करपर्ण' पर दृष्टि जाती है । पुष्करपर्ण इस की पहिली प्रतिष्ठा बनती है । पार्थिवप्रजापति (ब्रह्मा) पुष्करपर्ण पर प्रतिष्ठित होकर ही पार्थिवसृष्टि निर्माण में समर्थ होता है अतएव पार्थिव ब्रह्मा को 'पद्मभूः कमलोद्भवः' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । इसी आ धार पर पद्मपुराणादि में भूपिण्ड को चतुर्दलकमल माना गया है । पानी में वृत्ताकारात्मक सूक्ष्मातिसूक्ष्म हरितवर्ण की जो 'काई' है, जो कि कई आगे जाकर शैवाल रूप में परिणत होजाती है वही 'पुष्करपर्ण' है । पुष्करपर्ण का शब्दार्थ है—पानी का पत्ता । आरम्भ में

• ब्रह्मा की प्रतिष्ठाभूत पद्म का क्या स्वरूप है ? पापपुञ्जकोश के आदि प्रवर्तक कौन थे ? इत्यादि विषयों के आध्यात्मिक आधिदैविक आधिभौतिक रहस्यों को जानने के लिए शतपथ विज्ञान भाष्य देखना चाहिए ।

पानी के ऊपर पानी से ही इसका निर्माण होता है । पानी प्रतिष्ठाशून्य है, अमृत है । आप इसमें जो भी डालेंगे विलीन होजायगा । सब से पहिली प्रतिष्ठा यही पुष्करपर्ण है । अमृत पानी का पहिला सत्यरूप पुष्करपर्ण है । सशरीर–सहृदय भाव को ही विज्ञानभाषा में सत्य कहा जाता है । अबतक पानी में हृदयभाव न था । परन्तु पुष्करपर्णरूप दो कुम्भवाली कर्ई में पिण्डभाव का उदय होजानें से हृदयभाव प्रकट होजाता है । 'प्रजापतिश्चरति गर्भे' के अनुसार प्रजापति हृदय में प्रतिष्ठित होकर ही सृष्टिनिर्माण में समर्थ होता है । इस प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठाभूमि यही पुष्करपर्ण है । पुरभाव में हृदय है, हृदय प्रजापति की प्रतिष्ठा है । उक्त पर्ण पुरभाव का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ ही 'पुरकरत्वात्' पुष्करपर्ण नाम से व्यवहृत होता है । इसमें प्रतिष्ठित प्रजापति (हृदयशक्ति–केन्द्रबल) ही पार्थिवसृष्टि का कारण बनता है । अभी मृद्भाव का उदय नहीं हुआ है । पुष्करपर्ण में अभी पानी ही प्रधान है । पानी ही घनताभाव में आकर सकेन्द्र बन गया है । इसी आधार पर–'आपो वै पुष्करपर्णम्' (शत० ६।४।२।२) यह कहा जाता है। आपोमय पुष्करपर्ण की प्रतिष्ठा आपोमय पारमेष्ठ्य विष्णु है । विष्णुकी नाभि में पुष्करपर्ण प्रतिष्ठित है पुष्करपर्ण पर ब्रह्मा प्रतिष्ठित है , यहीं पर सब कुछ प्रतिष्ठित है। सब की प्रतिष्ठा होनें से जहां ब्रह्मा को प्रतिष्ठा कहा जाता है, वहां इसकी भी प्रतिष्ठा होनें से आपोमय विष्णु को प्रतिष्ठा की भी प्रतिष्ठा कहा जाता है । विष्णु की नाभि से पुष्करपर्ण निकला है । उसी पर मात्रा–आप–वाक्–प्रभाभावरूप चतुर्मुख ब्रह्मा प्रतिष्ठित हैं । यह आपोमय पानी स्थूल पानी नहीं है, अपि तु अम्भ नाम का वायुमय पानी है । इसी में सप्तरसात्मक दुग्ध का उदय होता है, अतएव इसे क्षीरसमुद्र कहा जाता है।प्रतिसञ्चरक्रम में वायु शेष रहजाता है वायु गतिशील है, सर्पणशील है । इसी शेष पर विष्णु प्रतिष्ठित हैं । यह वायुमय पानी जिस ऋषि (प्राण) से उत्पन्न होता है वह 'नारद' नाम से प्रसिद्ध है। यथावाक् जैसे अनुष्टुप् है, स्वरवाक् जैसे बृहती है एवमेव ध्वनिवाक् सरस्वती नाम से प्रसिद्ध है । जैसे पार्थिवसमुद्र 'अर्णव' कहलाता है, स्वायम्भुवसमुद्र नभस्वान् कहलाता है, एवमेव पारमेष्ठ्य वैष्णव समुद्र 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है । इसी में ध्वनिप्रव

विक्रम सरस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी ध्वनिवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाग्-रूपी सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी ध्वनिवाक् स्वप्रभव उसी नारदऋषि (प्राण) पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभाषा में प्रकट करते हुए पुराण में कहा है—

"क्षीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुभगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि में से कमल निकल रहा है। कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान हैं। यह चारों वेदों से सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मस्तक की ओर नारद खड़े हुए हैं उनके हाथ में वीणा है ··· ··· "

प्रकृत में उक्त निदर्शन से हमें यही बतलाना है कि सत्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि) के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही प्रजापति की, किंवा सारे पार्थिव विश्व की पहिली प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

यत् पयपश्यत् सरिरस्य मध्ये—पर्णमपश्यञ्जगत मविष्ठाम।
तत् पुष्करस्यायतनाद्धि जातं पर्णं पृथिव्यायतनं इरामि॥
(तै॰ ब्रा॰ १।२।१) इति।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर रुद्रवायु की रूक्षता पानी की स्निग्धता के परस्पर के संसृष्टि सम्बन्ध से उत्तरोत्तर घनभाव में परिणत होता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत हो जाता है। प्रजापति के वेद से पानी पैदा हुआ पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, यही घनावस्था में आकर भूपिण्ड बनगया। इस भूपिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गये। यही पृथिवी वेदमूर्त्ति प्रजापति के सम्बन्ध से 'वेदि' नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप यही त्रयी-वेद प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि साक्षात् वेद है। अग्निमय यह वेद सत्यमूर्त्ति है। इस सत्या-ग्निवेदरूप उक्थ प्रजापति के अर्कतत्त्व प्राणदेवताओं के द्वारा (इसी वेदि पर) यज्ञ होता है। सोमाहुति होने से यही अग्निवेद २१ स्तोम पर्यन्त वितत हो जाता है। पार्थिव पिण्डाग्नि अग्न्याधान है त्रिवृत्स्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था अग्निहोत्र है पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसंस्था

र्शपूर्णमास है सप्तदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसस्था चातुर्मास्य एव पशुबन्ध है, एव यही ज्योतिष्टोम है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न यज्ञसस्था अग्नियज्ञ किंवा चयनयज्ञ है। इस प्रकार स्तोमभेद से पार्थिव यज्ञसस्था उक्त विभागों में परिणत हो जाती है। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से यह प्राजापत्य वेद एकविंशस्तोमपर्यन्त व्याप्त हो जाता है। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निमय ऋग्वेद है, पञ्चदशस्तोम तक वायुमय यजुर्वेद है एकविंश तक आदित्यमय सामवेद है। यही मूलवेद का वितान है। इसी वितान सम्बन्ध से उक्त पार्थिव यज्ञसस्था वितानयज्ञ आतानयज्ञ आदि नामों से प्रसिद्ध है।

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ–ऋग्–यजुः–सामलक्षणम् ॥ (मनु १।२३)

इत्यादि मानवसिद्धान्त इसी पार्थिव यज्ञमात्रिक मामापरावेद का स्पष्टीकरण करता है। इस वेदतत्त्व की प्रतिष्ठा पिण्डपृथिवी, एव अमृता पृथिवी है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार त्रिस्ताग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाजिन' कहलाता है, एव चितेनिधेयाग्निमयी महापृथिवी पुष्करपर्ण नाम से प्रसिद्ध है। (देखिए शत० ६।४।१।९)। पिण्डपृथिवी में छन्दोवेद प्रतिष्ठित है, तद् सम्बन्धी पार्थिवयज्ञ– आतानयज्ञ' नाम से प्रसिद्ध है। भूपिण्ड वेदि है महापृथिवी महावेदि है। प्रजापति केन्द्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह अनुपद में ही बतलाया जाचुका है। हृदयस्थित ह–द–यम्–रूप अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मा–विष्णु–इन्द्र का नाम ही प्रजापति है। अग्नि–सोमाधार वेद हैं। यह अग्नि सोम उस हृदयप्रजापति से अभिन्न हैं। इन्द्र ही ब्रह्मगर्भित होकर अग्नि बनता है, विष्णु ही ब्रह्मगर्भित होकर सोम कहलाने लगता है। अतएव अन्तर्यामी हृदय प्रजापति के अवयवभूत विश्वस्वरूपसम्पादक अग्नीषोमात्मक वेद को हम अवश्य ही प्रजापति के 'श्मश्रु' कहने के लिए तय्यार हैं। हृदयभाव का नाम ही सत्य है। इस सत्य अन्तर्यामी का विवर्तभूत वेद भी अवश्यमेव सत्य है। प्रजापति सत्य, इसका वेद सत्य, वेदमय विश्व सत्य–'सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्'। यही सत्यवेद पञ्चद्वारा महावेदि के आधार पर २१ तक व्याप्त होता है। इस प्रकार यह सत्यप्रजापति सत्य (वेद) के द्वारा पानी

विश्व सारस्वतीवाक् प्रतिष्ठित है। स्वर-वर्ण दोनों इसी स्वनिवाक् पर प्रतिष्ठित हैं। यही वाग्-रूपी सृष्टि की मूलप्रवर्तिका है। यह आपोमयी स्वनिवाक् स्वयमेव उसी नारदऋषि (प्राण) पर प्रतिष्ठित है। इसी महासृष्टि विज्ञान को प्रसादभाषा में प्रकट करते हुए पुराण ने कहा है—

> "क्षीरसमुद्र में शेष शय्या पर विष्णुभगवान् सो रहे हैं। उन की नाभि में से कमल निकल रहा है। कमल पर चतुर्मुख ब्रह्मा विराजमान हैं। वह चारों वेदों से सृष्टिनिर्माण कर रहे हैं। विष्णुभगवान् के मस्तक की ओर नारद खड़े हुए हैं उनके हाथ में वीणा है ——— ——— "

प्रकृत में उक्त विज्ञान से हमें यही बतलाना है कि सत्यपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति (अग्नि) के व्यापार से सर्वप्रथम पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही प्रजापति की चिति मारे पार्थिव विश्व की पद्मिनी प्रतिष्ठा बना। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

> यत् पर्यपश्यत् सरिरस्य मध्ये—उर्वीमपश्यज्जगतः प्रतिष्ठाम्।
> तत् पुष्करस्यायतनादि जातं पर्णं पृथिव्यायतनं इहापि॥
> (तै० आ० १।२।१) इति।

यही पुष्करपर्ण आगे जाकर वायु की स्थिरता पानी की स्निग्धता के परस्पर के संसृष्टि सम्बन्ध से उत्तरोत्तर घनभाव में परिणत होता हुआ भूपिण्डरूप में परिणत हो जाता है। प्रजापति के वेद से पानी पैदा हुआ पानी से पुष्करपर्ण उत्पन्न हुआ, वही घनावस्था में आकर भूपिण्ड बन गया। इस भूपिण्ड के केन्द्र में प्रजापति प्रतिष्ठित हो गए। यही पृथिवी सम्पूर्ण प्रजापति के सम्बन्ध से वेदि नाम से प्रसिद्ध हुई। इस वेदि पर अग्निरूप यही अग्नि प्रतिष्ठित हुआ। पार्थिव अग्नि साक्षात् वेद है। अग्निमय यह वेद सम्पूर्ण है। इस सम्पूर्ण उक्त प्रजापति के अवयव प्राणदेवताओं के द्वारा (इसी वेदि पर) यज्ञ होता है। स्तोमपूर्ति होने से यही अग्नि २१ स्तोम पर्यन्त वितत हो जाता है। पार्थिव चिदग्नि सम्पूर्णाधार है। त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशैकविंश स्तोम अग्निस्तोम है पञ्चदशस्तोमावच्छिन्न यज्ञरूपा

परात्परभावमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेद, न स वेद। जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतत्त्व नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वेदि और यज्ञरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्वसित वेदप्रजापति के काम—तप—श्रम से भृग्वङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अप्तत्त्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव से त्रयीवेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मूलवेद का ऋक् भाग छन्दोवेद है, इससे मूर्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। सामभाग वितानवेद है इससे महिमामात्र की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एवं यजु भाग रसवेद है, यही गतिमात्र का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आवृत्तिरूप ब्रह्म वेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौलिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत ।
सर्वं तेजः सामरूप्य ह शश्वत सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
(तै० ब्रा ३।१२।८।१-२)।

ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः ।
सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥
(तै० ३।१२।९।१)।

मनःप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव के कारण उक्त तीनों वेद ऋग्—यजुः—साम भेदसे तीन तीन भागों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अतः प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

उत्पन्न करता हुआ पृथिवीरूप वेदि को उत्पन्न कर यज्ञसंपत्ति से युक्त होता हुआ- वेदि-वेद यज्ञ-प्रजापति भेद से चतुष्कल बनजाता है। इसी वेद रहस्य को प्रकट करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामनें आते हैं।

१—"एष प्रजापतिर्यद् हृदयम्, एतद् ब्रह्म, एतत् सर्वम्।
तदेतत् त्र्यक्षरं-हृ द-यमिति। तद्धै तदेतदेव तदास सत्यमेव" (श० १४।८।४)

२— 'ते देवा सर्वे समसपदन्। तस्मात् तत सर्वा त्रयी सा विद्या।
ते देवा अब्रुवन्-यज्ञं वै कृत्वा सत तनवामहै" (श० २।५।१)

३—"त्वया (वेदेन) वेदिं विविदुः पृथिवीं त्वया यज्ञो जायते विश्वदानिः।
अच्छिद्र यज्ञमन्वेपि विद्वान् त्वया होता सतनोसर्द्दमासान् ॥"(तै०ब्रा०३।७।४)

४-"अयं वेदः पृथिवीमन्वविन्दन् गुहासतीं गहने गह्वरेषु।
स विन्दतु यजमानाय लोकमच्छिद्रं यज्ञं भूरिकर्मा करोतु ॥'
(तै ब्रा ३।७।६।)

५-"वेदेन वै देवा असुराणां वित्त वेद्यमविन्दत।
तद् वेदस्य वेदत्वम्, भूमिरेव वेदिः। सा वा इय सर्वैव वेदिः"
इत्यादि------- ।

यथा-एव वेदिः' इस वाक्य के सम्बन्ध से सर्वभूतप्रपञ्च अभिप्रेत है। इसकी प्राप्ति उसी त्रयीविद्या के उदर में हुई है। तभी तो पूर्वोक्त-सत्यां वाव विद्यायां सर्वाणि भूतान्यपागन् यह कथन चरितार्थ होता है। यह प्रजापति वेदि-वेद-यज्ञ-इन तीन कलाओं से चतुष्कल बनता हुआ इस महाभुवन के केन्द्र में पृ थ -द्यौ रूप तीनों भुवनों का शास्ता बनता हुआ अन्तर्यामी नाम से प्रसिद्ध होरहा है। यह अन्तर्यामी जिस नियति सूत्रम

चराचरभावमय विश्व का शासन कर रहा है, उसका वही नियतिसूत्र, विज्ञानदण्ड वेद पदार्थ है। इस वेदसीमा के बाहर कुछ भी नहीं है। जिसका वेद नहीं वह भी—न स वेद:, न स वेद। जो सब कुछ जानता हुआ भी वेदतत्त्व नहीं जानता, वह भी—न स वेद, न स वेद। इसी वेद से वर्द्ध और यज्ञरूप विश्व का निर्माण हुआ है। विश्वनिर्माण के लिए इसे सर्व प्रथम पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। स्वायम्भुव ब्रह्मनिश्वसित वेदप्रजापति के काम—तप—श्रम से भृग्वंगिरा नाम से प्रसिद्ध अथर्वा नाम का अप्तत्त्व उत्पन्न होता है। इसी मिथुनभाव से अथर्ववेद सृष्टि करने में समर्थ होता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

उक्त मूलवेद का ऋक् भाग छन्दोवेद है, इससे मूर्त्ति का (पिण्ड का) निर्माण होता है। साममाग वितानवेद है इससे महिमाभाव की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। एवं यजु माग रसवेद है, यही गतिभाव का अधिष्ठाता है। इन तीनों वेदों की मूलप्रतिष्ठा आहुतिरूप ब्रह्म वेद (अथर्ववेद) है। इन्हीं चारों मौलिक वेदोंका निरूपण करते हुए महर्षि तित्तिरि कहते हैं—

> ऋग्भ्यो जातां सवशो मूर्त्तिमाहुः सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत् ।
> सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत् सर्वं हेदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
> (तै० ब्रा ३।१२।९।१-२)।

> ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः ।
> सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः ॥
> (तै० ३।१२।९।१)।

मनप्राणवाक् के त्रिवृद्भाव के कारण उक्त तीनों वेद ऋग्—यजु —साम भेदसे तीन तीन मार्गों में विभक्त हैं। इन सबका विशद निरूपण उपनिषद्भाष्यभूमिका में किया जाचुका है, अत प्रकृत में इनके नाममात्र का दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

१—छन्दोवेद —मूर्ति ······ उक्थम् → → —— ऋग्वेदः
२—रसवेद —मप्यस्यो मायुमयोऽग्नि ब्रह्म → → —— यजुर्वेदः
३—वितानवेद —महिममण्डलम् ······ साम → → —— सामवेद

} मूलवेद १

१—छन्दोवेद —(ऋक्)

१ १—विष्कम्भ —ऋग्वेद
२—परिणाहः—सामवेद
३—हृदयम्—यजुर्वेद

} सदित्थ ऋङ्मये छन्दोवेदे वेदत्रयोपभोग

२—वितानवेद — साम)

२ १—पूर्वपूर्वमण्डलम् ······ ऋग्वेद
२—उत्तर—उत्तरमण्डलम् ······ सामवेद
३—ऋजु (अकुटिला) रेखा ······ यजुर्वेद

} सदित्थ साममये वितानवेदे वेदत्रयोपभोग

३—रसवेद —(यजु)

३ १—उत्तरोत्तरं हसीयमन्तो विष्कम्भा —ऋग्वेद
२—उत्तरोत्तर वृद्धिमन्ति मण्डलानि—सामवेद
३—तयोरन्तराले प्रतिष्ठितानि वाक्—यजुर्वेद प्राणमयानि

} सदित्थ यजुर्मये रसवेदे वेदत्रयोपभोग

इति—त्रयीवेदनिरुक्ति

* इस विषयका संक्षिप्त विवेचन कल्याण मासिक पत्र के वेदान्त—अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में किया गया है।

मन्त्रार्थसम्बन्धिनी–अथर्ववेदनिरुक्ति



वेदत्रयी का निरूपण समाप्त हुआ। अब क्रमप्राप्त चौथे अथर्ववेद का स्वरूप बतलाया जाता है। पूर्व के वेदत्रयी प्रकरण से यह मान लेना पड़ता है कि केवल वेदतत्त्व (वेदत्रयीरूप केवल अग्नि) सृष्टि करने में असमर्थ है। सृष्टि अग्नि–सोम के समन्वय पर निर्भर है। कारण सृष्टि संसृष्टिभाव से सम्बन्ध रखती है। एवं संसृष्टि परस्पर में विजातीय योषा वृषाभाव पर निर्भर है। योषा रयि नाम से, वृषा प्राण नाम से प्रसिद्ध है। इधर ऋक्सामरूप वयोनाध से सीमित वयरूप यजुर्वेद प्राणात्मक बनता हुआ केवल 'वृषा' रूप है, अग्निमय है। आग्नेय-प्राणप्रधान (ब्रह्माग्निरूप ऋषिप्राणप्रधान) यह वृषावेद सर्वथा असंग है। ऐसी अवस्था में इस असंग वेदप्रजापति से तब तक सृष्टि नहीं होसकती, जब तक कि 'योषा' नामक संसग अमृतत्त्व (रयि) उत्पन्न नहीं होजाता। अतएव सृष्टिकामुक त्रयीमय उस ब्रह्मप्रजापति को सब से पहिले पानी ही उत्पन्न करना पड़ता है। सृष्टिकामना से प्राण क्षुब्ध होजाता है। प्रत्येक कामना फलसिद्धि पर्यन्त प्राणक्षोभ का कारण बनी रहती है यह सर्वानुभूत विषय है। यही क्षुब्ध प्राणाग्नि संघर्ष के कारण अप्रूप में परिणत होजाता है। इस का यह अर्थ नहीं है कि अपुत्पत्ति के अनन्तर प्राणाग्नि रहा ही नहीं। यह कार्यकारणभाव ऊर्णातन्तु (मकड़ी का जाला) के समान है। मकड़ी अपने एक प्रदेश से जाल बनाती है। वही (आंशिकरूप से) जाल बनती है, परन्तु उस का स्वरूप ज्यों का त्यों बना रहता है, जैसा कि स्वरूप जालोत्पत्ति से पहिले था। इसी को "अभिन्नसत्ताक कार्यकारणभाव" कहा जाता है। यही अवस्था यहां है। वेदप्राण का जो भाग क्षुब्ध हो जाता है, वह पानी बन जाता है, शेष भाग ज्यों का त्यों स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इस प्रकार अशनाया के प्रभाव से क्षोभ द्वारा सर्वप्रथम पानी उत्पन्न होता है। एक ही प्रजापति प्राण–आप भेद से दो भागों में विभक्त हो जाता है। प्राणभाग वृषा है, पुरुष है, पति है। अप्भाग योषा है, स्त्री है, पत्नी है। इसी दम्पती

१—छन्दोवेद—मूर्त्ति ………… उक्थम् → → ऋग्वेदः	मूलवेद	१
२—रसवेद—मध्यस्यो यजुर्मयोऽग्नि—ब्रह्म → → यजुर्वेदः		
३—वितानवेद—महिममण्डलम् ………… साम → → सामवेद		

१—छन्दोवेद—(ऋक्)

	१—विष्कम्भ—ऋग्वेद	
१	२—परिणाह—सामवेद	तदिदं ऋङ्मये छन्दोवेदे वेदत्रयोपभोग
	३—हृदयम्—यजुर्वेद	

२—वितानवेद—(साम)

	१—पूर्वपूर्वमण्डलम् ………… ऋग्वेद	
२	२—उत्तर—उत्तरमण्डलम् ………… सामवेद	तदिदं साममये वितानवेदे वेदत्रयोपभोग
	३—मध्य (अकुञ्चित) रेखा ………… यजुर्वेद	

३—रसवेद—(यजु)

	१—उत्तरोत्तर हसीमवन्तो विष्कम्भा—ऋग्वेद	
२	२—उत्तरोत्तर वृद्धिमन्ति मण्डलानि—सामवेद	तदिदं यजुर्मये रसवेदे वेदत्रयोपभोग
	३—तयोरन्तराले प्रतिष्ठितानि वाक्—यजुर्वेद प्राणमनांसि	

इति—त्रयीवेदनिरुक्ति

● इस विषय का संक्षिप्त विवेचन ……… मासिक पत्र के वेदान्त—अङ्क में वेद का स्वरूप विचार नाम के लेख में निकल चुका है।

पुरुष' आदित्यस्थ पर मा' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है। ऋक् साम इस यज्ञपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी त्रयीविद्या का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

यदेतन्मण्डलं तपति—तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः।
अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम्। तानि सामानि, स साम्नां लोकः।
अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि। स यजुषां लोकः।
सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत १०।५।२।१–२)।

ऋक्साम वयोनाध है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (व्यास) ऋक् है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिणाह) साम है। व्यास को त्रिगुणित करदेने से वस्तु का घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से तिगुना होता है, इसी आधार पर साम का 'त्रिवृत्साम' (तीन ऋक् का एक साम—तीन व्यासों का एक परिणाह) यह लक्षण किया जाता है। इस व्यास और परिणाह से वेष्टित वस्तुतत्त्व यजु है। जिस प्रकार उत्पर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यजु (वस्तुतत्त्व) ऋक्साम रूप व्यास और परिणाह में अन्तर्भुक्त रहता है। इस युक्तिभाव को लक्ष्य में रखकर ही यजु को वय (अन्न) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जैसा कि प्राचीनों में वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नधर्म की समता के कारण ही यजु को वय कहा जाता है। अपि च जिस प्रकार पञ्जर (पींजरा) में रहने वाला पक्षी पञ्जर से निकल कर आकाश में इधर उधर संचरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पञ्जर में प्रतिष्ठित रहने वाला गतिमूर्ति यजु वितानभाव से समहिमामण्डल में विचरण किया करता है, इस पक्षिसरूप साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहागया है। इस वय को बन्धन में रखने वाले सीमित रखने वाले आप्तस्वरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाध' (वय का बन्धन करने वाला) कहा जाता है। वयोनाध और वय की समष्टि 'वयुन' नाम से व्यवहृत होती है। प्रत्येक पदार्थ वयुन

के मिथुनभाव से प्रजा उत्पन्न होती है। प्रजापति की इस इच्छा का— "एकाकी न रमते, तद्द्वितीयमैच्छत्—पतिश्च पत्नी च" इत्यादि रूप से अभिनय किया जाता है। इसी सृष्टि विज्ञान को हृदय में रखकर भगवान् मनु कहते हैं—

यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम्।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥१॥ (मनु १।११)
यदाविशन्ति भूतानि महान्ति सह कर्मभिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वभूतकृदव्ययम् ॥२॥ (मनु १।१८)
तेषामिदं तु सप्तानां पुरुषाणां महौजसाम्।
सूक्ष्माभ्यो मूर्तिमात्राभ्यः सम्भवत्यव्ययाद्व्ययम् ॥३॥ (मनु १।१९)
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥४॥ (मनु १।२१)
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥५॥ (मनु १।८)
द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्।
अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः ॥६॥ (मनु १।३२)

उक्त मानव विज्ञान के अनुसार योषावृषा के मिथुन से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होता होता है दूसरे शब्दों में वह स्वयं ही इस मिथुनभाव से विराट्रूप बन जाता है। इस विराट् का स्वरूप आगे चलकर स्पष्ट होगा, पहिले अव्ययात्म का विचार करिए।

मूलवेद के ऋक्—साम—यजु यह तीन विवर्त बतलाए हैं। इन तीनों को क्रमशः महदुक्थ—महाव्रत—पुरुष इन नामों से व्यवहृत किया जाता है। उदाहरण के लिए सूर्यपिण्ड (मूर्ति—गोला) महदुक्थ है, सौरप्रकाशमण्डल (रश्मिमण्डल) महाव्रत है सूर्यकेन्द्र में रहने वाला स्थिति-गर्भित गतिरूप प्राणाग्नि पुरुष है। इसी को 'हिरण्यगर्भप्रजापति' 'हिरण्मयपुरुष' 'चाक्षुष-

पुरुष' 'आदित्य न्य पर मा ' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है, यही मौलिकतत्त्व है। ऋक् साम इस वस्तुपुरुष की प्रतिष्ठा है। इसी त्रयीविद्या का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> यदेतन्मण्डलं तपति–तन्महदुक्थम्, ता ऋचः, स ऋचां लोकः ।
> अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि, स साम्नां लोकः ।
> अथ य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः ।
> सैषा त्रय्येव विद्या तपति" (शत १०।५।२।१–२) ।

ऋक्साम वयोनाध है, यजु वय है। वस्तुपिण्ड का विष्कम्भ (व्यास) ऋक् है। वस्तु के चारों ओर का घेरा (परिणाह) साम है। व्यास को त्रिगुणित करदेने से वस्तु का घेरा बन जाता है। दूसरे शब्दों में वस्तुपिण्ड का घेरा वस्तुपिण्ड के व्यास से तिगुना होता है, इसी आधार पर साम का ' त्रिवृं साम ' (तीन ऋच् का एक साम—तीन व्यासों का एक परिणाह) यह लक्षण किया जाता है। इस व्यास और परिणाह से वेष्टित वस्तुतत्त्व यजु है। जिस प्रकार उदर में अन्न प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव यजु (वस्तुतत्त्व) ऋक्साम रूप व्यास और परिणाह में अन्तर्मुक्त रहता है। इस मुक्तिभाव को लक्ष्य में रखकर ही यजु को वय (अन्न) नाम से व्यवहृत कर दिया जाता है। वय शब्द अन्न शब्द का ही पर्याय नहीं है, जैसा कि प्राचीनों ने वय का अर्थ अन्न किया है। अन्नान्न की समता के कारण ही यजु को वय कहा जाता है। अपि च जिस प्रकार पञ्जर (पींजरा) में रहने वाला पक्षी पञ्जर से निकल कर आकाश में इधर उधर संचरण करता रहता है, एवमेव ऋक्सामरूप पञ्जर में प्रतिष्ठित रहने वाला गतिमूर्ति यजु वितानभाव से महिमामण्डल में विचरण किया करता है, इस पक्षिरूप साधर्म्य से भी इसे वय (पक्षी) कहागया है। इस वय को बन्धन में रखने वाले सीमित रखने वाले आयतनरूप ऋक् साम हैं, अतएव इन्हें 'वयोनाध' (वय का बन्धन करने वाला) कहा जाता है। वयोनाध और वय की समष्टि 'वयुन' नाम से व्यवहृत होती है। प्रत्येक वस्तु वयुन

है । यजुन में यत्-जयोभाव ये विभाग हैं यत् यजु है, जयोभाव ऋक्साम है, ऋक्साम यजु में ओतप्रोत रहते हैं । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है–

> "ते यदा स्तुवते यज्ञानुशंसति, अथास्मिन्नेव यजुष्क्रतेन जुहोति । तदेनमेव रसोऽप्येति । न वै महाव्रतमिद् स्तुतं शते, इति पश्यन्ति । नो महदुक्थमिति । अग्निमेव पश्यन्ति । आत्मा ह्यग्निः । तदेनमेतेऽभ्म रसो मुत्सापीत ऋक्च साम च । तदुभे ऋक्सामे यजुरपीतः" (शत०१०।२।१।६।) इति ।

इस से यह सिद्ध होजाता है कि केवल आयतनरूप ऋक्साम सृष्टि करने में असमर्थ हैं । ऋक्सामरूप व्यास परिणाह से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती । व्यास मध्यरेखा है, परिणाह चारों ओर की रेखा है । यही रेखात्मक किंवा क्षेत्रात्मक एक पुर (सीमाभाव) है । इस पुर में प्रतिष्ठित यजुरग्नि 'पुरि शेते' के अनुसार पुरुष है, यही महिमत्ता है । यजुसक ऋक् साम सहकारी मात्र हैं । ऋक्सामरूप छन्द से छन्दित यजुपुरुष 'द्विभाव' है । यत्-और जू दो भागों की समष्टि यजु है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा । यत् भाग वायु (प्राण) है, जू भाग वाक् (आकाश) है । इस यत्रूप प्राणवायु के व्यापार से जूरूप मर्त्यवाक् भाग ही क्षुब्ध हो कर अप्रूप में परिणत होता है, जैसा कि 'सोऽपोऽसृजत वाच एव लोकात् । वागेव साऽसृज्यत' (शत ६।१।१।७।) इत्यादि श्रुतियों से स्पष्ट है । वागग्नि क्षुब्ध होकर पानी बन जाता है इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि यदि क्रोध से अथवा वेगश्रम से शरीरप्राणाग्नि क्षुब्ध हो जाता है तो उसी समय पसीने निकल पड़ते हैं ।

शरीर में अबुत्पत्ति तीन प्रकार से होती है । परिश्रम करने से पानी उत्पन्न होजाता है । शोक से पानी उत्पन्न होता है, एवं प्रेम से पानी उत्पन्न होता है । परिश्रमजनित पानी 'स्वेद' कहलाता है, शेष दोनों शोकाश्रु प्रेमाश्रु नाम से प्रसिद्ध हैं । इन तीनों पानियों के अतिरिक्त एक चौथा स्वाभाविक पानी निरन्तर रोमकूपों से निकला करता है । मूत्र-मुखलाला-कफ-शिर

थारि में जो भ रहता है वह यहा स्वाभाविक पानी है। इस प्रकार अध्यात्मसंस्था में अयुत्पत्ति की मान जाएए हैं। 'अपोरापः' इस सिद्धान्त के अनुसार यह चारों पानी अग्नि से ही उत्पन्न होते हैं। परन्तु इन चारों के स्वरूप में यहा अन्तर है। कार्यरूप अप् के अन्तर से मानना पड़ता है कि इन के कारणाग्नि में भी अवश्य ही अन्तर होगा। प्रसङ्गोपात्त यह अन्तर जान लेना भी अनुचित न होगा।

अग्नितत्त्व सत्य और यज्ञ भेद से दो भागों में विभक्त है। सत्याग्नि मौलिक अग्नि है, यज्ञाग्नि यौगिक अग्नि है। विशुद्धावस्था सत्याग्नि है, मिश्रावस्था यज्ञाग्नि है। सत्याग्नि अमृतप्रधान है, यज्ञाग्नि मृत्युप्रधान है। याज्ञिक परिभाषा के अनुसार सत्याग्नि चितेनिधेयाग्नि है, यज्ञाग्नि चित्याग्नि है। 'ब्रह्म ह वै श्रग्रमना सर्वमासीत् स्वयम्भूरेव' यह प्रसिद्ध है। मौलिक अग्नि ब्रह्म (Physics) है, मिश्राग्नि यज्ञ (Chemistry) है। ब्रह्म ही यज्ञ की प्रतिष्ठा है—'ब्रह्म ह वै सर्वस्य प्रतिष्ठा'। सुप्रसिद्ध यजुरग्नि (वेदाग्नि) ही सत्याग्नि है। 'यज्ञ कृत्वा सत्य तनवामहै' के अनुसार इस वेदाग्नि के आधार पर ही यज्ञाग्नि का वितान होता है। इस वेदाग्नि की आगे जाकर तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। स्वयम्भू इस की प्रथम विकासभूमि है, सूर्य दूसरी विकासभूमि है भूपिण्ड तीसरी विकासभूमि है। एक ही सत्याग्नि तीन स्थानों में प्रतिष्ठित होकर भिन्न भिन्न नाम रूपों में परिणत हो रहा है। इन्हीं तीन विवर्तों के कारण सत्य का 'त्रिसत्य' कहलाता है। स्वयम्भू में प्रतिष्ठित वेदाग्नि ब्रह्मा (?) के सम्बन्ध से ब्रह्माग्नि कहलाता है, सूर्य में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि सौर प्राणरूप देवताओं के सम्बन्ध से 'देवाग्नि' नाम से एवं भूपिण्ड में प्रतिष्ठित यही सत्याग्नि भूत सम्बन्ध से 'भूताग्नि' कहलाता है। प्रकृत्य पेक्षया स्वयम्भू प्राणमय है, अतएव ब्रह्माग्नि को 'प्राणाग्नि' कहा जाता है। यही मूल प्रकृति है, अतएव इसे 'प्राकृताग्नि' भी कहा जाता है। सूर्य वाङ्मय है, अतएव देवाग्नि को 'वागग्नि' कहा जाता है। वैभयत की प्रवृत्ति इसी से होती है, अतएव इसे याज्ञिक परिभाषानुसार 'वैश्वाग्नि' भी कहा जाता है। भूपिण्ड अन्नादमय है, अतएव भूताग्नि को 'अन्नादाग्नि' कहा जाता है। भूपिण्ड में ही पञ्चपशुप्राणों का विकास होता है, अतएव पशुसम्बन्ध से इसे

'पारावताग्नि' भी कहा जाता है। स्वायम्भुव अग्नि ब्रह्मनिःश्वसित वेद है, सौर अग्नि गायत्री-मात्रिक वेद है पार्थिव अग्नि सप्तवेद किंवा यज्ञमात्रिकवेद है। इस प्रकार एक ही वेदाग्नि किंवा सत्याग्नि तीन भागों में विभक्त हो रहा है। दूसरा है यज्ञाग्नि। इस का विकास अन्नादाग्नि नाम के पार्थिव सत्याग्नि से होता है। पार्थिव सत्याग्नि त्रय विभक्त होकर अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन अवस्थाओं में परिणत हो जाता है। अन्नादाग्नि अपान प्रधान है अन्नादवायु व्यान-प्रधान है, अन्नाद आदित्य प्राणप्रधान है। मध्यस्थ व्यानाग्नि के आधार पर अपान-प्राणाग्नि का घर्षण होता है। यह घर्षण तीनों का यजन है यही यज्ञ है। इस से वैश्वानर नाम के यज्ञाग्नि का प्रादुर्भाव होता है। अन्नादाग्नि को हमने पार्थिव बतलाया है। इस की मूल और तूल भेद से दो अवस्थाएं हैं। मूल अन्नादाग्नि भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित होता हुआ प्रजापति नाम से प्रसिद्ध है। इस अग्निरस का ऊर्ध्व गमन होता है। यही अग्निरस किंवा सत्याग्नि पृथिवी के २१ स्तोम तक व्याप्त होकर घन-तरल-विरल इन तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ अग्नि-वायु-आदित्य कहलाने लगता है। त्रय पृथिवी में स्तोमभेदेन किंवा तीन भेद हैं। इन तीनों के नर (नायक) यही अग्नि-वायु-आदित्य हैं। उक्त यज्ञाग्नि इन तीनों विश्वनरों के घर्षण से उत्पन्न होता है अतः इसे 'वैश्वानर' कहना न्यायप्राप्त है। इस प्रकार एक ही अग्नि की अमृत-मृत्यु भेद से दो अवस्थाएं, अमृताग्नि की तीन अवस्थाओं की अपेक्षा से चार अवस्थाएं हो जाती हैं जैसा कि—"चतुर्धा विहितो ह वा अग्रेऽग्निरास" (शत० १।२। १।१।) इत्यादि से स्पष्ट है।

१—सत्याग्नि (अमृताग्नि)—आत्मा }
२—यज्ञाग्नि (मर्त्याग्नि)—विश्वम् } आत्मन्वी—प्रजापतिः

१—ब्रह्माग्नि—प्राणाग्नि—प्राकृताग्नि → स्वायम्भुवः-ब्रह्मनिःश्वसितवेदः }
२—देवाग्नि—वागग्नि—वैश्वाग्नि → सौरः—गायत्रीमात्रिकवेदः } सत्याग्निः
३—भूताग्नि—अन्नादाग्नि—पारावताग्निः → पार्थिवः—यज्ञमात्रिकवेदः }

४—वैश्वानराग्नि—यज्ञाग्नि—दृष्टाग्नि—विद्याग्नि—विज्ञानवेदः } यज्ञाग्निः

इन चारों अग्नियों के कार्य सर्वथा नियत हैं। विधरण और प्रतिष्ठा यह दो काम स्वाय-म्भुव ब्रह्माग्नि के हैं। परमाणुओं को एक स्थान पर बद्ध रखना विधरण है, पदार्थ को संघ-ठित रखना विधरण है। यह काम प्राणरूप ब्रह्माग्नि का है, अतएव प्राण को विधर्ता कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु में एक प्रकार का ठहराव होता है। पाषाणादि में यह ठहराव अधिक है। जलादि (दूध-दही आदि) में ठहराव कम है। विद्युत् में और भी कम है। पदार्थों में तार तम्य से रहने वाला यह ठहराव ही प्रतिष्ठातत्त्व है। 'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' के अनुसार प्रतिष्ठाधर्म ब्रह्माग्नि का ही है। प्रतिष्ठा और विधरण ब्रह्माग्नि के साक्षात् दर्शन हैं। दूसरा है देवाग्नि। रूप और विकास यह दो धर्म सौर देवाग्नि के हैं। पुष्पकलिका आगे जाकर विक-सित होती है, खिल जाती है, स्वस्थ मनुष्य का चेहरा खिला रहता है। वस्तुमात्र का यह प्रसादभाव ही विकास है, इसका प्रवर्तक इन्द्रप्रधान सौर अग्नि ही है। सारी प्रजा सूर्योदय से विकसित होजाती है। रात्रि के तम से संकुचित पदार्थ सौर प्रकाश से खिल पड़ते हैं। सौर इन्द्रमय अग्नि ही 'रूपं रूपं मघवा बोभवीति' के अनुसार सप्तरूप किं वा अनन्त रूपों (रंगों) का अधिष्ठाता है। अतएव सूर्य को 'पृश्नि' कहा जाता है। रूप और विकास देवाग्नि के साक्षात् धर्म हैं। तीसरा है पार्थिव भूताग्नि। पाक और विलयन इसके स्वाभाविक धर्म हैं। दस प्रकार के सोमों में एक सोम 'वृत्र' नाम से प्रसिद्ध है। इस वृत्र सोम की घन-तरल-विरल-गुण भेद से चार अवस्थाएं हैं। यही चारों अवस्थाएं विज्ञानभाषा में क्रमशः ध्रुव-धर्म-धरुण-धर्म इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इनमें ध्रुवसोम अश्मासोम कहलाता है। पाषाणादि घन पदार्थों की स्वरूपनिष्पत्ति इसी अश्मासोम से होती है। तरलसोम तरलता का प्रवर्तक है। पानी-घृत-आदि में इसी की प्रधानता है। वायु-प्राण- आदि में विरल सोम की प्रधा-नता है। आत्मा में गुणसोम प्रतिष्ठित रहता है। अश्मासोमप्रधान अन्नादाग्नि पदार्थों का परि पाक करता है, तरलसोममय वही अग्नि पदार्थों को पिघला देता है। कर्पूर अग्नि की पाका-वस्था है, पिघला हुआ कर्पूर अग्नि की विलयनावस्था है। अग्नि ही समाप्त करता है, अग्नि ही विलयन करता है, जैसा कि 'अग्निः संपाको विलयनं च सोम-संयोगात्' (वै० द०) से स्पष्ट

है। यह दोनों धर्म ब्रह्माग्नि के हैं। चौथा है मिश्रस्वरूप भूताग्नि नाम का वैश्वानराग्नि। ताप और दाह यह दो इसके स्वाभाविक धर्म हैं। गरमी मालूम होना—वस्तु को जला डालना दोनों काम वैश्वानर के हैं। हम शरीर को जहां से छूते हैं गरम पाते हैं। यह वैश्वानर के साक्षात् दर्शन हैं। पूर्वोक्त तीन सत्याग्नियों में न ताप है, न दाह है। मौलिक अग्नि में ताप—दाह का नितान्त अभाव है। ताप और दाह घर्षणाधीन है। संघर्ष से ही ताप उत्पन्न होता है, संघर्ष से ही दाह होता है। सत्याग्नि निराकार है। उसमें संघर्ष कथमपि सम्भव नहीं है। संघर्ष होता है पार्थिव द्रव्याग्नियों में। इसी से ताप दाहात्मक वैश्वानर उत्पन्न होता है। इस प्रकार इन धर्मों से युक्त चारों अग्नि विश्व का स्वरूप संपादन कर रहे हैं।

अग्नि–प्रजापति —

१–	१–स्थिरत्वम् २–प्रतिष्ठा	ब्रह्माग्निः स्वायम्भुवः	सत्याग्निः (अमृताग्निः)	सर्वे ह्येते प्रजापतेरात्मानः
२–	१–विकासः २–रूपम्	देवाग्निः—सौरः		
३–	१–पाकः २–विशसनम्	भूताग्निः—पार्थिवः		
४–	१–तापः २–दाहः	यज्ञाग्निः—वैश्वानरः	यज्ञाग्निः (मर्त्याग्निः)	

। इन चारों अग्नियों से चार प्रकार का भिन्न भिन्न पानी उत्पन्न होता है। कारण पानी उत्पन्न करना अग्नि का स्वाभाविकधर्म है। स्वायम्भुव ब्रह्माग्नि से पारमेष्ठ्य अम्भ नाम का पानी उत्पन्न होता है। यही पवित्रतम पानी भागीरथी का स्वरूपसमर्पक बनता है। सौर देवाग्नि से मरीचि नाम का पानी (दिव्य पानी) उत्पन्न होता है। यही दिव्यपानी यमुना जल का स्वरूप समर्पक बनता है। पार्थिव भूताग्नि से मर नाम का पानी उत्पन्न होता है, एवं आन्तरिक्ष्य वायु प्राणमय वैश्वानर से श्रद्धा नाम का पानी उत्पन्न होता है। इन्हीं चारों का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति। स इमाँल्लोकानसृजत— अम्भो मरीचिमरमापः। अदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठा। अन्तरिक्षं मरीचयः। पृथिवी मरः। या अधस्तात्ता आपः (श्रद्धा वा आपः)" (ऐ० उ० १ खं० १–२–) इति।

यह है आधिदैविक जगत् की स्थिति। "यदेवेह तदमुत्र–यदमुत्र तदन्विह" के अनुसार उक्त चारों अग्नियें हमारे शरीर में भी प्रतिष्ठित हैं। एवं यहां भी इन चारों से चारों पानी उत्पन्न होते हैं। किसी कार्य सिद्धि के लिए मनुष्य जब परिश्रम करने लगता है तो इस से स्वायम्भुव प्राणाग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है। प्रतिष्ठाभाव शिथिल होने लगता है। अतएव परिश्रम के अनन्तर थकावट मालूम होने लगती है। प्राणाग्नि के बिभरणशक्ति, और प्रतिष्ठाशक्ति के ह्रास ही का नाम थकान है। इस परिश्रम से सबसे पहिले ललाट पर पसीनें आते हैं जैसा कि अनुपद में ही स्वेदवेदोत्पत्ति में बतलाया जाने वाला है। अत्यधिक परिश्रम से सारे शरीर में पसीनें चूने लगते हैं। प्राणाग्नि के तप से पसीनें निकलते हैं, यही कार्यसिद्धि की प्रथमभूमिका है। इसी आधार पर लोक में "अमुकनें अमुक काम के लिए पसीना बहाया है"–अजी। पसीनें की कमाई है' ऐसी किंवदन्तियें प्रचलित हैं। शिरोगुहा स्वायम्भुवी है। अतएव तत्प्रतिष्ठ ब्रह्माग्नि के क्षोभ से सर्वप्रथम ललाट में ही पसीनें आते हैं।

यदि मनुष्य प्रेमविभोर होजाता है तो आंसू निकल पड़ते हैं। इन्हीं को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है। प्रेमाश्रु से आत्मा में एक प्रकार की शान्ति का उदय होता है। यह सोमाग्नि की कृपा है। सोमाग्नि बुद्धि का अनुग्राहक है। बुद्धि और मन साथ रहते हैं। बौद्धसौर आनन्द पर्यय से मन पर आघात होता है। मन पिघल पड़ता है। यही मनोवेग अश्रुरूप में परिणत होकर आंखों से बाहर निकल पड़ता है। प्रेम कैसा—विषय, पवित्र सात्त्विक। मनप्रधान प्रेम जहां दुःख का कारण है वहां बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है। लौकिक विषयप्रेम दुःख का प्रवर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है। तीसरा है पार्थिव भूताग्नि, किंवा पशुपत्यग्नि। यही पशुपति रुद्र है। यह अपशक्ति के अधिष्ठाता हैं, भूतपति हैं। रुलाना इनका स्वाभाविक कर्म है, अतएव—'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' के अनुसार रोदनकर्म के अधिष्ठाता यह पार्थिव भूताग्नि रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं। अपभाव में (सांसारिक विषयों में) अत्यधिक आसक्ति रखने से मोह का उदय होता है। यह मोह विज्ञानशक्ति (सोमाग्नि) को निर्बल बनाता हुआ मन को प्रबल बनाता हुआ सजातीय सम्बन्ध से अर्थशक्ति प्रवर्तक पार्थिव भूताग्नि का अनुग्राहक बनता हुआ पार्थिवाग्नि को क्षुब्ध कर डालता है। इस क्षोभ से जो रौद्र पानी उत्पन्न होता है वही शोकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है। यदि यह पानी शरीर में ही रहजाता है तो वैक्लव्य (पागलपन) राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं। दुःख के आकस्मिक वेग से यही सब संहार के कारण बनजाते हैं। जिसे रोना आता हो उसे जीभर के रो लेना चाहिये। खूब अश्रुपात करने चाहिए। इससे शरीर हलका होजाता है। जो मनुष्य इन आंसुओं को पी जाते हैं—वे अवश्य रोगी बन जाते हैं। चौथा वैश्वानराग्नि है। मूत्रादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है।

उक्त अग्नियों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है। ग्रीष्म के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है। अग्नि में ताप है, पानी में ताप नहीं, यह क्या है। वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी आग) कहा जाता है। प्रकारान्तर से विचार कीजिए। परिश्रम—प्रेम—शोक भेद से आध्यात्मसंस्था में तीन ही प्रकार के पानी प्रधानरूप से उत्पन्न होते हैं। ललाटस्वेद परिश्रमजन्य है। इसका

प्रथम स्वायम्भुव अग्नि है। शरीर में मूलाधार से नाभि पर्यन्त पृथिवीलोक है, यही पशिगुहा है। नाभि पर्यन्त अन्तरिक्षलोक है, यही उदरगुहा है। हृदय से कण्ठ पर्यन्त द्युलोक है, यही उरोगुहा है, यही सूर्यलोक है। मस्तक चौथा पारमेष्ठ्यलोक है, यही शिरोगुहा है, यही स्वयंभू भगवान् प्रतिष्ठित हैं। इसी ब्रह्मप्रजापति की सत्ता से केशान्तस्थान 'ब्रह्मरन्ध्र' नाम से प्रसिद्ध है। परिश्रम से इनके बाक् भाग पर आघात होता है पानी उत्पन्न होजाता है। इसी का नाम पसीना है। इसी को हमने 'अम्भ' कहा है।

सूर्य देवाग्निमय बतलाया गया है। इसी को शुक्राग्नि भी कहते हैं। ब्रह्मप्रकरण में चन्द्रमा पत्नी' इस नाम से सूर्य शुक्रब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है। प्रेमानन्द में एवं शोक में दोनों में अग्नि क्षुब्ध होता है। इस से मन पिघल जाता है। यद्यपि मनो स सभी इन्द्रियों से निकलता है, परन्तु इसका प्रधान विनिर्गम स्थान चक्षु ही है। अतएव चक्षुस्थ बिन्दुको मानस (लोकभाषा में 'मानस्या' नाम से प्रसिद्ध) कहा जाता है। अतएव दोनों पानी मन के द्वारा चक्षु से ही बाहर निकलते हैं। मन चान्द्र है। चन्द्रमा सोम रसमय है अमृतमूर्ति है। यदि पवित्र सौर अग्नि का इस पर आघात होता है तो चान्द्रमन द्रुत होता है। इस द्रुति में प्रेमका उद्रेक है। अतएव इसे 'प्रेम स' कहा जाता है। इस रसका प्रेमरस कुल पांच मार्गों में विभक्त है। वे पांचों रसमार्ग श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह—काम—रति इन मार्गों से प्रसिद्ध हैं। हमारा मनोरस यदि गुरु-पिता—माता—ज्येष्ठभ्राता विद्वान्—तपस्वी—आदि पूज्यों की ओर जाता है तो इस परानुयोगिक-अवरप्रतियोगिक प्रेम को 'श्रद्धा' कहा जाता है। यदि हमारा मन पुत्र—सेवक—आदि छोटों की ओर जाता है तो यह अवरानुयोगिक परप्रतियोगिक प्रेम वात्सल्य कहलाता है। इन दोनों में एक का आसन ऊंचा है, एक का नीचा है। श्रद्धा में प्रेम करने वाला अवरकक्षा में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे उच्चकक्षा में हैं। वात्सल्य में प्रेम करने वाला उच्चकक्षा में है, जिन के साथ प्रेम किया जाता है, वे अवरकक्षा में हैं। दो व्यक्तियों का पारस्परिक प्रेम 'स्नेह' नाम से प्रसिद्ध है। यह प्रेम 'समानप्रतियोगिक समानानुयोगिक' है। यहां दोनों समान हैं। श्रद्धा—वात्सल्य—स्नेह तीनों प्रेमों में प्रेम करने वाले भी चेतन हैं, एवं

यदि मनुष्य प्रेमविभोर होजाता है तो आँसू निकल पड़ते हैं । इन्हीं को 'प्रेमाश्रु' कहा जाता है । प्रेमाश्रु से आत्मा में एक प्रकार का शान्ति का उदय होता है । यह सोमाग्नि की कृपा है। सोमाग्नि बुद्धि का अनुग्राहक है । बुद्धि और मन साथ रहते हैं । बोसचोर आमक पर्यंत से मन पर आघात होता है । मन पिघल पड़ता है । यही मनोवेग अश्रुरूप में परिणत होकर आँखों से बाहर निकल पड़ता है । प्रेम कैसा–स्निग्ध, पवित्र सात्त्विक । मनप्रधान प्रेम जहां दुःख का कारण है, वहां बुद्धिप्रधान प्रेम आनन्द का कारण है । लौकिक विषयप्रेम दुःख का प्रवर्तक बनता हुआ शोक में ही अन्तर्भूत है । तीसरा है पार्थिव भूताग्नि, किं वा पशुपाग्नि । यही पशुपति रुद्र है । यह अन्नशक्ति के अधिष्ठाता हैं भूतपति हैं । क्योंकि इनका काम्यनिष्कर्म है, अतएव–'सोऽरोदीत् तद्रुद्रस्य रुद्रत्वम्' के अनुसार रोदनकर्म के अधिष्ठाता यह पार्थिव भूताग्नि रुद्र नाम से प्रसिद्ध हैं । अन्नजात में (सांसारिक विषयों में) यथाभिक आसक्ति रखने से मोह का उदय होता है । यह मोह विज्ञानशक्ति (सोमाग्नि) को निर्बल बनाता हुआ मन को सबल बनाता हुआ सजातीय सम्बन्ध से अन्नशक्ति प्रवर्तक पार्थिव भूताग्नि का अनुग्राहक बनता हुआ पार्थिवाग्नि को क्षुब्ध कर डालता है । इस क्षोभ से जो रौद्र पानी उत्पन्न होता है वही शोकाश्रु नाम से प्रसिद्ध है । यदि यह पानी शरीर में ही रहजाता है तो वैक्लव्य (पागलपन) राजयक्ष्मा आदि रोग उत्पन्न होजाते हैं । दुःख के आकस्मिक वेग से यही इस प्रकार के रूप बनजाते हैं । जिसे रोना आता हो उसे जीभर के रोलेना चाहिये । कभी अश्रुपात रोकें नहीं । इससे शरीर स्वस्थ होजाता है । जो मनुष्य इन आंसुओं को पी जाते हैं–वे अवश्य रोगी बन जाते हैं । चौथा वैश्वानराग्नि है । मूत्रादि की उत्पत्ति इसी अग्नि से होती है ।

उक्त अग्निचर्चा से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि पानी अग्नि से उत्पन्न होता है । ग्रीष्म के अनन्तर वर्षा का आगमन प्रकृतिसिद्ध है । अग्नि में ताप है पानी में ताप नहीं–वह ठंडा है । वस्तुतः अग्नि ही तो पानी बना है अतएव पानी को ठंडा अग्नि (ठंडी आग) कहा जाता है । प्रकारान्तर से विचार करिए । परिश्रम–प्रेम–शोक भेद से आपामरसंख्या में तीन ही प्रकार के पानी प्रधानरूप से उत्पन्न होते हैं । स्वेदाम्बु परिश्रमजन्य है । इसका

है जैसा कि पूर्व की परात्परनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है। इन पांचों अक्षरों की उत्पत्ति में आत्मेच्छा ही प्रधान कारण है। 'उसे ऐसी इच्छा ही क्यों हुई ?' यह अनतिप्रश्न है। हम भोजन क्यों करते हैं ? इसका उत्तर है—हमें भोजन की इच्छा होती है इसलिए। पर हु— भोजन की इच्छा क्यों हुई ? इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं। अधिक से अधिक 'ईश्वरेच्छा' कहकर पीछा छुड़ालिया जाता है। जब हम हमारी इच्छा का ही उत्तर नहीं दे सकते तो ईश्वरेच्छा के सम्बन्ध में क्या पूछा जासकता है। ईश्वरतत्त्व अनुमान सिद्ध है। क्रिया से (बहिर्व्यापार से) प्राण का अनुमान होता है, क्योंकि बिना प्राण (अन्तर्व्यापार—प्रवृत्ति) के बाह्यव्यापार नहीं होसकता। प्राणव्यापार बिना इच्छा के सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण विश्व क्रियामय है। इसका संचालन प्राण से होरहा है। प्राण का उद्गम स्थान इच्छा है। साथ ही में यह सब निर्माण हमारी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं रखता। अतएव मानना पड़ता है कि सृष्टिनिर्माण में जो कुछ वैचित्र्य उत्पन्न होता है, वह सब प्रजापति की इच्छा पर निर्भर है। वह जैसा जैसा चाहता है, वैसा वैसा ही बना जाता है। तभी तो 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' इस वाक्य को यथावत् चरितार्थ होने का अवसर मिलता है। पूर्वोक्त जायादि पांचों अक्षरों का आधारभूत आप उसी की इच्छा से उत्पन्न हुआ। वेद प्रजापति, किंवा वेदावच्छिन्न षोडशी प्रजापति कामना द्वारा अपने वेद के वाक् भाग से सर्व प्रथम पानी उत्पन्न करता है। पानी उत्पन्न कर 'त्रय्या विद्यया सहाप आविशत्'(शत० ६।१।१।१०) के अनुसार उत्पन्न आपोमण्डल के गर्भ में प्रविष्ट होजाता है। इससे अण्ड (ब्रह्माण्ड) का उदय होजाता है—'तत् आण्डं समवर्तत' इस प्रकार अप्प्रविष्ट प्रजापति आगे की सृष्टि कामना से प्रेरित होकर सृष्ट्युपयोगिनी 'मैं इन पानियों से संसार को अपने ऊपर धारण करूं' यह कामना करता है। उसी क्षण सत्यकाम सत्यसंकल्प प्रजापति की उक्त इच्छा से उस पानी में एक प्रकार का धृतिबल (प्रतिष्ठा बल) उत्पन्न होजाता है। यही प्रतिष्ठाबल गोपथादि श्रुतियों में 'धारा-बल' नाम से व्यवहृत हुआ है। वास्तव में सातों लोकों को पानीने ही धारण कर रक्खा है। लोक सबकी प्रतिष्ठा है, लोक की प्रतिष्ठा आप् है। आप् पुरजन ही तो लोकसृष्टि का अधिष्ठाता है—' सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम् '।

जिन के साथ प्रेम किया जाता है वे भी चेतन हैं। परन्तु पुस्तक–मकान–वित्तादि अन्य स्थावर सम्पत्ति के साथ जो हमारा प्रेम है उसमें केवल 'काम' का विकास है। जड़वस्तु के साथ प्रेम करना ही काम है। उक्त चारों प्रेमों का यदि एक ही स्थान में समावेश होजाता है तो–'रति' नाम के अपूर्वभाव का उदय होता है। रतिप्रेम के अधिकारी विश्व में केवल दो ही हैं। स्त्री और ईश्वर इन दो के साथ ही रतिप्रेम घटित होता है। स्त्री को हम घर की अधिष्ठात्री समझते हैं। गृहलक्ष्मी को हम श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं साथ ही में पुत्रादिवत् औरस हमारा वात्सल्यभाव भी रहता है। स्त्री एक सन्मित्र की भांति उचित परामर्श देने वाली जीवनसङ्गिनी है। सर्वथा जड़ स्त्री के केशपाश, नासिका, ओष्ठ, कपोल वस्त्रभूषा–नूपुरध्वनि आदि के साथ मनुष्य का जो प्रेमाकर्षण है, वह कामरूप है। यही रति है। जब तक यह रति स्त्री के साथ है, तब तक संसार है बन्धन है। यही रति यदि ईश्वर के साथ होजाती है, जोकि रति भक्तसम्प्रदाय में 'प्रेमाभक्ति' नाम से प्रसिद्ध है तो मुक्ति है। बन्धन मुक्ति का यही रहस्य है। अवसादरूपाग्नि के आघात से जो पानी निकलता है, वही शोकाम्बु है। प्रकृतिमण्डल में इसी रुद्राग्निजन्य पानी से रजत (चांदी) का निर्माण होता है। चांदी रुद्र के आंसुओं से बनी है। इसी लिए–'बर्हिषि रजतं न देयम्' यह आदेश है। बर्हि में यदि यजमान रजत दक्षिणा दे देगा तो एक वर्ष के भीतर भीतर वह महाप्रयाण कर जायगा। इसी लिए रजतदक्षिणा का निषेध किया गया है। इस प्रकार अनेक दृष्टियों से पानियों की उत्पत्ति का विचार किया जासकता है।

यह तो हुई प्रासङ्गिक चर्चा। अब चलिए प्रकृत विषय की ओर। अभी केवल वेदमूर्ति स्वायम्भुव प्राणमय यजुरग्नि का साम्राज्य है। अग्नि ऋजु पन्था है। इसका प्रदेश नियत है। इस यजु के वाक् भाग से जो तत्त्व उत्पन्न हुआ वह ऋजु न रहा अपितु व्यस्त होगया। पानी की बूंद आप जहां भी डालेंगे, वह नियत प्रदेश में न रहकर चारों ओर फैल जायगी। इसी व्याप्ति किंवा व्याप्तिधर्म से यह उत्पन्न तत्त्व 'आप' नाम से व्यवहृत हुआ है। वेदत्रयी के वाग्भाग से उत्पन्न इस 'आप' किंवा 'अप्' तत्त्व में जाया–धारा–आप–जीवन–भृगु भेद से पांच प्रकार के जल उत्पन्न होते हैं। इन सबकी आधारभूमि महामाया नाम का परमेष्ठी

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति यद्रेतः । तदेतत् सर्वेभ्यो—
ऽङ्गेभ्यस्तेजः सम्भूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति" (ऐ आ २ । ५ । १ ।)

जायास्त्रोत्पत्ति के अनन्तर 'मैं इन पानियों से उत्पन्न विश्व में एवं प्रजा में अन्नरूप से व्याप्त होजाऊं' यह इच्छा होती है । इच्छा के अव्यवहितोत्तरकाल में ही पानी में आरम्भमल उत्पन्न होजाता है । पानी की अप्-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हैं । फैलना इस अप्त्रयी का स्वाभाविक धर्म है । संसार के इतर पदार्थों को आप जिस नियत प्रदेश में रख देंगे, वे उस स्थान से आगे नहीं सरकेंगे । परन्तु पानी-इरा-सोम में यह बात नहीं है । एक बिन्दुमात्र पानी भी जहां गिरेगा वहां से आगे फैल जायगा प्रजापति किस रूप से विश्व में व्याप्त हो रहे हैं ! इसका उत्तर यही पानी है । अन्नरूप से प्रजापति सब पर व्याप्त हैं अप् से ही सब का संवरण कर रक्खा है । अतएव 'सर्वमाप्नोत तस्मादापः' "यदवृणोत् तस्माद् वाः" (शत० ६।१।१।७।) इत्यादि के अनुसार इस तत्त्व को— आप्-वारि इत्यादि नामों से व्यवहृत किया जाता है । अमृतत्त्व की इरा (रस)स्थिर नहीं है, बहती हुई है, अतएव व्याप्तिलक्षणा है । इरारस का प्रसरण ही व्याप्ति में प्रधान कारण है । अतएव पानी को 'सरित्-इरा यस्य' के अनुसार 'सरिर' कहा जाता है । सरित् ही सलिल नाम से प्रसिद्ध है । यद्यपि यह ठीक है कि यही पानी लोकरूप में परिणत होकर भुवभाव को छोड़देता है, उस समय यह सरिर नहीं रहता । परन्तु लोकसृष्टि के पहिले तो यह सरिर ही रहता है । अप् की इसी पूर्वावस्था को लक्ष्य में रखकर—'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' (शत. ११।१।६।१) यह कहा जाता है । 'कस्मै देवाय हविषा विधेम' (यजु सं० १३ । ४) के अनुसार वेदमूर्ति अव्यक्त, अतएव अनिरुक्त नाम से प्रसिद्ध प्रजापति 'क' नाम से व्यवहृत होता है । यह क (अनिरुक्त) प्रजापति पानी उत्पन्न कर सर्वत्र व्याप्त होता हुआ, दूसरे शब्दों में पानी के कारण सर्वप्रजापति किंवा निरुक्त बनता हुआ 'अलम्' संपत्ति से युक्त हो जाता है । क-प्रजापति की कामना को अलम्' बनानें वाला यही पानी है । अतएव "क (अनिरुक्तमजापतिं) अलं (सर्वभावयुक्त) करोति" इस व्युत्पत्ति से पानी को 'कमल' कहा जाता

वारात्मक को उत्पन्न करने के अनन्तर— 'मैं इन पानियों से सब कुछ उत्पन्न करूं' इस इच्छा का उदय होता है। इस इच्छा से पानी में प्रजनन शक्ति आजाती है। सचमुच संसार एवं संसार में रहने वाले पदार्थमात्र की उत्पत्ति पानी से ही होती है। शुक्रतत्त्व उत्पत्ति का कारण है। शुक्र पानी का ही रूपान्तर है। फेन मृत् सिकता-शर्करा अश्म हिरण्य सब पानी से बने हैं। पानी ओषधि बना है, ओषधि शुक्र बना है। इस प्रकार प्रजासृष्टि का मूलोपादान भी पानी ही है. जैसा कि—छान्दोग्य की 'इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' इत्यादि पञ्चाग्निविद्या में स्पष्ट है। यह दूसरा रस ही विश्व एवं विश्वप्रजा की उत्पत्ति का कारण है अतएव 'जायते यस्यां' इस निर्वचन से इस रस को 'जायारस' कहा जाता है। विशुद्ध जायारस तबतक सृष्टि करने में असमर्थ है, जब तक कि यह अग्निरूप पुरुषतत्त्व को अपने में प्रतिष्ठित न करले। जायारूप शुक्रमय स्त्री मातरिश्वा की प्रेरणा से उस अग्निरेत को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर लेता है। ऐसा अग्निगर्भित जाया पानी ही प्रजननधर्मा है। स्त्री स्वयं जाया है सोम है। सोममय जायारस ही स्त्री का उपादान कारण है। अग्नि पुरुष है। यही इस जायाभाव से वेष्टित गर्भाशय शोणित है, स्त्री का (*गर्भाशयगत*) शोणित साक्षात् जाया है। यह जायाभाव से नित्य वेष्टित है। अब पुरुष के शुक्र को लीजिये। शुक्र सोमरूप जाया है। शुक्र में रहने वाली गर्मी पुरुष है। स्त्रीवत् पुरुष भी जाया है। औपपातिक आत्मा सर्वप्रथम पुरुषशरीरस्थ शुक्रावच्छिन्न इसी जाया में गर्भधारण करता है। यही प्राणी का प्रथमजन्म कहलाता है। पुरुष के समस्त शरीर का शुक्र पुरुषाकार को अपना आयतन बनाकर ही शोणित में आहुत होता है। शरीर के जिस प्रदेश का शुक्र आहुत नहीं होता उत्पन्न प्रजा में उसी अङ्ग की कमी रह जाती है। शुक्र द्वारा माता के गर्भाशय में प्राणी का प्रतिष्ठित होना इस का दूसरा जन्म है। १० मास के अनन्तर प्रसववायु के प्रक्षेपण से गर्भ का भूमिष्ठ हो जाना इस का तीसरा जन्म है। औत्तरकालिक संस्कारों से निर्धूतपाप्मा बन जाना चौथा जन्म है। 'चतुर्थं वा इदं सर्वम्' के अनुसार इस चतुर्थ जन्म में प्राणी सर्वत्व भाव को प्राप्त होता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर महर्षि महीदास कहते हैं —

पांचवां अमृतवम है। इसी ऋतवम को 'परिश्रित' भी कहा जाता है। आपो वै परिश्रितः' (शत ८।१।१।८) के अनुसार प्रत्येक पिण्ड इस ऋतवम से व्याप्त रहते हैं। ऋत के उदर में मूर्ति प्रतिष्ठित रहती है। प्रत्येक पिण्ड को स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रखना ऋतवम का मुख्य काम है। वस्तुपिण्ड सत्य है। वह ऋत से घिरा रहता है। सत्य पिण्ड के भी प्रापक परमाणु ऋतरूप हैं। इस प्रकार अन्ततोगत्वा ऋत पर ही सब का पर्यवसान हो जाता है। 'ऋत नात्यनि किञ्चन' यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है।

इस प्रकार प्रजापति की इच्छा से वाङ्मय स्वायम्भुव पानी में जाया-धारा आप भीवन अमृत यह पांच वम उत्पन्न हो जाते हैं। इन पांचों वमों से ही पाङ्क्तप्रजापति का पाङ्क्तयज्ञ स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है। गोपथब्राह्मण के आरम्भ में ही इन वमों का विवेचन हुआ है।

१—"अद्भिर्वा अहमिद सर्वं धारयिष्यामि यदिद किञ्च" → इति 'धारा'
२—"अद्भिर्वा इद सर्वं जनयिष्यामि यदिद किञ्च" → इति 'जाया'
३—"अद्भिर्वा इद सर्वं—आप्स्यामि यदिद किञ्च" → इति 'आप'
४—"ऊर्क्—वा अपां रस । ऊर्क् जीवनम्" → इति 'जीवनम्'
५—"ऋत भूमिरिय श्रिता" — — — → इति 'अमृतम्'

} सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्

१—"सर्वमप्सु प्रतिष्ठितम्"—इति—धारावमम्
२—"सर्वमद्भ्य प्रजायते"—इति—जायावमम्
३—"सर्वमापोमय जगत्"—इति—आपोवमम्
४—"आपोमय प्राण "—इति—जीवनवमम्
५—'आपो नात्येति किञ्चन"—इति—अमृतवमम्

} 'आपो वै सर्वे देवा । आप मानो वै जायते एताभ्यो देवता भ्यः" इति निगमो भवति।

सबसे पहिले क्या था? उत्तर है वेदमय ब्रह्ममूर्ति असत् नाम से प्रसिद्ध सप्तपुरुष पुरुषात्मकस्वयम्भू सत्य प्रजापति'। 'एकाकी न रमते तद्द्वितीयमैच्छत् पतिश्च पत्नीच'

है। उधर कमल नाम का एक पुष्प भी है। कमलपत्र ही पुष्करपर्ण है, जैसा कि अपोवेद निरुक्ति में बतलाया जा चुका है। यह भी आपोमय है। यही कम्मय अनिरुक्त प्रजापति की पहिली प्रतिष्ठा है। अप इसे ही 'कं—जलं करोति' से कमल कहना अन्वर्थ बन जाता है। लोकसृष्टि का अधिष्ठाता पानी ही है। 'लोकृ—भुवने जने' के अनुसार लोक का ही नाम भुवन है। पानी ही लोक है, अतएव पानी को भुवन नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। बतलाना यही है कि पानी में आविर्भूत तीसरा 'आपोवम' उत्पन्न होता है।

आपोवम के अनन्तर—'मैं इन पानियों से जीवन का संचार कर—पदार्थों में जीवनीय शक्ति डालूं' इस इच्छा से पानी में चौथा जीवनवम उत्पन्न होता है। वस्तु की स्वस्वरूप में जो स्थिति है वही उस वस्तु का जीवन है। स्थितिविच्युति का नाम ही मृत्यु है। ठहरी हुई वस्तु में जो गतिप्रवाह है वही जीवन का सूचक है। प्रतिष्ठाबल के उपक्रम हो जाने से जिस समय गतितत्त्व उत्क्रान्त हो जाता है, उसी क्षण मृत्यु का साम्राज्य होजाता है। इस मृत्युभाव को रोकने वाला यही आप्यप्राणरूप वायु है। यह कल्याणकर है, आपोमय प्राण ही कल्याण (जीवन) का अधिष्ठाता बनता हुआ आपोमय होने से 'साम्बसदाशिव' नाम से प्रसिद्ध है। यही शिव जीवनसत्ता की प्रतिष्ठा है। यही जीवनीय रस है। इसी के लिए 'या ते शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः' (यजु सं ११।५१) यह कहा जाता है। हम प्राण को जीवनसत्ता का कारण समझते हैं। परन्तु वास्तव में आप्यतत्त्व का जीवनीयरस ही जीवन का हेतु है। जब तक प्राण में यह रस रहता है, तभी तक जीवन है। मनुष्य १५ दिन तक अन्न के बिना जीवित रह सकता है, परन्तु पानी के बिना जीवन धारण करना असम्भव है। अन्न न मिलने से मृत्यु नहीं होती प्राण निकलने से मृत्यु होती है। इस प्राण का रक्षक यही आप्यरस है। 'सामामय परमस्मिन् पुरे जागर्ति' (प्र ४।३) के अनुसार यह अप्रतिम प्राणाग्नि सतत जागृत रहता है। इस प्रकार प्राण में जीवनीय शक्ति डालने वाला आपोवम ही 'जीवनवम' नाम से प्रसिद्ध है।

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमाभाव है, भूमा ही आनन्द है। प्रत्यक्षदृष्ट विश्वभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रखकर सामश्रुति कहती है—

"ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वयं त्वेकमेव। तदैक्षत—महद्वै यक्षं—तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मिम—इति। तदभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमजायत—तेनानन्दत्। तदब्रवीत्—महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति। तदब्रवीत्—महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। + + + + + +। स भूयोऽश्राम्यत्, भूयोऽतप्यत्, भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सन्तप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति। तदब्रवीदाभिर्वा० तस्माद् धारा अभवंस्तद्धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तदब्रवीत्—आभिर्वा० तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्रः पुन्नाम नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्। तदब्रवीत् आभिर्वा० तस्मादापो अभवंस्तदपामाप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते" इति। (गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र०। १–२–ब्रा०)

इति-अथर्ववेदनिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी—वेदप्रकरण समाप्त।



के अनुसार सृष्टिकामना से उसने तप और श्रम किया । इससे उसके प्राण में क्षोभ उत्पन्न हुआ । क्षोभ से दूसरे विष्णु नाम के अक्षर की सहायता से दूसरी वस्तु उत्पन्न होगई । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'भृग्वेद' । यदि कोई मनुष्य परिश्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके ललाट पर स्वेद [पसीनें] उत्पन्न होते हैं । अत्यधिक परिश्रम से सारे रोमकूपों से पसीने चूने लगते है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'स भूयोऽश्राम्यत्—भूयोऽतप्यत । भूय आत्मानं समतपत्—
सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत"—(गो॰ ब्रा॰ पू॰ १।१) ।

स्वयम्भूप्रजापति से उत्पन्न इसी भृग्वेद का नाम 'अथर्ववेद' है । अथर्वतत्त्व ही अथर्व है । त्रयीवेद अग्निमय होने से उग्र है । यह अप्वेद किंवा सोमवेद शान्त है । अग्निवेद ही आग्निक-रूप से पसीने बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सृष्टिक्रम है अतएव इसे 'भृग्वेद' (शान्तवेद) नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है । इसी भृग्वेद को परोक्षप्रिय देवता अपनी स्वाभाविक परोक्षभाषा में 'स्वेदवेद' नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहते हैं तो इसका उत्तर है—आपके ललाट पर आए हुए पसीने । ब्रह्मप्रजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीब्रह्म प्रथमज था यह दूसरा है । त्रयीब्रह्म अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । त्रयीब्रह्म वृषा है, यह योषा है । यह प्राण है, यह रयि है । यह है मिथुनमिथुन—दम्पती । इसके मिथुन भाव से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा, विराट् से आगे की सृष्टि होगी । अमृतरूप योषात्मक, वेदत्रयीरूप वृषात्मक दोनों ही सृष्टि के प्रभव हैं एवं प्रभव को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्त्वोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुब्रह्मब्रह्म है । त्रयीवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि—'ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्ताम्' (षड्विंशब्रा १।१।१) इत्यादि से स्पष्ट है । यह है चौथे अथर्ववेद का संक्षिप्त दिग्दर्शन । सुब्रह्म में आगे जाकर पूर्वोक्त जाया भारादि भव उत्पन्न होते हैं । यही भव मातृकी एवं मैथुनीसृष्टि के अनुग्राहक हैं । ज्यों ज्यों नवीन नवीन पदार्थ

उत्पन्न होते जाते हैं, त्यों त्यों प्रजापति की—'एकोऽहं बहुस्याम्' यह कामना पूरी होती जाती है। यही इसका भूमभाव है, भूमा ही आनन्द है। प्रत्यक्ष विश्वभूमा प्रजापति के आनन्द के साक्षात् दर्शन हैं। इसी सारे रहस्य को लक्ष्य में रखकर सामश्रुति कहती है—

'ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत्, स्वय म्भ्वेकमेव। तदैक्षत—महद्वै यक्षं—तदेकमेवास्मि, हन्ताहं मदेव मन्मात्रं द्वितीयं देवं निर्मिम—इति। तदभ्यश्राम्यद्, अभ्यतपत्, समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य ललाटे स्नेहो यदार्द्र्यमजायत—तेनानन्दत्। तमब्रवीत्—महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति। तद्यदब्रवीत्—महद्वै यक्षं सुवेदमविदामह इति, तस्मात् सुवेदोऽभवत्। तं वा एतं सुवेदं सन्तं स्वेद इत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्षद्विषः। + + + + + +। स भूयोऽश्राम्यद्, भूयोऽतप्यद् भूय आत्मानं समतपत्। तस्य श्रान्तस्य तप्तस्य सतप्तस्य सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दन्त। ताभिरनन्दत्। तदब्रवीत्—आभिर्वा अहमिदं सर्वं धारयिष्यामि यदिदं किञ्च, आभिर्वा अहमिदं सर्वं जनयिष्यामि यदिदं किञ्च आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्च, इति। तद्यदब्रवीदाभिर्वा० तस्माद् धारा अभवंस्तद् धाराणां धारात्वं, यच्चासु ध्रियते। तद्यदब्रवीत्—आभिर्वा० तस्माज्जाया अभवंस्तज्जायानां जायात्वं, यच्चासु पुरुषो जायते, यच्च पुत्रः पुन्नाम्नरकमनेकशततारं तस्मात् त्राति पुत्रस्तत् पुत्रस्य पुत्रत्वम्। तद्यदब्रवीत् आभिर्वा० तस्मादापो अभवंस्तदपामप्त्वम्। आप्नोति ह वै सर्वान् कामान् यान् कामयते" इति। (गोपथब्राह्मण पूर्वभाग १ प्र०। १—२—ब्रा०)

इति-अथर्ववेदनिरुक्तिः

मन्त्रार्थसम्बन्धी—वेदप्रकरण समाप्त।



के अनुसार सृष्टिकामना से उसमें तप और श्रम किया । इससे उसके प्राण में क्षोभ उत्पन्न हुआ । क्षोभ से दूसरे विष्णु नाम के अक्षर की सहायता से दूसरीवस्तु उत्पन्न होगई । उस दूसरी वस्तु का क्या नाम है ? उत्तर है 'भृगुवेद' । यदि कोई मनुष्य परिश्रम करता है तो सर्व प्रथम उसके ललाट पर स्वेद [पसीनें] उत्पन्न होते हैं । अत्यधिक परिश्रम से सारे रोमकूपों से पसीनें चूने लगते हैं, जैसा कि पूर्व में बतलाया जाचुका है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है–

'स भूयोऽश्राम्यत्–भूयोऽतप्यत । भूय आत्मानं समतपत्–
सर्वेभ्यो रोमगर्तेभ्यः पृथक् स्वेदधाराः प्रास्यन्दत"—(गो० ब्रा० पू० ?।१) ।

स्वयम्भूप्रजापति से उत्पन्न इसी भृगुवेद का नाम 'अथर्ववेद' है । अमृतत्त्व ही अथर्व है । त्रयीवेद अग्निमय होनें से उग्र है । यह अपूवेद किंवा सोमवेद शान्त है । अग्निवेद ही आंशिक-रूप से घनीभूत बनकर शान्त बन जाता है । यही इसका सूक्ष्मभाव है अतएव इसे 'भृगुवेद' (अथर्ववेद) नाम से व्यवहृत करना अन्वर्थ बन जाता है । इसी भृगुवेद को परोक्षप्रिय देवता अपनी स्वाभाविक परोक्षभाषा में 'स्विद्वेद' नाम से व्यवहृत करते हैं । स्वेद को पसीना कहा जाता है । यदि आप सीधी भाषा में अथर्ववेद का स्वरूप पूछना चाहते हैं तो इसका उत्तर है–आपके ललाट पर आए हुए पसीनें । ब्रह्मप्रजापति के स्वेद ही का नाम 'अथर्ववेद' है । त्रयीब्रह्म प्रथमज था यह दूसरा है । त्रयीब्रह्म अग्निमूर्ति है, यह आपोमूर्ति किंवा सोममूर्ति है । त्रयीब्रह्म वृषा है, यह योषा है । यह प्राण है, यह रयि है । यह है मिथुनमिथुनात्मा–दम्पती । इसके मिथुन भाव से सर्वप्रथम विराट् पुरुष उत्पन्न होगा विराट् से आगे की सृष्टि होगी । अमृतरूप योगात्मक वेदत्रयीरूप सृष्टतत्व दोनों ही सृष्टि के प्रभव हैं एवं प्रभव को 'ब्रह्म' कहा जाता है । ऐसी अवस्था में हम उक्त दोनों तत्त्वोंको 'ब्रह्म' कह सकते हैं । एक वेदब्रह्म है एक सुब्रह्मब्रह्म है । त्रयीवेद ब्रह्म नाम का ब्रह्म है, अथर्ववेद सुब्रह्म नाम से प्रसिद्ध है । जैसा कि–'ब्रह्म च वा इदमग्रे सुब्रह्म चास्ताम्' (षड्विंश० १।१।१) इत्यादिसे स्पष्ट है । यह है चौथे अथर्ववेद का संक्षिप्त दिग्दर्शन । सुब्रह्म में आगे चलकर पूर्वोक्त आपः वायु आदि का उत्पन्न होते हैं । यही सब याज्ञिकी एवं मैथुनीसृष्टि के अनुग्राहक हैं । ज्यों ज्यों नवीन नवीन पदार्थ

की प्रधानता है। पञ्चीकृत प्राण में भी आरम्भरूपसमर्पक अन्नाद भाग (पार्थिव भाग) है, परन्तु अल्पस्वल्पमात्रा में। इसी प्राजापत्य पानी से गाङ्गेय पानी की स्वरूप निष्पत्ति हुई है, अत पार्थिव पानियों की अपेक्षा गाङ्गेय पानी अतिमधुर है यह साक्षात् सोम है, अमृत है, जीवनीय रस है, दोष (कीटाणु) नाशक है। इसी शान्त मधुर अमृत रसभाग से भृगुतत्त्व का विकास होता है। भर्जनशील तत्त्व ही भृगु है। इस भृगु की घन-तरल-विरल भेद से तीन अवस्थाएं होजाती हैं। घनावस्था आप नाम से, तरलावस्था वायु नाम से, एवं विरलावस्था सोम नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शब्दों में घनावस्थापन्न भृगु आप, तरलावस्थापन्न भृगु वायु, विरलावस्थापन्न भृगु सोम नाम से व्यवहृत होता है। अप् तत्त्व का मधुररस ही सृष्टि का उपादान बनता है। अतएव इसे 'रेत' [उपादानद्रव्य-शुक्र] कहा जाता है। यही रेत वेदाग्नि से संतप्त बन कर भृगु रूप में परिणत होता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

> "ता अपः सृष्ट्वाऽन्वैक्षत, तासु स्वां छायामपश्यत्। तामस्येक्षमाणस्य स्वयं रेतोऽस्कन्दत्। तदप्सु प्रत्यतिष्ठत्। तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताः श्रान्तास्तप्ताः संतप्ताः सार्द्धमेव रेतसा द्वैधमभवन्। तासामन्या अन्यतरा अतिलवणा अपेया अस्वाद्व्य। ता अशान्ता रेत समुद्रं वृत्वाऽतिष्ठन्। अथेतराः पेया स्वाद्व्यः शान्तास्तत्रैवाभ्यश्राम्यत्, अभ्यतपत्, समतपत्। ताभ्यः श्रान्ताभ्यस्तप्ताभ्यः संतप्ताभ्यो यद्रेत आसीत्, तदभृज्यत। यदभृज्यत तस्माद् भृगुः समभवत्, तद्भृगोर्भृगुत्वम्। भृगुरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद"—(गो० पू० १।३) इति।
> 'वायुरापश्चन्द्रमा इत्येते भृगवः' [गो० पू० २।८]।

उक्त भृगुतत्त्व में पारमेष्ठ्य आप्य प्राण [वरुण] की प्रधानता रहती है। आपोमय रेत ही भृगु-रूप में परिणत होता है, अतएव 'त वरुणो न्यगृह्णीत, तस्मात् स भृगुर्वारुणिः' (ऐ० ब्रा० ३।३४) इत्यादि के अनुसार इसे वारुणि (वरुणपुत्र) माना जाता है। ससोमशक्ति से यही अर्चि [प्रकाश] रूप में परिणत होता है। दीपशिखा अग्नि है, दीपप्रभा भृगु [जलता हुआ

मन्त्रार्थ प्रकरण



विकामुक्त ब्रह्म के-इच्छा तप श्रम से शुक्रतत्त्व में सर्वप्रथम आपो वारा, वायु, जीवन, भृगु,यह पांच वस्तु उत्पन्न होते हैं, जैसा कि पूर्वप्रकरण में बतलाया जा चुका है। प्रथीभव प्रजापति का पहिला कार्य शुक्र था, पञ्चवस्तोत्पत्ति दूसरा कार्य है। इच्छा–तप–श्रम का विश्राम नहीं है। तीनों व्यापार निरन्तर होते रहते हैं। फलत नए नए पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। इच्छातपादि सृष्टि–अनुक्रमों से आगे जाकर भृगुतत्त्व उत्पन्न होता है। उत्पन्न होनें वाले आपोमय ब्रह्म में क्षार और मधुर यह दो रस उत्पन्न होते हैं। मधुररस आप् का स्वरूपधर्म है एवं क्षाररस (लवणरस) आगन्तुक धर्म है। पानी में दोनों कैसे हैं ? इस प्रश्नसमाधि के लिए पसीनें पर दृष्टि डालिए। पसीना सुवेद विन्दु का सूचक है। पसीने में उक्त दोनों रस हैं, परन्तु हमारे पसीनें में लवण रस की प्रधानता है। कारण हमारा शरीर पार्थिवभाग प्रधान है एवं पृथिवी के मूल उपादानों में 'भृगु' नाम से प्रसिद्ध क्षारभाग की प्रधानता है। अतएव पार्थिव समुद्र क्षारप्रधान ही होता है। मधुररस अत्यल्प मात्रा है, अतएव प्राय हमारा पसीना किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि अत्यधिक मात्रा से पसीना चूने लगता है तो उस में मधुररस अधिकमात्रा से संघटित होजाता है। वह किसी जलस्थान में गिर कर सृष्टि का कारण बन जाता है। योषारूप हमारे पसीनों के साथ जब वायुगत वृषाग्नि का सम्बन्ध होता है तो इस योषा वृषा के मिथुनभाव से पसीनों में सूक्ष्मकीटाणु उत्पन्न होजाते हैं, जिनका कि दूरवीक्षण यन्त्र अथवा माइक्रोसकोप (English) से प्रत्यक्ष किया जासकता है। इसप्रकार पवनपुत्र के इन्ही सञ्चित पसीनों से (मत्स्यगर्भ में) सुप्रसिद्ध मकरध्वज का जन्म हुआ था। इस प्रकार जीवप्रजापति के स्वेद में दोनों रस उत्पन्न होते हैं। अतएव तत्प्रभव ईश्वरप्रजापति में भी दोनों की सत्ता माननी पड़ती है। अन्तर केवल इतना है कि वहां (ईश्वर में) मधुररस की प्रधानता है, क्षाररस अत्यल्पमात्रा में है। कारण स्पष्ट है। हमारे में पञ्चीकृत अन्नाद (पृथिवी) की प्रधानता थी, उस में पञ्चीकृत मात्रा

वायु प्राण—अपान—व्यान—समान—उदान भेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तादि सचार का कारण बनता है यही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वगिन्द्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है,जिससे मेघ-जल-वृक्षादि विधूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात भेषजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राण रूपा है, यह वातवायु भौतिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अङ्गिरावायु का विकास और होता है। अङ्गिरा से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ४९ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुद् वायु का विकार मारुत् है. यही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सवथा विभक्त भौतिक भार्गव वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वदिक् में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां प्राणवायु का प्रज्ञान है। यहां से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' [प्र० उ० १।८।] यह कहा जाता है। मातरिश्वा वायु दक्षिणदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ पिण्डसृष्टि का स्वरूप सपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पवमान वायु उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पवमान के लिए— पवमानो हरित आविवेश' (ऋत० २।२।४।१।) यह कहा जाता है। एवं चौथा सवित्र उत्तरदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पवमान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रससर्ग से पवमान-पावक शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। घोरमूर्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु घोररूप में परिणत होते हुए घोराग्नि नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्तियां शिव हैं प्रवमानादि तीनों रुद्रमूर्ति है घोरतनु है। पवमान भूपिण्ड से सक्रान्त रहता है, पावक अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रसिद्ध सूर्यमण्डलरूप द्युलोकस्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है, मातरिश्वा दक्षिण से,

सोम] है, इसी आधार पर अग्निरेव भृगुः, सम्भूव, अङ्गारेष्वङ्गिरा सम्बभूव' (.........) इत्यादि कहा जाता है। सोमशक्ति से ही यह पदार्थों का संहनन[संघात—एकीकरण]करता हुआ अभिर्ग्रस्त बनता है अतएव 'बिभ्रद्—गच्छति' इस निर्वचन से इसे भृगु' कहा जाता है। भृगु ही परोक्षभाषा में भृगु नामसे प्रसिद्ध है। संकोच इसका स्वाभाविकधर्म है। तरल आपोमय भृगु को हमने वायु बतलाया है। इस वायु की [मार्गवायु की] प्राण—पवमान—मातरिश्वा सविता यह चार अवस्थाएं हैं। चारों के भिन्न भिन्न कर्म हैं। श्वासप्रश्वासरूप प्राणवायु 'पवमान' है। यह पवमानवायु (Oxygen) और अम्म नाम का प्रथम भाग (Hydrogen) दोनों संसक्त होकर स्थूल पानी के उपादान बनते हैं, दूसरे शब्दों में पवमान और अम्मके रासायनिक सम्मेलसे पीनेका पानी उत्पन्न होता है। यही पानी म्रियमाण—मूर्च्छित होने से 'मर' [मरणधर्मा] नाम से प्रसिद्ध है। दूसरा है मातरिश्वा वायु। संकेतभाषा के अनुसार माता पिण्ड का नाम है पिता महिमामण्डल का नाम है। पिण्ड को पृथिवीशब्द से, महिमा को द्यु शब्द से व्यवहृत किया जाता है। सभी पिण्ड पृथिवी हैं सभी महिमाएं द्यौ हैं। सुप्रसिद्ध पृथिवी की तरह सूर्य—परमेष्ठी—स्वयम्भू आदि सभी पिण्ड पृथिवी हैं। जिस पर आप प्रतिष्ठित हैं उसी का नाम पृथिवी नहीं है अपितु वैदिक नाम पृथिवी है आधारभूमि का नाम पृथिवी है। वेदमूर्ति प्रजापति की प्रतिष्ठा का नाम पृथिवी है। इस परिभाषा के अनुसार स्वयम्भू-परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा-पृथिवी—यह पांचों पिण्ड पृथिवी हैं, पांचों ही पृथिवी होने से 'माता' हैं इस माता के चारों ओर व्याप्त रहने वाला भार्गव वायु ही 'मातरिश्वा' है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। अभी केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि पिण्ड के चारों ओर व्याप्त रहने वाला पिण्डस्वरूपसमर्पक एवं रक्षक भार्गव वायु ही 'मातरिश्वा' है। जो भार्गव वायु सांसारिक पदार्थों को कार्यकारणभाव के लिए प्रेरित करता है, वह प्रेर मिता वायु ही तीसरा 'सवितावायु' है। बिना सविता वायु की प्रेरणा के कोई भी प्राण कोई भी वस्तु कार्योन्मुख नहीं बन सकती। इसी आधार पर—'सविता वै देवानां प्रसविता' यह कहा जाता है। एवं जिस वायु से विश्व के पदार्थ गतिशील बने हुए हैं, अव्यक्तावस्था में जो

वायु प्राण–अपान–व्यान–समान–उदान भेद से पञ्चधा विभक्त होकर रक्तादि सञ्चार का कारण बनता है यही चौथा प्राणवायु है। साधारण मनुष्य जिसे वायु कहते हैं, जिसका त्वगिन्द्रिय से हम प्रत्यक्ष करते हैं, जिसके आघात का अनुभव होता है,जिससे मेघ–जल–वृक्षादि विधूयमान होते हैं वह वायु उक्त चारों भार्गव वायुओं से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। इस सर्वानुभूत वायु को 'वात'(वात आवात भेषजम्) नाम से व्यवहृत किया जाता है। भार्गववायुचतुष्टयी प्राणरूपा है, यह वातवायु भौतिक है। भार्गववायु के साथ साथ ही एक अङ्गिरावायु का विकास और होता है। अङ्गिरा से रुद्र वायु का विकास होता है। रुद्र से ४९ प्रकार के मरुद्वायु का विकास होता है-[मरुतो रुद्रपुत्रास], मरुद् वायु का विकार मारुत् है यही वातवायु है। इसी को 'समीरण' कहा जाता है। इसी का हम प्रत्यक्ष कर रहे हैं। वात वायु से सर्वथा विभक्त मौलिक भार्गव वायुओं में से प्राणवायु प्रजापति के पूर्वभाग में (पूर्वदिक् में) उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां प्राणवायु का खजाना है। यहां से निकल कर प्राणवायु सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होता है। अतएव पूर्वदिक्स्थ सूर्य के लिए 'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः' [प्र० उ० १।८] यह कहा जाता है। मातरिश्वा वायु दक्षिणदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। यहां से निकलकर यह सर्वत्र व्याप्त हुआ विश्वसृष्टि का स्वरूप संपादक बनता है। पश्चिमदिशा में पवमान वायु उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है। इसी पवमान के लिए— पवमानो हरित आविवेश' (शत० २।२।५।१) यह कहा जाता है। एवं चौथा सवितृ उत्तरदिशा में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता है।

उक्त चारों वायुओं में से पवमान नाम का वायु सौर ब्रह्माण्ड में आकर रुद्रसंसर्ग से पवमान-पावक-शुचि यह तीन रूप धारण कर लेता है। घोरमूर्त्ति रुद्र के सम्बन्ध से यह तीनों वायु घोररूप में परिणत होते हुए घोराग्नि नाम से प्रसिद्ध होजाते हैं। एकादशमूर्त्ति पशुपति (महादेव) की सोम आदि आठ मूर्त्तियें शिव हैं पवमानादि तीनों रुद्रमूर्त्ति है, घोरतनू है। पवमान भूपिण्ड से सक्रान्त रहता है पावक अन्तरिक्ष में व्याप्त रहता है, एवं शुक्र नाम से प्रसिद्ध सूर्यमण्डलरूप द्युलोकस्थ शुचि है। प्राणवायु हमें पूर्व से मिलता है मातरिश्वा दक्षिण से,

पवमान पश्चिम से, एवं सविता उत्तर मे मिलता है । चारों वायु मार्गव हैं चारों का उत्पत्ति स्थान [सूर्य से ऊपर) आपोमय परमेष्ठिमण्डल है । वहां से सौरमण्डल में आकर उक्त दिशाओं में क्रमश उक्त रूप से प्रतिष्ठित होकर उक्त वायु रोदसी त्रैलोक्य के स्वरूपसम्पादक बनते हैं ।

प्राण-पवमानादि चारों वायु सोम आप तीनों भृगु हैं । इस भृगु से आगे जाकर अपना प्राण का विकास होता है । पानी का जो भाग भृगुरूप में परिणत होने से शेष रह जाता है वही 'अप-अर्थात्-परिशिष्यते के अनुसार अथर्वा' कहलाता है । यही परिशिष्ट अपभाग आगे जाकर अङ्गिरा रूप में परिणत होता है । तात्पर्य यह है कि पानी में हमने मधुर क्षार क्षार भेद से दो रस बतलाए हैं । इन में मधुररस भृगुरूप में परिणत होता है शेष क्षारभाग अथर्वा कहलाता है । आप पानी को जमीन पर डाल दीजिये उसका सोमप्रधान मधुर रस तो सूर्यरश्मिगत मधुप्रिय (सोमप्रिय) इन्द्रप्राण द्वारा आकर्षित होकर द्युलोक में चला जायगा इसी को पानी का सूखना कहते हैं । पानी के बाष्परूप में परिणत होकर उड़जाने से जमीन पर एक सुफेद सा धब्बा रह जाता है यह साक्षात् क्षार है । मूत्र में क्षार विशेष मात्रा में रहता है, अतएव इसमें क्षारभाग अधिक मात्रा मे शेष रहता है । मधुररस मधुरूप द्युलोक के सजातीय आकर्षण से द्युलोक में चला जाता है क्षारभाग क्षारप्रधान पृथिवी के आकर्षण से यहीं रह जाता है । इसी परिशिष्ट क्षार का नाम 'अथर्वा' है यही अथर्वा अङ्गिरा का जनक है । दूसरे शब्दों में बरुण पानी का मधुरभाग भृगु का जनक है, क्षारभाग अथर्वा की प्रतिष्ठा है । मधुररस एवं क्षाररस भृगु—और अथर्व नहीं है अपितु इन रसोंमें रहनेवाला प्राण भृगु और अथर्वा है । प्रत्येक प्राणी के स्वेद में दोनों रस हैं । इन में मधुररसावच्छिन्न भागव प्राण तो द्युलोक में चला रहता है एवं क्षाररसावच्छिन्न अथर्वप्राण यहीं इसी के साथ रहजाता है । मनुष्य के चलनें में रहनें के मकान में जहां जहां यह मनुष्य जाता है उन उन स्थानों में अथर्वप्राण अणुरूप से व्याप्त रहता है । इसी अथर्वासूत्र के आधार पर तान्त्रिक लोग कृत्याप्रयोग करनें में समर्थ होते हैं । प्राणियों में श्वानप्राणी (कुत्ता) इस अथर्वा

प्राण का परिज्ञाता है । जिस रास्ते से चोर भागता है, उस रास्ते में उसका अपर्वाप्राण अनु शयरूप से प्रतिष्ठित होता जाता है । कुत्ता अपनी घ्राणेन्द्रिय से अथर्वाप्राण को पहिचानता हुआ चोर का पता लगा लेता है। अथर्वाप्राण का अङ्गिरा से सम्बन्ध है । आग्नेय अङ्गिरा रुधिर में व्याप्त रहता है । इस रक्त सम्बन्ध से एक ही अथर्वसूत्र सन्तानधारा में प्रतिष्ठित होता हुआ जनन-मरणाशौच का संक्रामक बनता है । अथर्वसूत्र द्वारा एक की कौषचिन्ता सारे सगोत्रों में व्याप्त होजाती है । यह निराकारसूत्र यद्यपि चर्मचक्षुओं से नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु इसके कार्यों से इसकी सत्ता स्वीकार करनी पड़ती है । आपका कोई सम्बन्धी आपसे पाँचसौ कोस पर रहता है । यदि उस पर कोई विपत्ति आती है तो तत्काल आपका हृदय व्याकुल हो पड़ता है । यह उसी अथर्वासूत्रसम्बन्ध की महिमा है । विदेशस्थ बन्धु यदि आपको याद करता है तो आपके हिक्का (हिचकी) चलने लगती है । उसके नाम लेते ही हिचकी बन्द हो जाती है, यह अनुभूत विषय है । छोटे बच्चों का मन अथवा सूत्र सोम की प्रधानता से कोमल रहता है । एवमेव सौम्या स्त्री का भी अथर्वाप्राण निर्बल रहता रहता है, अतएव बच्चों एवं स्त्रियों पर कृत्याप्रयोग अधिक एवं शीघ्र सफल होजाता है । (देखिए शत० १४ । ६ । ७ । १ ।) । अथर्वा अङ्गिरा की विश्रामभूमि है अतएव अङ्गिरा को 'अथर्वाङ्गिरा' नाम से भी व्यवहृत किया जाता है । एक ओर भृगु है दूसरी ओर अङ्गिरा है मध्य में अथर्वा है । मध्यपतित अथर्वा का प्रधानरूप से अङ्गिरा के साथ गौणरूप से भृगु के साथ सम्बन्ध है । अतएव तन्मध्यपतित-न्याय से दोनों को अथर्वा मानलिया जाता है । भृगु-अङ्गिरात्मक यह अथर्वा सुब्रह्म है । यह उस वेदमूर्ति ब्रह्म की सबसे पहिली सन्तान है ज्येष्ठ पुत्र है । त्रयीवेद की प्रतिष्ठा न भृगु है न अङ्गिरा है अपि तु समष्टिरूप अथर्वा है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह (मुण्डक० १।१।१)।

+ इस विषय का विशद विवेचन श्रद्धाविज्ञानान्तर्गत प्राणौघविज्ञान में देखना चाहिए ।

अथर्वा रूप है, क्षार है। इससे अंगिरा का विकास होता है, अंगिरासे अग्नि का विकास होता है। उधर भृगु स्नेह तत्त्व है मधुररस है। अथर्व की प्रतिष्ठा यही भृगुवेद है। अत एव भृगु को हम सोमवेद की प्रतिष्ठा कह सकते हैं। परन्तु आग्नेयी अथवात्रयी त्रयीवेद की प्रतिष्ठा बनती है। दूसरे शब्दों में त्रयीवेद अक्सप्पात्रययुक्त अग्नि, वायु, आदित्य मेन्मिम अङ्गिरा पर ही प्रतिष्ठित है। अग्निवेद की प्रतिष्ठा अग्निरूप अङ्गिरा ही बन सकता है।

ऊपर बतलाया गया है कि मध्यपतित अथर्वा दोनों में अन्तर्भूत है। अतएव परमार्थतः भृगु अङ्गिरा यह दो तत्त्व बच जाते हैं। एक मधुप्रधान है तो दूसरा क्षार प्रधान है। सीधी भाषा में एक (भृगु) मीठा पानी है तो दूसरा (अङ्गिरा) खारापानी है। जिस भूप्रदेश में भृगु की प्रधानता रहती है वहां कूपादि का पानी मीठा होता है एवं जहां अङ्गिरा की प्रधानता रहती है वहा खारापानी मिलता है। दोनों ही आपोमूर्ति होनेसे 'अमृत' है, भृगु भी ऋत है अङ्गिरा भी ऋत है। आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) परमेष्ठी ऋत है — 'ऋतमय परमेष्ठी'। यद्यपि पार मेष्ठय मण्डल में भृगु और अङ्गिरा दोनों आपोमय होते हुए ऋत ही हैं, परन्तु आगे जाकर [सौरमण्डल में जाकर] अङ्गिरा सत्यरूप में परिणत होजाता है। भृगु [आप–वायु–सोम] सदा ऋत प्रधान ही रहता है। ऋत अङ्गिरा सत्य का प्रभव बनता हुआ सत्यमूर्ति है भृगु ऋत है। स्वयम्भू प्रजापति के तप से उत्पन्न होने वाले यही ऋत सत्य (भृगु–अङ्गिरा) अहोरात्र के परिग्रहरूप संवत्सरात्मक सूर्य के जनक हैं। यही दोनों 'अर्णव' नाम से प्रसिद्ध रोदसी समुद्र के, एवं द्यावापृथिवीरूप रोदसीत्रैलोक्य के जनक हैं। इसी ऋतसत्यविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः ॥ १ ॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी ॥ २ ॥

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ॥ ३ ॥

[ऋक् सं० १० म० । १९० सूक्त । इति ।

अथर्वा को हमनें ब्रह्मा का ज्येष्ठ पुत्र कहा है । यही अथर्वा अग्नि यम-आदित्य रूप में परिणत होकर भू भुव -स्व इन तीन लोकों का प्रवर्त्तक बनता है । यही 'रोन्सीधाम' है । यह 'अप-अर्थाङ्' रूप अथर्वा से उत्पन्न हुआ है अतएव रोदसी को 'प्रथमधाम' 'अथर्वार्च्य' आदि नामों से व्यक्त किया जाता है । अथर्वा से उत्पन्न होनें वाला अग्नि-यम-आदित्य स्वरूप त्रयीवेद दूसरा वेद है । यही वेद सौरसस्था का स्वरूपसमर्पक बनता हुआ 'गायत्री मात्रिक' नाम से प्रसिद्ध होता है । त्रयीविद्या को साथ लेकर आपोमय समुद्र में प्रविष्ट होनें वाला पुरुष प्रजापति सर्वप्रथम इस अग्नित्रयीवेद को उत्पन्न करता है । विश्व की अपेक्षा स्व यम्भुवब्रह्मनिश्वसित वेद प्रथमज एवं हमारी सौरत्रिलोकी की अपेक्षा यह वेद सर्वप्रथमज है । ब्रह्मनिश्वसित वेद पुरुषाभिनाभूत पुरुषस्वरूपसमर्पक बनता हुआ अपौरुषेय था, परन्तु यह त्रय० वेद इस वेदमूर्ति पुरुष प्रजापति से उत्पन्न होनें के कारण पौरुषेय है । हिरण्मयमण्डलस्थ त्रयीघन जिस सूर्य को आप देख रहे हैं, हमारे ब्रह्माण्ड में सब से पहिले इन्हीं हिरण्यगर्भभगवान् का प्रादुर्भाव होता है । इसी सौरवेदत्रयी की उत्पत्ति का क्रम बतलाती हुई वाजिश्रुति कहती है—

"तस्यां (अपौरुषेयवेद) प्रतिष्ठायां प्रतिष्ठितोऽतप्यत । सोऽपोऽसृजत वाच एव (वेदवाच एव) लोकात् वागेव साऽसृज्यत । सोऽकामयत आभ्योऽद्भ्योऽधिप्रजायेयेति, सोऽनया (अपुरुषविधया) त्रय्या विद्यया सहापः प्राविशत् तत आण्डं समवर्त्तत । तदभ्यमृशत्-अस्त्विति । अस्तु-भूयोऽस्तु-इत्यब्रवीत । ततो ब्रह्मैव प्रथममसृज्यत त्रय्येव विद्या-[गायत्रिमात्रिको वेदः]"

[शत० ६ । १ । १ । १०] ।

त्रयीविद्या ही प्रजापति का पहिला प्रस्वेदाण्ड है। अनन्तर क्रमशः पोषाण्ड यशोण्ड, रेतोऽण्ड भेद से तीन अण्ड और उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार एक ब्रह्म चार अण्डों में परिणत होकर ब्रह्माण्ड कहलाता है। चारों अण्डों की समष्टि ही एक रोदसी ब्रह्माण्ड है इसी का नाम सौरमण्डल किंवा सौरत्रिलोकी-(सौरजगत) है।

स्वायम्भुव वैकल्प्य [महिमामण्डल] व्योम (परमाकाश) नाम से पारमेष्ठ्य वैकल्प्य समुद्र नाम से व्यवहृत होता है, एवं सौर वैकल्प्य ब्रह्माण्ड नामसे प्रसिद्ध है। यह ब्रह्माण्ड उस आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। एवं पारमेष्ठ्य समुद्र स्वयम्भु के वैकल्प्य में (परमाकाश में) बुद्बुदरूप से प्रतिष्ठित है। जैसे व्योम का अधिष्ठाता ब्रह्मनिश्वसितवेदावच्छिन्न स्वयम्भू है, समुद्र का अधिष्ठाता सुब्रह्मावच्छिन्न परमेष्ठी है, एवमेव इस ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न भगवान् सूर्यनारायण हैं। यह ब्रह्माण्ड के प्रथम अधिष्ठाता हैं। इन्हीं का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
यजु ० सं० १३।४)

सर्वप्रथम वेदमयस्वयम्भू ब्रह्म का आविर्भाव होता है, अनन्तर उसके वाग्भाग से आपोमय सुब्रह्म का आविर्भाव होता है। सुब्रह्म भृगु एवं अंगिरामय है। आप-वायु-सोम भृगु हैं अग्नियमादित्य अंगिरा है। तीनों की समष्टि आप है। इनमें से आपोमय अंगिरा से गायत्रीमात्रिक वेद उत्पन्न होता है। अंगिरा से उत्पन्न यह वेदतत्व सूर्यरूप में परिणत होकर उसी भृग्वङ्गिरोमय अप्समुद्र में प्रतिष्ठित होरहा है। वेदमय सत्य स्वयम्भु का पहिला अवतार पानी है। इस आप का पहिला अवतार गायत्रीमात्रिक नाम

● इस विषय का विशद विवेचन हिरण्यगर्भविद्यामूलक मुण्डकोपनिषद् विज्ञानभाष्य में देखना चाहिये।

का सत्यवेद है" यह पूर्व के सन्दर्भ से भलीभांति सिद्ध होजाता है। साथ ही में यह भी सिद्ध होजाता है कि "आपोमय परमेष्ठी अमृत है। अमृत में ही सारा सत्यविश्व प्रतिष्ठित है अमृत परमेष्ठी का कोई भी अतिक्रमण नहीं कर सकता"। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर निम्न लिखित श्रुतिवचन हमारे सामने आते हैं—

१–"तद्यत् तत् सत्यमाप एव तत्। आपो हि वै सत्यम्। अप एव तस्य [ब्रह्मनिश्वसितवेदसत्यस्य] अग्रमकुर्वन्। तस्माद्यदापो यन्ति अथेदं सर्वं जायते यदिदं किंच" (शत ७ कां। ४।१।६।क.)।

२–'अमृतमय परमेष्ठि अमृतं नात्येति किंचन।
अमृते समुद्र आहित अमृते भूमिरिय श्रिता॥"

३–'आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्।
अन्तरेते त्रयोवेदा भृगूनङ्गिरस श्रिताः॥"

४– आप एवेदमग्र आसुः। ता आपः सत्यं [गायत्रीमात्रिकमदसत्यं] असृज्यत। सत्यं ब्रह्म, ब्रह्म प्रजापतिं, प्रजापतिर्देवान् ते देवा सत्यमित्युपासते। तदेतत् त्र्यक्षरं सत्यमिति। स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं, यमित्येकमक्षरम्। प्रथमोत्तमेऽक्षरे सत्य मध्यतोऽनृतम्। तदेतदनृत सत्येन परिगृहीतं सत्यमूयमेव भवति। तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः"।

[शत० १४ कां०। ८।६ १–२]

ब्रह्म–वेद–त्रयी–अग्नि–सत्य अभिन्नार्थक हैं। सुब्रह्म–सुवेद–अथर्व–सोम यह सब अभिन्नार्थक हैं। मन्त्रोपात्त एजत्–अनेजत् तत्त्व यही ब्रह्मनिश्वसित वेद है। पूर्वप्रतिपादित चतुर्विध मार्गव वायुओं में से अन्यतम मातरिश्वा ही मन्त्रगत मातरिश्वा है। इसी मातरिश्वा से आप की उस अनेजदेजद्रूप ब्रह्म में आहुति होती है। इसी से सारे विश्व का स्वरूप सम्पन्न होता है। 'आप' तत्त्व का स्वरूप निर्वचन होचुका। संभव है आप 'आप' के स्वरूप विस्तार

से घबड़ा गये होंगे। अतः इस प्रकरण को थोड़ी देर के लिये यहीं छोड़ दीजिये, एवं मध्य पर दृष्टि डालिये।

पूर्व प्रतिपादित मन्त्रार्थ सम्बन्धी वेदप्रकरण से विज्ञ पाठकों को यह भलीभाँति विदित होगया होगा कि ब्रह्मनिःश्वसित स्वायम्भुव त्रयीवेद का यजु भाग ही सृष्टि का मौलिक तत्त्व है। ऋक्साम सहकारी मात्र हैं। यजु पुरुष है, ऋक्साम नपुंसक हैं, केवल छन्दोरूप है। ऋक्-सामावच्छिन्न यजुर्वेदविद्या—कर्ममय अव्ययपुरुष की विकासभूमि है, अतएव इसे 'पुरुष' शब्द से व्यवहृत किया जाता है। यह यजुपुरुष द्विमात्र की समष्टि है। वस्तुतः इस का नाम 'यज्जू' था है। 'जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाच्यां यवने स्त्रियाम्' इस कोश के अनुसार 'जू' शब्द आकाश का वाचक है, एवं यत् शब्द वायु का वाचक है। यह वायु चतुर्दश विभक्त पवमान मातरिश्वा आदि भार्गववायु, एवं वातवायु आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है। यहाँ का वायु शब्द ऋषि नाम से प्रसिद्ध अमृत प्राण का वाचक है। यह यत्रूप प्राणवायु विशुद्ध गतिरूप है, यही अव्यय के कर्मभाग का विकास है, जूरूप आकाश विशुद्ध स्थितितत्त्व है यही अव्यय के विद्याभाग का विकास है। 'यथाकाशगतो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्' (गी ......) के अनुसार स्थितिरूप आकाश एवं गतिरूप वायु नित्य अविनाभूत हैं। विद्या, स्थिति, आकाश वाक्, जू, यह सब शब्द अभिन्नार्थक हैं। कर्म, गति वायु प्राण, यत्, यह सब शब्द अभिन्नार्थक है। यत्-और जू इन दोनों शब्दों की समष्टि 'यज्जू' वेद है। यही 'यज्जू' शब्द परोक्षप्रिय देवताओं की परोक्षभाषा में 'यजुर्वेद' नाम से प्रसिद्ध है। इसी यजुर्वेद का निर्वचन करती हुई श्रुति कहती है—

> 'अथ वाव यजुर्योऽयं पवते। एष हि यन्नेवेदं सर्वं जनयति। एतं यन्तमिदमनु प्रजायते तस्माद् वायुरेव यजुः। अयमेवाकाशो जूः, यदिदमन्तरिक्षम्। एतं ह्याकाशमनु जवते। तदेतद्यजुर्वायुश्च, अन्तरिक्षं च, यच्च, जूश्च। तस्माद्यजुः। +××। तदेतद्यजुर्ऋक्सामयोः प्रतिष्ठितम् ऋक्सामे वहतः' (शत १०कां।३।५।१२।) इति।

यत् और जू दोनों ही अमृत-मृत्यु भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। अमृत जू अमृता काश है, अमृत यत् अमृत प्राण है। मर्त्य जू मर्त्याकाश है, मर्त्य यत् मर्त्यप्राण है। मर्त्य की प्रतिष्ठा अमृत है। अमृताकाश इन्द्र नाम से प्रसिद्ध है, अमृतप्राण प्राण नाम से प्रसिद्ध है। मर्त्याकाश वाक् नाम से, मर्त्यप्राण वायु नाम से प्रसिद्ध है दोनों अविनाभूत हैं। अमृता काशरूप इन्द्र, और प्राण से देवसृष्टि होती है, मर्त्याकाशरूप वाक् (जिसे इन्द्रपत्नी भी कहा जाता है), एवं मर्त्यवायु से भूतसृष्टि होती है। देव और भूत दोनों सृष्टियों के उपादान अभिन्न हैं अतः देव-भूत का अविनाभाव सिद्ध होजाता है। गौण प्रधानता की अपेक्षा से 'इय देवता' इद भूतम्' यह भेद व्यवहार प्रचलित है। वस्तुतः न देवता भूत के बिना रहता एवं न भूत देवता के बिना प्रतिष्ठित रहता। इस प्रकार अपनी मर्त्यकला से भूतसृष्टि का, अमृत कला से देवसृष्टि का अधिष्ठाता बनता हुआ प्रकृत्सामावच्छिन्न यजुपुरुष ही सब कुछ बन रहा है—'पुरुष एवेदं सर्वम्'।

उपनिषदर्थ का समन्वय करने वाले व्याख्याताओंने मन्त्रगत 'मातरिश्वा' वायु को सूत्र वायु' समझा है। कहना नहीं होगा कि वैज्ञानिक पदार्थों के पृथक्करण को न समझने के कारण कैसी कैसी भयङ्कर भूलें होजाती हैं। सूत्रवायु तो हमारा यत् नाम का 'प्राणवायु' है। इसी को सूत्रात्मा कहा जाता है। 'वायु र्वै गौतम तद् सूत्रम्' शत० १४ कां ६।७।४।) से स्वायम्भुव वेदमूर्ति सूत्रवायु ही अभिप्रेत है। सूत्रात्मा स्वयम्भू का मनोता है, (देखिए ई० वि० भा० १९९ पृ०)। ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्ररूप हृदयाक्षरों की समष्टि अन्तर्यामी है, अग्निसोम की समष्टि, किं वा सोमगर्भित अग्नि सूत्रात्मा है। अग्नि सत्यवेत्ः है। यही सूत्रसत्य है। उधर मातरिश्वा मार्तिश्वावायुरूप बनता हुआ परमेष्ठी का मनोता है।

यजुर्ब्रह्म विश्व का उपादान होने से ब्रह्म है। इसमें दो कलाएं हैं अतएव यह द्विब्रह्म' का सहकारी इसी से उत्पन्न होने वाला सुवेद सुब्रह्म है। यजु अङ्गिरा के अवस्था भेदों से यह सुब्रह्म आप वायु सोम अग्नि यम आदित्य इन ६ भागों में विभक्त है। अतएव इस

'आपब्रह्म' को हम 'परब्रह्म' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। त्रिब्रह्म के समन्वय से सब कुछ उत्पन्न हुआ है। त्रिब्रह्म का (मर्त्य) वाग्भाग (इन्द्रपत्नी) उसी प्राणरूप मन् के व्यापार से पानी बना है। यही पानी अम्म है, वाष्पात्मक है। अतएव पाञ्चभौतिक सृष्टिक्रम में इसे 'वायु' कहा जाता है। 'अपोऽराप' यह सिद्धान्त सर्वविदित है। एवं– 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' [शत १०कां।५।१।१।] के अनुसार मर्त्याकाशरूपा वाक् (इन्द्रपत्नी) साक्षात् अग्नि है। यही तो प्राणव्यापार से क्षुब्ध होकर अम्भरूप वाष्पात्मक पानी के रूप में परिणत हुआ है जैसा कि–'वागेव सासृज्यत' इत्यादि रूप से पूर्व में स्पष्ट कर दिया गया है। इस वायुमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में इसी के अग्निभाग से देवाग्नि नाम से प्रसिद्ध गायत्रीमात्रिक अग्नि उत्पन्न होता है। यही पौरुषेय वेदाग्नि है, यही सूर्य है, 'त्रयीमयाय त्रिगुणात्मने नमः'। सौर रश्मियें 'मरीचि' नाम से प्रसिद्ध हैं। इनके घर्षणसे मर पानी उत्पन्न होता है। मूर्च्छित मरीचि अग्नि ही मर पानी है सौराग्नि से उत्पन्न यही पानी आगे जाकर क्रमशः आप–फेन–मृत–सिकता–शर्करा–अश्मा–अय–हिरण्य रूप में परिणत होता हुआ भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक बनता है। इसप्रकार यह एक ही वाक्–[सत्याकाश–मर्त्यवाक्] वाक् (आकाश) वायु, अग्नि, पानी मिट्टी इन पांच रूपों में परिणत होजाता है। पांचों भूत वाङ्मय हैं। तभी तो–'वागेवेदं सर्वम्' (ऐ०आ १।१।६) 'वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता' इत्यादि ... विश्वाभुवनान्यर्पिता' (तै० ब्रा २।८।८।५) यह कहना चरितार्थ होता है। प्रजापति (षोडशी) तक वेद का आरम्भ है। शब्दतन्मात्रारूप अतएव शब्दनाम से व्यवहृत वेदवाक् उस आत्मप्रजापतिरूप ब्रह्मा के निश्वास हैं यही वेद वाक् आकाश है यही विश्व का मूल है। इसी वेदमूला, अतएव वेदमयी सृष्टि का निरूपण करते हुए श्रुति कहते हैं–

'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी' [तै उ २।१]॥

षाट्कौशिकमिदंसर्वम्

	१–१अक्षाक्षर प्राणमय षोडशीप्रजापति ⟶ 'आत्मा'	
प्रजापतिसम्पत्ती	२–१–यत-गर्भितो मूः–स्वयम्भूः ⟶ आकाश (आकाश)	शरीरम्
	३–२–मापोमयं सुमना–परमेष्ठी ⟶ वायु (वायु)	
	४–३–मघीघन–सूर्यः ⟶ अग्नि [तेज]	
	५–४–मुष्किता आपः–चन्द्रमा ⟶ आपः [जल]	
	६–५–पृथमयी–पृथिवी ⟶ पृथिवी [पृथिवी]	

'अनेजदेकम्', इत्यादि मन्त्र यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता हुआ इसी आत्मन्वी प्रजापति का विश्लेषण करता है। यजुर्ब्रह्म का अनेजत् भाग सोपाधिक विद्याभाग है, एजत् भाग सोपाधिक कर्मभाग है। यसाचबद्धरूप विद्याकर्ममय अव्यय ही यजु है। इस यजुर्ब्रह्म की व्याप्ति कहां तक है? उत्तर है 'मायावल'। जहां तक मायी महेश्वर व्याप्त है, वहां तक वेदतत्व व्याप्त है। तभी तो उसे 'वेदमूर्ति' शब्दसे व्यवहृत किया जाता है। जहां तक मायी अव्यय व्याप्त है, वहां तक तद्ब्रह्मप्रकृतिभूत अक्षरात्मक्षर व्याप्त हैं। सुतरां आत्मक्षर के प्राणरूप विकारक्षर से सप्त पञ्चीकृत प्राणपञ्चजन के विवर्तभूत वेदपुरञ्जन की सत्ता वहां तक सिद्ध होजाती है। इस मायाचक्र को सामने रखिए, मन्त्र का अर्थ कीजिए, स्थितिगतिरूपा सारी वस्तुस्थिति स्पष्ट होजायगी।

संसार में गतितत्त्व अवयवगति, अवयवीगति, उभयगति भेद से तीन मार्गों में विभक्त है। रथचक्र की गति उभयगति है। रथ का पहिया (अवयवी) भी चलरहा है, एवं पहिये के अवयव भी चलरहे हैं। कुम्हार के चक्र [चाक्] की गति अवयवगति है। चक्र जरा भी नहीं चलता, अवयव जरा भी नहीं ठहरते। पूर्वदेश परित्यागपूर्वक उत्तरदेश का संयोग करना ही

गति है। चक्र अपने नियत कीलक से अणुमात्र भी नहीं चलरहा। वह एक स्थान पर ही रहता हुआ भ्रम रहा है। वह क्या घूम रहा है, उस के अवयव घूम रहे हैं। एव अतएव चक्र की गति अवयवगति है। हम ट्रेन में बैठे हुये चल रहे हैं। हमारे अवयव नहीं चल रहे अपि तु हम (अवयवी) चलरहे हैं। इन तीनों गतियोंमें से प्रकृतमन्त्र केवल अवयवगति का निरूपण करता है। मायाशक्तियुक्त वेदघन ईश्वर सर्वथा स्थिर है। वृक्षवत् स्तब्ध है। एव ईश्वरशरीर में प्रतिष्ठित यावत् पदार्थ पदार्थों के परमाणु परमाणु गतिशील हैं। व्यापकदृष्टि से संसार सर्वथा स्थिर है अपने स्वरूप से खड़ा है। व्यक्तिदृष्टि से सब अस्थिर हैं। यदि व्यक्तिभाव को छोड़कर आप विश्व को अपनी दृष्टि में लावेंगे तो यह आपको सर्वथा स्थिर दिखलाई देगा, व्यक्तिभाव को सामने रखने से यही गतिशील मिलेगा। अवयवी स्थिर है, अवयव चल हैं, यही तात्पर्य है।

आप्त महर्षियों की दूरदर्शिता का जब हम विचार करने लगते हैं तो हमें आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। निगूढतम जिस अध्यात्मविद्या के स्वरूप को यथावत् पहिचानना बड़ी कठिन समस्या है, ऋषियोंने व्यावहारिक (लौकिक) दृष्टान्तों द्वारा उसे इतना सरल बना रक्खा है कि उसे समझने में एक बालबुद्धि भी सहज में ही समर्थ होजाय। कुम्भकार (कुम्हार) लोकभाषा में 'प्रजापति' नाम से प्रसिद्ध है। घट-उदञ्चनादिमृण्मय पात्रों का निर्माण करने वाले, वर्ण से शूद्र मनुष्य का ऋषियोंने 'प्रजापति' नाम रक्खा, जो कि प्रजापति शब्द विश्व विधाता प्राता (ईश्वर) का वाचक है। साधारण दृष्टि से विचार करने पर कुम्भकार की इस प्रजापति सत्ता में कोई विशेष महत्त्व नहीं मालुम होता। परन्तु जब इस सत्ता का सूक्ष्मेक्षण किया जाता है तो प्रतीत हो जाता है कि कुम्भकार वास्तव में प्रजापति का अवतार है। जैसी स्थिति सृष्टिनिर्माता ईश्वर प्रजापति की है ठीक वैसी ही स्थिति इस प्रजापति (शूद्र) की है। घटनिर्माणप्रक्रिया में कुम्भकार मिट्टी दण्ड चक्र, सूत्र, भूपिण्ड, पानी यह सात उपकरण अपेक्षित हैं। इस कारणसमष्टि से घटकार्य उत्पन्न होता है। इन में भूपिण्ड कुम्भकार एवं चाक [चाक] का आधार है। कुम्भकार भी जमीन पर बैठता है एवं चक्र भी कील के आधार पर भूपिण्डपर रहता है। कुम्भकार निमित्तकारण है, घट बनाने वाला है। सूत्र-दण्ड

असमवायिकारण हैं, मिट्टी उपादान कारण है, पानी सहकारीकारण है। कुम्हार मिट्टी में पानी डालकर उसको स्निग्धमान समाकार पिण्ड बना लेता है। अनन्तर चक्र के समीप नियत स्थान पर बैठकर चक्रपर मृत्पिण्ड रख देता है। अनन्तर कीलक से बद्ध चक्र को दण्ड से बड़े वेग से घुमाता है। घूमते हुए चक्र पर रक्खे हुए मृत्पिण्ड में हस्तकौशल से अपने बौद्धघट [ज्ञानात्मघट] का आकार देता जाता है। थोड़ी देर में घट उत्पन्न होजाता है। निर्माण होने के अनन्तर सूत्र [डोरी—अथवा चीरा—चिमटा] से घट को चक्र से पृथक कर भूपृष्ठपर सूखने के लिए रख देता है। सूख जाने पर अग्नि द्वारा उसे पकाता है। अग्नि सम्बन्ध से घट का विनाश हो जाता है। अग्नि सब से पहिले घट के मृत्परमाणुओं को शिथिलित कर डालता है। इस अग्निशिथिलन से परमाणुओं की सन्धि में प्रतिष्ठित पानी धूम बनकर उत्क्रान्त हो जाता है। इसी शिथिलन प्रक्रिया का नाम न्यायदर्शनानुसार 'घटनाश' है। पानीको निकाल कर सन्धिस्थानों में स्वयं अग्नि अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित होजाता है। इस अग्निसंधान से रक्तपरमाणु दर्शन के शब्दों में श्यामघट पुनः सृष्टि होता हुआ परिपक्व बन जाता है। इस प्रकार इस पिठरपाक के अनन्तर घट सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है। घट का स्वरूप [आकार] सभी को विदित है। ऊपर की ओर गोलाकार मुख होता है, मध्य में विपुलोदर होता है, पेंदा उठा हुआ होता है, यह तो हुई इस [कुम्भकार] प्रजापति की सृष्टि अब चलिए उस [ईश्वर] प्रजापति की ओर।

अव्ययतत्त्व कुम्भकार [निमित्त कारण] है। पञ्चकोशात्मक अव्ययप्रधान सूत्र [आलम्बन] है। पूर्वोक्त सूत्रवायु ही सूत्र है। यजुर्वेद चक्र है। इसी वेद का घर मर्त्यभाग मिट्टी [उपादान] है। प्रजापति की प्रजानीति दण्ड है, इसी को 'ब्रह्मदण्ड' कहाजाता है। सुप्रसिद्ध आपोमय पानी [सहकारी कारण] है। विश्वनाभि में [केन्द्र में] यह यजुश्चक्र बन है। इस की स्थिति ठीक कुम्हार के चक्र जैसी है। चक्र स्वयं ही घूम रहा है, परन्तु समुदाय [अवयव] सर्वथा स्थिर है। इस चक्र पर प्रजापति ऋग्वेदरूप मृत्पिण्ड रखता है। यह ऋग्वेद यहाँ हमारा

सुप्रसिद्ध यज्ञमीमांसिकवेद है। यही वेद आगे जाकर घटरूप में परिणत होता है। भूः-भुवः स्वः तीनों लोकों की समष्टि एक घट है। यही त्रिमूर्ति घट चयन यज्ञ में 'उखा' नाम से प्रसिद्ध है। भूलोक इस का बुध्न (पेंदा) है, भुवर्लोक उदर है, द्युलोकरूप कण्ठ सूप मुख है। एक संवत्सर पर्यन्त इस घट में अग्नि रक्खा रहता है। अनन्तर उस का चयन होता है। त्रैलोक्यरूप उखा (घट) के परमाणु परमाणु में अग्निचिति हो जाती है। यही चिति संवत्सरों से पांच मार्गों में विभक्त हो जाती है। चिति से घट सर्वात्मना सक्षम हो जाता है। इसी प्राजापत्य घट का विशुद्धरूप बताती हुई अग्निरहस्यश्रुति कहती है—

१—'इमे वै लोका उखा' [श० ७।५।२।१७]
२—'प्राजापत्यमेतत् कर्म यदुखा' [श० ६। । ।४।]
[शत० ६।७।१।१३॥ ७।५।२।२॥ ६।२।१।२४।]

प्रजापति से निर्मित सारी पार्थिव प्रजा घटस्वरूप में परिणत होकर ही प्रतिष्ठित हो रही है। इस प्रकार कुम्भकारसृष्टि एवं प्राजापत्यसृष्टि दोनों समानधर्मा है। इसी सृष्टिरहस्य के निरूपण के लिए श्रुतियोंने कुम्भकार की 'प्रजापति' संज्ञा रक्खी है। स्वयं मार्कण्डेयने कुम्भकार के चक्र से प्रजाविद्या का स्वरूप पहिचानते हुए कुम्भकार को अपना गुरु माना था। सचमुच जो स्वरूप इस प्रजापति के चक्र का है, वही स्वरूप इस पशुपचक्र का है। यह गोल है तो 'सर्वत पाणिपादं तत्' के अनुसार यह भी सर्वतोवृत्त है। यह घूमता हुआ अनुरूप रूपसे स्थिर है तो यह भी अवयवपक्षेण एजत् बनता हुआ समुदायपक्षेण अनेजत् है। मानो हमारा यह (कुम्भकार) प्रजापति उस (ईश्वर) प्रजापति के साथ स्पर्धा कर रहा है। इसी आधार पर ऋषि की 'पयसां निर्माविधिभुवनविधातुश्च कलहः'' यह सूक्ति प्रचलित है।

जैसे न चलने वाला चाक, और चलने वाले अवयव एक ही स्थान पर हैं, इसी प्रकार न चलने वाला जू और चलने वाला यत् दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय है। स्थिति गति दो विरुद्धभावों का अधिष्ठाता चक्र जैसे एक है, एवमेव यत् और जू के दो होने पर भी यजु

ब्रह्म एक है। वह एक ही तत्त्व यत् की अपेक्षा से सर्वथा अनेजत् है, यत् की अपेक्षा से वही एजत् है। वही एजत् है, वही अनेजत् है। वह मन से भी जवीय [वेग दौड़ने वाला] है। आधिभौतिक जगत् में तेज चलने वाला वायु है। आध्यात्मिक जगत् में वायु से भी शीघ्रगामी मन है। इन दोनों में यही गति आई हुई है। जिस यद्भाग के आगमन से वायु और मन जब शीघ्र गामी बन जाते हैं तो उस यत् के गतिवेग का क्या कहना है। वह तो स्वयं गतिरूप ही है। इस स्वयगति की गतिमान् वायु और गतिमत् मन कैसे समता कर सकते हैं। मन में इन्द्र विद्युत् है, विद्युदिन्द्र गतिशील है। मन में प्रतिष्ठा ब्रह्म [स्थिति भाग] की अल्पता ही मन की द्रुतगति में मुख्य कारण है। उधर वह शुद्ध गतिरूप होता हुआ सचमुच 'मनसो जवीयः' है बात यथार्थ में यह है कि अनेजदेजत् की समष्टि से आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक प्रपञ्च का निर्माण होता है। फलतः आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक पदार्थों में [प्रत्येक में] स्थिति—गति दोनों भावों की सत्ता सिद्ध होजाती है। आप जितने भी गतिमान् पदार्थ देख रहे हैं, विश्वास कीजिए (गतितारतम्य से) उनमें थोड़ी बहुत स्थिति अवश्य है, जितने भी स्थितिमत् पदार्थ हैं उन सबमें (स्थिति के तारतम्य से) गति अवश्य है। विशुद्धगति—और विशुद्धस्थिति रूप पदार्थ न आधिभौतिक जगत् में है न आध्यात्मिक जगत् में। कारण इनका उपादान स्थितिगति की समष्टि है। कहीं स्थिति तत्त्व प्रधान है तो कहीं गतितत्त्व। परन्तु हैं प्रत्येक में दोनों। यदि स्थिति में से गति को सर्वथा निकाल दिया जाता है तो वह स्थिति गतिरूप में परिणत होजाती है। एवमेव यदि गति में से स्थिति सर्वथा निकल जाती है तो वह गति स्थिति रूप में परिणत होजाती है। उदाहरण के लिए ५ मनुष्य अपने घर से ठीक नियत समय पर एक साथ बगीचे के लिए रवाना होते हैं। इनमें कुछ आदमी तो जल्दी पहुंच जाते हैं, कुछ देर से पहुंचते हैं। इसका क्या कारण? उत्तर यही होगा कि जो शीघ्र चला वह शीघ्र पहुंच गया, जो मन्दगति से चला वह देर से पहुंचा। इसका अर्थ यह हुआ कि जिसने जल्दी जल्दी पैर उठाए वह जल्दी पहुंचा, एवं जिसने धीरे धीरे पैर उठाए वह देर से पहुंचा। निष्कर्ष यह हुआ कि जिसने अपने पैरों में स्थिति कम रक्खी एवं गति अधिक रक्खी वह जल्दी पहुंचा,

जिसमें गति कम रक्खी एवं स्थिति अधिक रक्खी वह देरसे पहुंचा । इस स्थिति—गति के तार तम्य से गति में अन्तर होगया । मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घंटेभर में पहुचा वहां दूसरा आध घटे में, तीसरा १५ मिनिट में, चौथा पांच ही मिनिट में पहुच गया । चौथिये चौथा आदमी दो मिनिट में ही पहुच गया । आश्चर्य—पांचवां तो एक ही मिनिट में आ पहुचा । एक मिनिट में पहुचनें वाला ऐसे वेग से चला कि उसनें कब पैर रक्खा, कब उठाया यह अनुमान लगाना ही कठिन होगया । वह ठहरता सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखलाई दिया । फलत यह सिद्ध होगया कि अपनें घर से एक मिनिट में पहुचनें वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी , तभी तो वह एक मिनिट में पहुच गया । कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में नियत स्थान पर पहुंचनें में एक मिनिट जायगा, यदि वह अल्पस्थिति भी उस की गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा । एसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुच जायगा । एक क्षण में नहीं पहुंचेगा, अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में बगीचे में मिलेगा । इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जानें से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी । क्या ऐसा होना सम्भव है ? नहीं । स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेंवाले मनुष्य में (मनुष्योपलक्षित पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती । उस में अवश्य ही स्थिति रहती है । ऐसा तत्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है । मन में थोडी बहुत स्थिति है, परन्तु उस विद्युद्गति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से जरा भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां—वहां—ऊपर—नीचे—सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है । प्रजापति के स्थितिरूप अतएव व्यापक इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रखकर— 'मनसो जवीयः' कहा गया है ।

एक पुस्तक मेज पर रक्खी हुई है । पुस्तक स्थिति (ठहराव)—भाव से आक्रान्त है । परन्तु विज्ञान कहता है कि आप इसे चलती हुई समझिए । स्थिररूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जाती है । यह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से अवरुद्ध होती हुई स्थितिभाव में परिणत होती है । आप पूर्व में बैठे हैं । पुस्तक आपसे पश्चिम रक्खी हुई है ।

यदि आप पुस्तक को अपनी ओर खीचेंगे तो पुस्तक की पश्चिमागति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिग्गति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तक में से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में परिणत होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्क्रान्त होजायगी । वह पदार्थ गतिगर्भ में विलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस मूलब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता-दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्व अविना भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्थक्य समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को लक्ष्य बना कर ऋषिनें—'मनसो जवीयः' यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके जैसा तो नहीं है ।

पूर्वकथनानुसार यही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रवर्तक है । देवता प्राणघन है । प्राण स्वयं गतिरूप अवश्य है परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अभाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होने से प्राणघन देवताओं में आंशिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौड़ते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्षत्) प्रजापति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मसंस्था में इन्द्रिय देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिय हैं । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । हृदय आत्मप्रकाश इन्द्रियदेव ताओं में आता है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणेन्द्रमूर्त्ति प्रज्ञागमन से सञ्चालित इतस्ततः सांसारिक विषयों की ओर अनुधावन करने वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्षत् आत्मतत्त्व को प्राप्त करने में कैसे समर्थ हो सकते हैं । यह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् कहती है—

जिसमें गति कम रक्खी एवं स्थिति अधिक रक्खी वह देरसे पहुंचा । इस स्थिति-गति के तार तम्य से गति में अन्तर होगया । मान लीजिए एक व्यक्ति जहां घन्टेभर में पहुंचा वहां दूसरा आध घंटे में, तीसरा १५ मिनिट में, तीसरा पांच ही मिनट में पहुंच गया । लीजिये चौथा आदमी दो मिनिट में ही पहुंच गया । आश्चर्य-पांचवां तो एक ही मिनिट में आ पहुंचा । एक मिनिट में पहुंचनें वाला ऐसे वेग से चला कि उसनें कब पैर रक्खा, कब उठाया यह अनुमान लगाना भी कठिन होगया । वह ठहरता सा न दिखाई देकर चलतासा ही दिखलाई दिया । फलत यह सिद्ध होगया कि अपनें घर से एक मिनिट में पहुंचनें वाले व्यक्ति की गति (चाल) में स्थिति (ठहराव) बहुत कम थी , तभी तो वह एक मिनिट में पहुंच गया । कल्पना कर लीजिये, जिस अल्पस्थिति में नियत स्थान पर पहुंचनें में एक मिनिट लगता, यदि वह अल्पस्थिति भी उस की गति में से निकाल दी जाय तो क्या होगा । ऐसी स्थिति में उसे एक मिनिट भी न लगेगा अपि तु एक क्षण में ही वह वहां पहुंच जायगा । एक क्षण में नहीं पहुंचेगा अपि तु जिस क्षण में वह घर रहेगा उसी क्षण में बगीचे में मिलेगा । इस प्रकार स्थिति के सर्वथा निकल जानें से उसकी गति स्थितिरूप में परिणत होजायगी । क्या ऐसा होना समव है ? नहीं । स्थितिगति दोनों की समष्टि से उत्पन्न होनेंवाले मनुष्य में (मनुष्योपलक्षित पदार्थमात्र में) शुद्धगति नहीं रह सकती । उस में अवश्य ही स्थिति रहती है । ऐसा तत्त्व तो केवल वह प्रजापति ही हो सकता है । मन में थोड़ी बहुत स्थिति है, परन्तु उस विशुद्धगति में स्थिति के आत्यन्तिक अभाव से जरा भी ठहराव नहीं है, तभी वह एक ही क्षण में यहां-वहां-ऊपर-नीचे-सर्वत्र उपलब्ध हो जाता है । प्रजापति के स्थितिरूप अतएव व्यापक इसी गतिरहस्य को लक्ष्य में रखकर- 'मनसो जवीयः' कहा गया है ।

एक पुस्तक मेज पर रक्खी हुई है । पुस्तक स्थिति (ठहराव)-भाव से आक्रान्त है । परन्तु विज्ञान कहता है कि आप इसे चलती हुई समझिए । स्थिररूप से प्रतीयमान पुस्तक एक ही क्षण में चारों ओर जाती है । यह गतिसमष्टि ही एक दूसरी गति से अवरुद्ध होती हुई स्थितिभाव में परिणत होती है । आप पूर्व में बैठे हैं । पुस्तक आपसे पश्चिम रक्खी हुई है ।

यदि आप पुस्तक को अपनी ओर खींचेंगे तो पुस्तक की पश्चिमागति निकल जायगी । दूसरे शब्दों में जबतक पश्चिमदिग्गति को आप पुस्तक में से निकाल न देंगे, तब तक पुस्तक पूर्व की ओर न आसकेगी । इस प्रकार स्थित पुस्तक में से गति के निकाल देने से पुस्तक की स्थिति गतिरूप में परिणत होजायगी । निदर्शन मात्र है । संसार में जितने भी स्थिर पदार्थ हैं, वे निरन्तर चारों ओर चल रहे हैं यदि चारों ओर की गति निकाल दी जायगी तो पदार्थ की स्थिरता सर्वथा उत्क्रान्त होजायगी । वह पदार्थ गतिगर्भ में विलीन हो जायगा । इस निदर्शन से बतलाना यह कि विशुद्धस्थिति एवं विशुद्धगति उस भूतब्रह्म का ही स्वरूप है । यद्यपि सत्ता दृष्टि से उसे भी विशुद्धगति, स्थितिरूप नहीं माना जासकता । कारण दोनों तत्व अविना-भूत हैं । तथापि विश्व और उस के पार्थक्य समझने के लिए बौद्धजगत् में उस की विशुद्धता की भावना की जासकती है । इसी बौद्धप्रत्यय को लक्ष्य बना कर ऋषिने—'मनसो जवीयः' यह कहा है । इस से बतलाना केवल यही है कि सम्पूर्ण विश्व में उसके जैसा तो वही है ।

पूर्वकथनानुसार वही ज्योतिर्मयी देवसृष्टि का प्रवर्तक है । देवता प्राणघन है । प्राण स्वय गतिरूप अवश्य है, परन्तु इस का विकास सूर्य में होता है । देवता भी इतर पदार्थों की तरह एक पदार्थ है । अतः गतिरूप प्राण की प्रधानता रहने पर भी इन में स्थिति का आत्यन्तिक अभाव नहीं माना जासकता । जब प्रजापति के पश्चात् उत्पन्न होनें से प्राणघन देवताओं में आंशिकरूप से स्थिति विद्यमान है तो प्राण की प्रधानता से दौड़ते हुए भी देवता उस पूर्वप्रतिष्ठ (पूर्वमर्षत्) प्रजापति को कैसे प्राप्त कर सकते हैं । अध्यात्मपक्ष में इन्द्रिय देवता हैं । मुख्य-प्राण का विकास ही इन्द्रिय हैं । आत्मा हृदय में प्रतिष्ठित है । इस्य आत्मप्रकाश इन्द्रियदव ताओं में आता है । इन्द्रियों के द्वार बहिर्मुख हैं । ऐसी अवस्था में प्राणैकमूर्ति प्रज्ञानमन से सञ्चालित इतस्ततः सांसारिक विषयों की ओर अनुधावन करनें वाले इन्द्रियदेवता उस पूर्वमर्षत् आत्मतत्व को प्राप्त करन में कैसे समर्थ हो सकते हैं । वह पूर्व है, यह पर है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर उपनिषद् कहती है—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥
(कठ० उ० २।१।१)

इसी अभिप्राय से—'नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' यह कहा गया है। वह इन्द्रियातीत है, इन्द्रियागम्य है, यही तात्पर्य है।

आत्मा हृदय में है, देवता उससे पर हैं। तो क्या देवता [इन्द्रियों] और देवताओं के विषय में (भौतिकपदार्थों में) आत्मा नहीं है? इसी प्रश्न के समाधान को लक्ष्य में रखती हुई श्रुति आगे जाकर कहती है—'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्'। देवता उसे पकड़ कैसे सकते हैं, जब कि वह स्वस्थान में बैठा बैठा ही दौड़ लगाने वाले देवताओं के आगे से आगे प्रतिष्ठित रहता है। अनेजत् रूपा वह तिष्ठत् है, एजत् रूपा देवताओं का अतिक्रमण करने वाला है, जैसा कि पूर्व में स्थिति-गति का तारतम्य बतलाते हुए कहा जा चुका है। वह सर्वथा व्यापक है। उस के आश्रय में सब कुछ प्रतिष्ठित है, परन्तु वह किसी में प्रतिष्ठित नहीं है। 'न त्वहं तेषु ते मयि'। इस का तात्पर्य यह है कि आधेय आधार के बिना नहीं रह सकता, किन्तु आधार स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रह सकता है। उसे आधेय की अपेक्षा नहीं होगी।

प्रकरण के सारे प्रपञ्च का निष्कर्ष यही हुआ कि "महामायावच्छिन्न ईश्वरस्वरूप यजुर्ब्रह्म भी ईश्वरवत् महामायावच्छिन्न होता हुआ व्यापक है।" यह मूलवेद महेश्वर का निश्वसित है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

'एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य [महेश्वरस्य] निश्वसितमेतदृग्वेदो
यजुर्वेदः सामवेदः +++ अस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि"
[श० १४।५।४।१०] इति।

महतोभूत यही व्यापी महेश्वर है। तन्मूर्ति वेद से कोई स्थान रिक्त नहीं है। यह एक स्तम्भवत् खड़ा हुआ महावृक्ष [अश्वत्थवृक्ष] है। उस का एक भाग सर्वथा स्थिर है एक

आत्यन्तिक घर है। यही यजुर्ब्रह्म नाम का त्रिब्रह्मप्रजापति है। इसी का निरूपण करते हुए मन्त्र के तीन पाद हमारे सामने आते हैं। विश्वनिर्माण आप् की आहुति से होगा। यह इस प्रजापति का चौथा पाद है। तीन पाद विश्व के आधार किन्तु विश्वातीत हैं। इस लिए त्रिद-त्रिपाद्विभूति विज्ञान को लक्ष्य में रखकर मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने तीन पादों से तो विशुद्ध ब्रह्म का निरूपण किया है, एवं एक [चौथे] पाद से विश्व का निरूपण किया है। यही तो मन्त्र का मन्त्रत्व है यही वेदवाणी का उत्कर्ष है।

"अनेजदेकं मनसो जवीयो, नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्.............................. ॥"

उक्त त्रिपान्मन्त्र सृष्टि के मूलाधार का निरूपण करता है। सृष्टि ससृष्टिमात्र पर निर्भर है। ससृष्टि ही यज्ञ है, एक में दूसरे का आहुत होना ही यज्ञ है, अग्नि में सोम का आधान करना ही यज्ञ है। इसी विश्वात्मक यज्ञपाद का निरूपण करता हुआ निम्न लिखित चतुर्थपाद हमारे सामने आता है——

"तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति"

त्रिब्रह्म नामक यजुर्ब्रह्म के चतुर्भाग से तप–श्रम–द्वारा पद्ब्रह्म नाम का अम्ब्रह्म [शुक्रब्रह्म] उत्पन्न हुआ यह कहा जा चुका है। प्रकरणसंगति के लिए केवल यही समझलेना पर्याप्त होगा कि पदार्थ की उत्पत्ति में [चाहे वह चेतन हो, या अचेतन] योनि, रेत, रेतोधा इन तीनों भावों की अपेक्षा रहती है। रेत उत्पत्ति का कारण है उपादान कारण है। परन्तु विशुद्ध रेत सृष्टि करने में असमर्थ है। अन्य प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर ही यह प्रजनयिता बनता है। बीज ही वृक्ष बनता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। परन्तु भूगर्भ में प्रतिष्ठित हुए बिना वह प्रजनन कर्म में असमर्थ है। इस प्रकार जो द्रव्य वस्तु का उपादान बनता है—वह तो रेत है, एवं

* "त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः" (यजु सं ।)

जिस प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित होकर यह अपनी प्रजननशक्ति को विकसित करने में समर्थ होता है, वह प्रतिष्ठाभूमि योनि है। बीजरूप रेत भी है, योनिरूप भूगर्भ भी है। परन्तु फिर भी काम नहीं चलता। बीज को भूगर्भ में डालनेवाला तीसरा पदार्थ [कर्त्ता–बीजवपनकरने वाला] और होना चाहिए। यही तीसरा तत्त्व रेत का योनि में आधान करता हुआ–'रेतोधा' नाम से प्रसिद्ध है। वैधयज्ञ में अग्नि योनि है, सोम रेत है, आहुति देने वाला अध्वर्यु रेतोधा है। रेत का आधाता योनि में रेत का आधान करता है, तदनन्तर ही प्रजासृष्टि किंवा पदार्थोत्पत्ति होती है। सृष्टिकामुक विश्व प्रजापति सृष्टिनिर्माण करना चाहता है। सृष्टिप्रक्रिया में रेत–रेतोधा–योनि तीन भाव अपेक्षित हैं। इधर प्रजापति के पास सिवाय अपने आप के (महाग्निरूप पशुब्रह्म के) दूसरी वस्तु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति के लिए (कामना की कृपा से) उसे अपने आपको ब्रह्म-सुब्रह्म इन दो रूपों में परिणत होना पड़ता है। एक भाग से यह ब्रह्म बनता है, एक भाग से सुब्रह्म बनता है। ब्रह्म पशु है, सुब्रह्म आप है। पशु अग्नि है, यही योनि है। आप सोम है, यही रेत है। सुप्रसिद्ध भार्गव मातरिश्वा नामक वायु रेतोधा है। आहुतिरूप आपोमय में आप–वायु–सोम–अग्नि–यम आदित्य यह ६ भाग बतलाए गए हैं। इन में अंगिरा नामक, यम वायु– 'यमो वै अवसानस्येष्टे' (शत० ७।१।१।१) के अनुसार [उपमर्दियम] सृष्टि का प्रवर्तक नहीं, अपि तु निवर्तक है, विच्छेदक है। सृष्टि शिववायु से होती है। शिववायु यही भार्गववायु है। इसकी प्राण–पवमान–मातरिश्वा–सविता इन चारों अवस्थाओं का पूर्व में निरूपण किया जा चुका है। इन चारों में पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा वायु ही आप्रूप रेत का आधान करता है। पूर्व प्रतिज्ञानुसार मातरिश्वा के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक होगया है।

माता पृथिवी का नाम है, पृथिवी शब्द पिण्डमात्र का उपलक्षण है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। प्रत्येक पिण्ड अग्निमय है। यह अग्नि चित्य चितेनिधेय भेद से दो भागों में विभक्त है। चित्याग्नि से वस्तुपिण्ड बनता है, चितेनिधेय से वहिर्मण्डल का स्वरूप सम्पन्न होता है। इन दोनों में चित्यपिण्ड को संकेतभाषानुसार 'पृथिवी' कहा जाता है, एवं चितेनिधेयमण्डल को दिव्यप्राण के समावेश से 'द्युलोक' कहा जाता है। इस प्रकार प्रत्येक

वस्तु में पिण्डपृथिवी महिमापृथ्वी इन दो भावों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। सविता, प्राण, पव मान इन तीनों मार्गस्थवायुतत्त्वों का महिमामण्डल से सम्बन्ध है। महिमामण्डल में तीनों प्राण-वायु व्याप्त होकर पिण्ड पर अनुग्रह करते हैं। इधर महिमा का विकास निजपिण्ड के अधीन है। बिना पिण्ड के महिमा नहीं, एवं बिना मातरिश्वा के पिण्ड नहीं। मात्रा [पृथिवीरूप पिण्ड] के चारों ओर व्याप्त रहने वाला स्थिर वायु ही मातरिश्वा है। पिण्ड निर्माण करना, निर्मित पिण्ड को स्वस्वरूप में सुरक्षित रखना यह दोनों कार्य मातरिश्वा के हैं। आपोमय समुद्र में आग्नेय वायु के प्रवेश से पानी का भाग घन हो जाता है। घनावस्थापन्न यही पानी 'अर्पाशर' [पानी की मर-मलाई] नाम से प्रसिद्ध है। यह घन परमाणु भूपिण्ड के उपादान बनते हुए पार्थिवपरमाणु' नाम से व्यवहृत होते हैं। इन्हीं के लिए—'अद्भ्यः पृथिवी' यह कहा जाता है। यह अप्यपरमाणु, किंवा पार्थिव परमाणु उस आपोमय समुद्र में व्याप्तरूप से इतस्ततः व्याप्त रहते हैं। उस परिस्थिति में वही मातरिश्वावायु (जो कि ईश्वर प्रजापति का अवयव रूप होने से साक्षात् प्रजापति है) चलता है वह समुद्र में फैले हुए उन पार्थिव परमाणुओं का सङ्कलन कर—उन पर व्याप्त होता हुआ उन्हें पिण्डरूप में परिणत कर देता है। एककालावच्छेदेन विप्रकीर्णत सब परमाणुओं को सङ्कलित करना इसका पहिला काम है, सङ्कलित कर पिण्डावस्थापन्न उस पदार्थ के चारों ओर वेष्टित होजाना इसका दूसरा काम है। यदि मातरिश्वा वायु एक ही समय में चारों ओर से परमाणुओं का सङ्कलन न करे तो दूसरी ओर से परमाणु इतस्ततः निकल जांय। ऐसी अवस्था में पिण्डस्वरूपनिर्माण असंभव होजाय। चूंकि यह मातरिश्वा वायु एक ही काल में पृथक्परमाणुओं का चारों ओर से संवरण कर उस सङ्कलित भाग पन्न पिण्ड के चारों ओर स्थिररूप से व्याप्त होजाता है, अतएव इसे 'वराह' कहा जाता है। "वृणुते-(संवृणुते) इति वरः, अहोनि-इति-अहः, वरश्चासौ अहश्चेति वराहः" वराह शब्द का यही निर्वचन है। इस महाविश्व में स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच महापिण्ड माने जाते हैं। परिभाषा के अनुसार ज्ञानज्योतिर्मय सब पिण्ड स्वयम्भू नाम से, अज्योतिर्मय सब पिण्ड परमेष्ठी नाम से, स्वज्योतिर्मय सब पिण्ड सूर्य नाम से परज्योतिर्मय सब पिण्ड

चन्द्रमा नाम से, एवं रूपज्योतिर्मय सब पिण्ड पृथिवी नाम से प्रसिद्ध हैं। सप्तलोकात्मक विश्व में असंख्य पिण्ड हैं। नक्षत्रपिण्ड ही असंख्य हैं। इन सब पिण्डों की जाति उक्त प्रकार से पांच ही हैं। अतः यावत् पिण्डों का स्वयम्भू परमेष्ठी आदि पांच महापिण्डों में अन्तर्भाव समझलेना चाहिये। पांचों पिण्डों का स्वरूप इसी मातरिश्वा नाम के वराहवायु से संपन्न हुआ है। यदि प्रजापति वराहरूप धारण न करते तो आपोमय समुद्र में परमाणुरूप से व्याप्त पांचों ही भूपिण्ड सदा के लिए पानी में डूबे रहते। इसी वराह की कृपा से भूपिण्ड का उद्धार होता है। अतएव पृथिवी को वराह की पत्नी माना जाता है। स्वयम्भू आदि पांचों भूपिण्डों का स्वरूप भिन्न भिन्न है, अतएव तत्स्वरूप समर्पक, तत्संबन्धित वराह भी पञ्चधा विभक्त होता हुआ पांच स्वरूप धारण करलेता है। ये पांचों वराह क्रमशः आदिवराह, यज्ञवराह, श्वेतवराह, ब्रह्मवराह, एमूषवराह इन नामों से प्रसिद्ध हैं। विश्व का आदिपर्व स्वयम्भू है, अतएव तत्सम्बन्धी वराह 'आदिवराह' नाम से प्रसिद्ध है। 'तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति' इस मन्त्रभाग का मातरिश्वा पारमेष्ठ्य 'यज्ञवराह' है। यज्ञ का प्रवर्तक विष्णु अक्षर है। इस की विकासभूमि यही परमेष्ठी है। अत विष्णुमय परमेष्ठी को हम अवश्य ही यज्ञमूर्ति कहने के लिए तय्यार हैं। अग्नि य—अग्नि में सोमाहुति होना ही यज्ञ है। अग्नि अंगिरा है, सोम भृगु है। दोनों परमेष्ठी के मनोता हैं। स्वयम्भू का ब्रह्माग्निरूप अथर्ववेद ही वाक्भाग से आपोमय (भृगु-अङ्गिरोमय) यज्ञ बनता है, जैसा कि 'सैषा त्रयीविद्या यज्ञः' इत्यादि से स्पष्ट है। इन्हीं सब कारणों से हम परमेष्ठी को यज्ञस्वरूप मानने के लिए तय्यार हैं।

प्रजाकामुक प्रजापति सर्वप्रथम आपोमय पारमेष्ठ्ययज्ञ को ही उत्पन्न करता है। यज्ञद्वारा प्रजा का निर्माण करता है। इस आपोमय यज्ञतत्त्व को पिण्डरूप में परिणत करनेवाला मातरिश्वा 'यज्ञवराह' नाम से प्रसिद्ध है। परमेष्ठी के अनन्तर स्वस्वरूप से घोरकृष्ण, परन्तु सोम्य द्युति से ज्योतिर्मय बना हुआ विश्व का केन्द्रभूत श्वेत सूर्य है। इस का अवच्छेदक वायु 'श्वेतवराह' नाम से प्रसिद्ध है। प्रकृतियज्ञ में अग्नि होता है, वायु अध्वर्यु है, आदित्य उद्गाता

है, एवं चन्द्रमा ब्रह्मा है। इसी ब्रह्मात्मक चन्द्रमा का स्वरूपसमर्पक मातरिश्वा 'ब्रह्मवराह' है। भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक वराह 'एमूषवराह' नाम से व्यवहृत होता है। 'एमूष' शब्दमें 'आ-इम-वसु' यह तीन विभाग है। ईम् भूपिण्ड की ओर इशारा है, आं-आसमन्तात् भावका द्योतक है, वसु व्याप्ति का सूचक है। 'यह इस के चारों ओर बस रहा है' एमूष का 'यही अर्थ है। इसी पार्थिव वराह का स्वरूप बतलाती हुई श्रुति कहती है—

'सा (प्रादेशमात्री (पृथिवी) एमूष इति वराह उज्जघान ।
सोऽस्य ३ पतिः प्रजापतिः । (शत १४।१।२।११)"
"स वै वराहो रूपं कृत्वा उपन्यमज्जत (तै ७।१।५।१।)"

मातरिश्वा वायों का सामान्य नाम है, आदिवराह, यज्ञवराहादि विशेषनाम हैं। वराह वायु रूप है। वायु अन्तरिक्ष की वस्तु है। जैसे पृथिवी में दधिरस (अन्नरस) का साम्राज्य है, द्युलोक में मधुरस का साम्राज्य है, परमेष्ठी में अमृत (सोम) का साम्राज्य है, एवमेव अन्तरिक्षगत वायु में घृतरस (तरल रस) की प्रधानता है— 'घृतमन्तरिक्षस्य' (शत ....)। यद्यपि वायुप्राणप्रधान घृत सभी प्राणियों में रहता है, परन्तु इस की अतिमात्रा 'शूकर' नाम के पशु में ही रहती है। शूकर पशु उस वायुरूप आधिदैविक वराह की साक्षात् प्रतिमा है। जिस प्रकार कश्यप प्रजापति का अवतार कूर्म (कछुआ) है, एवमेव वराहप्रजापति का अवतार शूकर पशु है। अतएव इतर पशुओं की अपेक्षा शूकर में चर्बी (घृत) अतिमात्रा में उपलब्ध होती है। सब से अधिक घृत इसमें रहता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"अग्नी (पार्थिवाग्नौ) ह वै देवा घृतकुम्भ प्रवेशयाञ्चक्रुः, ततो—
वराहः सम्बभूव । तस्माद् वराहो मेदुरः, घृताद्धि सम्भूतः"

[श० ५।४।३।१९]

पार्थिव अग्नि रुद्र है। यह क्रोध [मन्यु] मूर्ति है, इसी में घृताहुति होने से शूकरपशु उत्पन्न होता है। राजसूययज्ञ में दीक्षित राजा वाराहीउपानह् [शूकरचर्म के जूते] पहिनता

है । 'पशूनां वा एष मन्युर्यद्वराहः' [तै० ब्रा० १।७।८।४]— 'वराहः क्रोधः' [गो० ब्रा पू० २।२।] के अनुसार शूकर साक्षात् क्रोध की मूर्त्ति है । दो शेरों के बीच में से शूकर निर्भीक निकल जाता है, परन्तु दो शूकरों के बीच में से शेर नहीं जासकता । उस वराह के स्वरूप ज्ञान के लिए ऋषियों ने निदान विद्या के आधार पर उस की आकृति शूकर जैसी बना डाली है । यह वराह वायु भूपृष्ठ से संलग्न रहता है । यही वृत्ति तत्प्रतिकृतिभूत इस शूकर पशु की है । शूकर जब आवेश में आकर चलता है तो अपने मुख से जमीन को कुरेदता हुआ झपाटे के साथ सू–सू–करता हुआ आगे बढ़ता है, यही वायु का व्यापार है। दोनों की समान वृत्ति है । पाठक यह सुनकर आश्चर्य करेंगे कि राजपूताने में होनेवाली सुप्रसिद्ध नृसिंहलीला के दूसरे दिन होने वाली वराहलीला में जो मनुष्य वराह बनता है वह नृसिंह की तरह सीधा घूमता हुआ नहीं चलता, अपि तु जमीन पर लौटता हुआ सरपट चलता है । क्यों कि जिस की स्मृति में यह लीला होती है, वह वराह वायुरूप प्रजापति इसी तरह चलते हैं । आपोमय मण्डल असुरप्राण की आवासभूमि है । परमाणुरूपा पृथिवी किसी समय इन असुरों के अधिकार में थी परन्तु आगे जाकर इस वराह प्रजापति की कृपा से भूपिण्ड अप्समुद्र से निकल कर सम्वत्सरावच्छिन्न सौरदेवताओं के अधिकार में आगया है । व राह प्रजापति असुरों के द्वेषी हैं देवताओं के उपकारक हैं । अतएव असुरप्रकृतिभूत यवन दिव्यप्राणोपकारक वराहप्रजापति की प्रतिकृतिभूत शूकरपशु को द्वेषबुद्धि से देखते हैं । भूपिण्डपर जो मलभाग रहता है उसे अपनी पाचनशक्ति से नष्ट करते रहना वराहवायु का स्वाभाविक धर्म है । इसी वराहवायु के लिए 'पवते' कहा जाता है । अतएव तत्प्रतिकृतिभूत शूकरपशु मलभाग का [विष्ठादि का] निराकरण किया करता है । पार्थिव भौतिक भाग से अन्त्यजादि की सृष्टि होती है । यहीं वराह प्रतिष्ठित है । अतएव शूकरपशु और अन्त्यज [महतर–मङ्गी] की एक वृत्ति है, मलविशोधन दोनों का समान धर्म है । शूकरपशु का पालन विशेषतः इन्हीं के घरों में होता है । इस प्रकरण से यहां हमें यही कहना है कि विश्वनिर्माण का प्रधान कारण रेत का आधान करने वाला पिण्डसृष्टि का प्रवर्त्तक मार्गचविशेष वायु ही–'मातरिश्वा' है । अनेजदेकं' योनि है, 'अपः' रेत है । मातरिश्वा' रेतोधा है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा ।

पूर्व में हमनें वाङ्मय प्रजापति को पुरुष कहा था एवं सुब्रह्मरूप आप को स्त्री कहा था। आज इससे ठीक विपरीत कहते हैं। अग्निरूप ब्रह्म स्त्री है, आपोमय सुब्रह्म पुरुष है। वह अग्निपुरुष स्त्री बन रहा है, यह सुब्रह्मस्त्री पुरुष बन रही है। इस वैपरीत्य का प्रत्यक्ष अनुभव मनुष्य समाज में किया जासकता है। आप जिन्हें मनुष्य कहते हैं, वे सब स्त्रिए हैं, एवं जिन्हें स्त्री कहते हैं, वे सब पुरुष हैं। इसी रहस्य का प्रतिपादन करते हुए महर्षि दीर्घतमा कहते हैं—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।
कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥

ऋक् सं० १ मण्डल, अस्यवामीयसूक्त १६४, १६ मं० ।

सर्वश्री सायणाचार्यनें उक्त मन्त्र के आध्यात्मिक और आधिदैविक पक्ष भेद से दो अर्थ किए हैं। अधिदैवतपक्ष में सौररश्मियों की प्रधानता मानी है रश्मियों पर ही अर्थ घटाया है। एवं अध्यात्मपक्ष में निरस्तसमस्तोपाधिक विशुद्ध आत्मा के साथ अर्थ का समन्वय किया है। इधर वेद के प्रसिद्ध व्याख्याता यास्कमुनिनें मन्त्र को आत्मगति परक लगाया है। इस मन्त्र से हम जिस अर्थ का दिग्दर्शन करानें चले हैं उसका किसी भाष्य से सम्बन्ध नहीं है, वह सर्वथा स्वतन्त्र अर्थ है। सायणाचार्य नें जो अर्थ किए हैं उनके सम्बन्ध में भी हमारी यह विप्रतिपत्ति है कि वहां पदार्थों का विज्ञानदृष्टि से विश्लेषण नहीं हुआ है। केवल शब्दाडम्बर पर विश्राम हुआ है। इस कथन से हम अपनें वेदप्रेमी पाठकों को यह सूचित करना चाहते हैं कि उपलब्ध वेदभाष्य कर्मकाण्ड की दृष्टि से भले ही उपयोगी हों, परन्तु विज्ञानदृष्टि से भाष्यार्थ अनुपयुक्त एवं असमर्थ्यान्वित से प्रतीत होते हैं। उदाहरण के लिए अक्षशब्द को लीजिए। अक्षशब्द का आशय ग्रन्थों में 'अक्षमिति द्रष्टारम्' यह निर्वचन हुआ है। भाष्यकारनें 'अक्ष उसकमक्षरं, नमिसिकमक्षरम्' यह निवचन किया है। विचार कीजिए क्या यह निर्वचन ठीक है। अक्-और नम्-अक्षर हैं इस सर्वविदित विषय के लिए मनीषाणा श्रुतिनें—'अक्षमिति-

द्यचरम्' कहा हो—यह बात नहीं जचती । अक्षरय ही श्रुति किसी गूढ अर्थ को सूचित करती है । हमारी दृष्टि से यहां दो अक्षरों से अग्नि एवं सोम अभिप्रेत हैं । पञ्चाक्षरों में ब्रह्मा विष्णु—इन्द्र—यह तीन अक्षर सहचारी हैं अग्नी सोम यह दो अक्षर सहचारी हैं । अग्नि की विकासभूमि सूर्य है, सोम की विकासभूमि चन्द्रमा है । सूर्यचन्द्ररस के समन्वय से अन्न का निर्माण होता है । यह अन्न ओषधि—वनस्पति भेद से दोभागों में विभक्त है । ओषधियों में सौर अग्नि गौण रहता है, चान्द्रसोम प्रधान रहता है, अतएव यह मनोबल वर्द्धक हैं , अतएव चन्द्रमा को ओषधियों का पति कहा जाता है , चन्द्रमा ही मन का अधिष्ठाता है । एवमेव वनस्पतियों में चान्द्रसोम गौण सौर अग्नि प्रधान रहता है । अतएव वनस्पतिएं बुद्धिवर्द्धक मानी जाती हैं सूर्य ही बुद्धि का प्रवर्त्तक है । इसप्रकार ओषधि—वनस्पतिरूप उभयविध अन्न में तारतम्य से अग्नि—सोम दोनों अक्षरों की सत्ता सिद्ध होजाती है । श्रुति का लक्ष्य इन्हीं दो अक्षरों की ओर है, न कि भाष्याभिमत विदित मत्—और नम् अक्षरों की ओर । यही दशा उपर्युक्त मन्त्रार्थ की है । यद्यपि विषय अप्राकृत है तथापि शैली के परिचय के लिए रेतोभ प्रकरण के समन्वय से उक्त मन्त्र का वैज्ञानिक अर्थ पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जाता है ।

उक्त मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में आत्मविषयिणीभावना, रश्मिविषयिणीभावना शुक्र विषयिणीभावना इन तीन भावनाओं की प्रधानता है । प्रकृत में शुक्रविषयिणी भावना का ही सम्बन्ध है, अतः सूचीकटाह न्याय से पहिले संक्षेप से आत्म० रश्मि० भावना का ही दिग्दर्शन कराया जाता है ।

१—आत्मविषयिणीभावना

आत्मविषयिणीभावना के सम्बन्ध में आपको ब्रह्मात्मा दैवात्मा, भूतात्मा इन तीन आत्मविवर्तों के सामने रखना पड़ेगा । स्वायम्भुवात्मा को ब्रह्मात्मा कहा जाता है, सौर

१—इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के प्रथम वर्ष में उपलब्ध ब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिये ।

आत्मा दैवात्मा है एवं पार्थिवआत्मा भूतात्मा है। उपनिषच्छास्त्र में स्वायम्भुव आत्मा की प्रधानता है, निगमशास्त्र [ऋक्–यजु साम नाम से प्रसिद्ध वेदत्रयी] में सौरात्मा की प्रधानता है, एवं आगमशास्त्र में पार्थिव भूतात्मा का निरूपण है। मौलिक सौरपदार्थों का निरूपण करने वाला ऋग्वेद है, यौगिक सौरपदार्थों का निरूपण यजुर्वेद है, एवं सौरप्राणों का पार्थिवप्राणों के साथ सम्बन्ध रहस्य बतलाने वाला वेदविभाग सामवेद है। यह त्रयीविद्या निगमशास्त्र है, इस की प्रतिष्ठा दैवात्मा है। केनोपनिषत् में इन तीनों का विस्तार से निरूपण होने वाला है। अतः प्रकृत में इनके नाममात्रों का उल्लेख कर दिया है। वहां (केनोपनिषत् में) 'ब्रह्म ह देवेभ्यो विजिग्ये' 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः' यह कहा गया है। इनमें 'ब्रह्म' ब्रह्मात्मा है, 'देवेभ्यः' दैवात्मा का सूचक है एवं 'भूतेषु भूतेषु' भूतात्मा का सूचक है।

अव्ययपुरुषात्मकनक्षरपुरुषसाधकअक्षरपुरुष ब्रह्मात्मा है यही औपनिषद्पुरुष किं वा औपनिषदात्मा है। वाङ्मयप्राणरूप अग्निप्राण के समवाय से जिस अङ्गिप्राण का उदय होता है, वह इतर प्राणों का (इन्द्रियप्राणों का आत्मा है इसी का नाम दैवात्मा है। यही नैगमिक आत्मा है। जो जिसका उक्थ–ब्रह्म–साम होता है, वही उसका आत्मा कहलाता है। यही आत्मा भूतात्मा है। इसी को आगमिकआत्मा कहा जाता है। इन तीनों में से प्रकृतमन्त्र औपनिषदात्मा ब्रह्मात्मा) का ही निरूपण करता है।

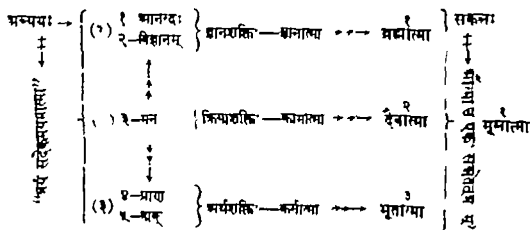
उक्त तीनों आत्मविवर्त एकमात्र अव्यय पुरुष की विभूति है। वही ब्रह्मात्मा है, वही दैवात्मा है, वही भूतात्मा है–'मत्तः परतरं नान्यत्' । अव्ययपुरुष की आनन्द–विज्ञान–मन–प्राण–वाक् यह पांच कलाएं बतलाई गई हैं। इन पांचों के आनन्दविज्ञान मन प्राणवाक् यह तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग ज्ञानप्रधान ज्ञानात्मा है, दूसरा विभाग काम (इच्छा) प्रधान कामात्मा है, तीसराविभाग कर्मप्रधान 'कर्मात्मा' है। ज्ञानात्मा ज्ञानशक्तिप्रधान है, कामात्मा क्रियाशक्तिप्रधान है, कर्मात्मा अर्थशक्तिप्रधान है, इसी को अन्नात्मा भी कहा जाता है। याच्ञाभाव का नाम अर्थ है। अन्न की ही याच्ञा होती है। यह विभाग मौलिक विभाग है।

इसी अव्ययपुरुष से आगे जाकर अक्षर और आत्मक्षर का विकास होता है। महामाया के सम्बन्ध से हृदयाक्षररूप महदक्षर का विकास होता है, जैसा कि पुरुषनिरुक्ति में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अव्ययात्मा का कलाभूत कर्मात्मा प्राणवाङ्मय बतलाया गया है। इस पर कामात्मारूप मन का भी अनुग्रह रहता है। अतएव अव्ययकर्मात्मा मन-प्राण-वाक् भेद से त्रिकल बनजाता है। कर्मात्मा का मनोभाग ज्ञानशक्तिघन होता हुआ ज्ञानात्मा है, प्राणभाग क्रिया शक्तिघन होता हुआ कामात्मा है एवं वाङ्भाग् अर्थशक्तिघन होता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल कर्मात्मा में भी मन-प्राण-वाक् भेद से उक्त तीन आत्माओं का भोग सिद्ध होजाता है। दूसरा विभाग ज्ञानात्मा का है। आनन्द विज्ञान को ज्ञानात्मा कहा है। जिस प्रकार मध्यस्थित कामरूपमन का कर्मात्मरूप प्राणवाक् पर अनुग्रह होता है, एवमेव आनन्द विज्ञानरूप ज्ञानात्मा के साथ भी मन का सम्बन्ध होता है ऐसी स्थिति में अव्यय का ज्ञाना त्मभाग आनन्द-विज्ञान-मन भेद से त्रिकल बन जाता है। आनन्द शुद्ध ज्ञानमूर्ति बनता हुआ ज्ञानात्मा है, विज्ञान क्रियामय होता हुआ कर्मात्मा है, मन अर्थों की आधारभूमि बनता हुआ कर्मात्मा है। इस प्रकार अव्यय के केवल ज्ञानात्मा में भी आनन्द-विज्ञान—मन भेदसे उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध होता है। तीसरा है मध्यस्थित काममय मन नाम का कामात्मा। जिस प्रकार अव्यय के आनन्द विज्ञानरूप ज्ञान भाग के साथ एवं प्राणवाक्रूपकर्म भाग के साथ मध्यस्थ मन का सम्बन्ध रहता है एवमेव मध्यस्थ मन पर भी ज्ञान-कर्मात्मा दोनों का अनुग्रह होता है। ज्ञानात्मा के सम्बन्ध से (आनन्द विज्ञान के सम्बन्ध से) मन में काम (कामना इच्छा) का उदय होता है। 'ज्ञानजन्या भवेदिच्छा' यह सिद्धान्त सर्वसम्मत है। कर्मात्मा के (प्राणवाक् के) सम्बन्ध से मन में आवरण का उदय होता है। मध्यस्थ मन काम आवरण के सम्बन्ध से क्षुब्ध हो पड़ता है, यह क्षोभ ही विक्षेप है। इस प्रकार केवल मनमें ही काम-विक्षेप-आवरण इन तीन वृत्तियों का उदय हो जाता है। ज्ञानानुगृहीत काममयमन ज्ञानात्मा है कर्मानुगृहीत आवरणमय मन कर्मात्मा है, विक्षेपप्रधाना वही मन कामात्मा है। इस प्रकार काम विक्षेप-आवरण के सम्बन्ध से केवल मध्यस्थ कामात्मारूप मन में भी उक्त तीनों आत्माओं का भोग सिद्ध

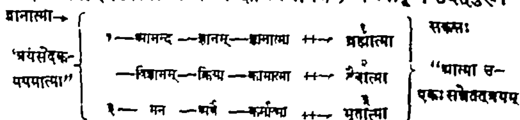
होजाता है। स्वयं षष्ठकल अव्यय त्रेधा विभक्त है। इस की प्रत्येक कला पुन त्रेधा-त्रेधा विभक्त है। यही त्रिपाद्विभूति है। इस विभूति का मूलस्तम्भ आत्मा का त्रिवृद्भाव है जैसा कि पुरुषात्माधिकरण के पनभाष्यवाक् के त्रिवृद्भाव की व्यापकता" प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

महामायावच्छिन्न-निष्कलो-मायी-अव्ययपुरुष-सर्वालम्बनम्

अव्ययात्मा-त्रिपात् (त्रिपादूर्ध्व उदेत्पुरुष)



१-ज्ञानात्मा (ब्रह्मात्मा आनन्दविज्ञानमनोमय) "त्रिपादूर्ध्व उदेत्पुरुष"



१—कामात्मा (देवात्मा—कामविक्षेपावरणमय) 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः'

कामात्मा → 'अयं सदेक मयम स्मा'	१—कामः —ज्ञानम्—ज्ञानात्मा ++→ ब्रह्मात्मा[१]	सकर्मः
	२—विक्षेप —क्रिया—कर्मात्मा ++→ देवात्मा[१]	"आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्"
	३—आवरणम्—अर्थः—कर्मात्मा ++→ भूतात्मा[१]	

—०—

३— कर्मात्मा (भूतात्मा मनप्राणवाङ्मयः) "त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"

कर्मात्मा → अयसदेक-पयमात्मा'	१—मनः —ज्ञानम्— ज्ञानात्मा ++→ ब्रह्मात्मा[१]	सकर्म
	२—प्राण —क्रिया—कर्मात्मा ++→ देवात्मा[१]	"आत्मा उ एकः सन्नेतत्त्रयम्"
	३—वाक् —अर्थ—भूतात्मा ++→ भूतात्मा[१]	

—०—

कर्मात्मा अव्यय पुरुष कामात्मा अव्यय पर प्रतिष्ठित है, कामात्मा का आलम्बन ज्ञानात्मा है। ज्ञानात्मा सृष्टि का आलम्बन है, कामात्मा सृष्टिसाक्षी है, कर्मात्मा (प्रकृत्यात्मा) सृष्टिकर्त्ता है। इस कर्मात्मा का आगे चलकर अक्षर और आत्मक्षररूप अन्तरंग प्रकृति पर अनुग्रह होता है। कर्मात्मा की ज्ञानमयी मनोकला ज्ञानरूप से (अव्ययरूप से) प्रतिष्ठित रहती है, दूसरे शब्दों में अव्ययपुरुष मनप्रधान होता हुआ ज्ञानात्मा है, ब्रह्मात्मा है। प्राणकला का अक्षर पर अनुग्रह होता है इससे अक्षर क्रियामय बनता हुआ देवात्मा बनजाता है। वाक्कला का अनुग्रह आत्मक्षर पर होता है इससे अर्थमय [illegible] भूतात्मा बनजाता है [illegible] इससे ज्ञान—काम—कर्मरूप अव्यय ब्रह्मात्मा है अक्षर देवात्मा [illegible] भूतात्मा है। [illegible] पुरुष की दूसरी विभूति है।

१—अव्ययपुरुष (ज्ञानम्)—ज्ञानप्रधानो मनोमय—ज्ञानात्मा→——→प्रज्ञात्मा
२—अक्षरपुरुष (क्रिया)—क्रियाप्रधान प्राणमय—कामात्मा→——→दैवात्मा
३—आत्मक्षरपुरुष (अर्थ —अर्थप्रधानो वाङ्मय—कर्मात्मा→——भूतात्मा

अव्ययपुरुष पुरुष है प्रजापति है। अक्षर और क्षर इसकी प्रजा है। अक्षरप्रजा देवता है, क्षरप्रजा भूत है। 'देवानि च भूतानि च' यह प्रसिद्ध है। देवितानि दैवात्मा है, भूतानि भूतात्मा है, अव्यय प्रज्ञात्मा है। योगमाया सम्बन्ध से दैवत अक्षर, और भौतिकक्षर दोनों की पांच पांच कलाएं होजाती हैं, जिनका कि विशद निरूपण पुरुषनिरुक्ति में होचुका है। इन तीन आत्माओं में अव्यय प्रधान आत्मा है अक्षर एवं क्षर विश्व है, दोनों की समष्टि त्रिपुरुष पुरुष है। *अव्यय पुरुष है अक्षर अमृत है क्षर मृत्यु है। इन्हीं तीन कलाओं का* निरूपण करती हुई यजु श्रुति कहती है—

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति (यजु सं० ३१।२)।

मन्त्र का पूर्वभाग अव्यय पुरुष का निरूपण करता हुआ कहता है कि आगे का सारा प्रपञ्च पुरुष विभूति से व्याप्त है। पुरुष ही अक्षर बना है, वही क्षर बना है। अमृत का अधिष्ठाता अक्षर है, एवं जो अन्न से प्रवृद्ध होता है वह क्षर है। अक्षर पुरुष के लिए जहां 'न मेधति न कुप्यति' कहा जाता है, वहां क्षर के लिए 'यदन्नेन—अतिरोहति' यह कहा गया है। अपने कलाभेदों के कारण अक्षर और क्षर पुरुष भी पुरुषवत् त्रिपाद्विभूति से युक्त होजाता है ब्रह्माक्षर अव्यय की ज्ञानकला से अनुगृहीत होता हुआ ज्ञानात्मा, किंवा प्रज्ञात्मा है इन्द्रा विष्णू (दोनों अक्षर) अव्यय की क्रियाकला से अनुगृहीत बनकर कामात्मा, किंवा दैवात्मा है। अग्नीषोमाक्षर अव्यय की अर्थकला से अनुगृहीत होकर कर्मात्मा किंवा भूतात्मा है। इसी प्रकार प्राणक्षर मनः ज्ञा स अनुगृहीत होकर ज्ञानात्मा (प्रज्ञात्मा) है, आपवाक्क्षर क्रिया से अनुगृहीत कामात्मा [दैवात्मा) है एवं अन्नाभाक्षर अर्थानुगृहीत कर्मात्मा [भूतात्मा] है। *इस* प्रकार अक्षर और क्षर में भी पूर्वोक्त तीनों आत्मविवर्तों का योग होरहा है।

अक्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१–ब्रह्मा	ज्ञानम् — ज्ञानात्मा →	प्रज्ञात्मा		
२	२–इन्द्र ३–विष्णु	क्रिया — कामात्मा —	दैवात्मा[२]		"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"
३	४–अग्नि ५–सोमः	अर्थ — कर्मात्मा —	भूतात्मा[१]		

क्षरपुरुषस्त्रिपात्

१	१–प्राण	ज्ञानम् — ज्ञानात्मा —	प्रज्ञात्मा[१]		
२	२–आप ३–वाक्	क्रिया — कामात्मा —	दैवात्मा[१]		"त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः"
३	४–अन्नम् अन्नाद	अर्थ — कर्मात्मा —	भूतात्मा[१]		

अव्ययात्मविवर्त ++ ——→ तैजसात्मविवर्त ++ ——→ भूतात्मविवर्त

१—आनन्दविज्ञाने —— १—मन —— १—प्राणवाचौ
२—आनन्द —— २—विज्ञानम् —— २—मनः
अव्ययविभूति: ३—कामः —— ३—विक्षेप —— ३—आवरणम् :अव्ययविवर्तम्
४—मन —— ४—प्राण —— ४—वाक्
५—अव्यय —— ५—अक्षर —— ५—आत्मक्षर

अक्षरविभूतिः ६—ब्रह्मा —— ६—इन्द्राविष्णू —— ६—अग्नीषोमौ अक्षरविवर्तम्

क्षरविभूतिः ७—प्राण —— ७—अप्वाचौ —— ७—अन्नादौ अक्षरविवर्तम्

ब्रह्मात्मा — उपनि | षत् — औपनिषदात्मा (ज्ञानकाण्डम्)

कर्मात्मा — आर | ण्यक — नैगमिकात्मा (उपासनाकाण्डम्)

कर्मात्मा — ब्रा | ह्मण — आगमिकात्मा (कर्मकाण्डम्)

आत्मा उ एकः सन् एतत् त्रयम्

१ — २ — ३

अयं सद् एक—१ अयमात्मा

अव्यय, अक्षर, क्षरभेद से पुरुषत्रयरूप वह पुरुष विश्व में चेतन, अर्द्धचेतन, अचेतन भेद से तीन विभागों में विभक्त होरहा है। चेतनसृष्टि उसका पहिला विवर्त है, इसका प्रधान अधिष्ठाता क्षरमक्षरविशिष्ट अव्ययपुरुष [ज्ञानात्मा] है। अर्द्धचेतनसृष्टि इसका दूसरा विवर्त है, इसका अधिष्ठाता अव्ययक्षरविशिष्ट अक्षरपुरुष [कामात्मा] है। एवं अचेतनसृष्टि तीसरा विवर्त है। इसका अधिष्ठाता अव्ययाक्षरविशिष्ट क्षरपुरुष [कर्मात्मा] है। चेतनसृष्टि में ब्रह्माक्षर, एवं कामाक्षर का सहयोग है, अर्द्धचेतनसृष्टि में इन्द्राविष्णु अक्षर, एवं आप्—आग्नेय क्षर का सहयोग है। एवं अचेतन सृष्टि में अग्नीषोमक्षर, एवं अन्नादक्षर का सहयोग है। चेतनसृष्टि ब्रह्मसृष्टि, किंवा आत्मसृष्टि है। अर्द्धचेतनसृष्टि देवसृष्टि किंवा प्राणसृष्टि है। एवं अचेतनसृष्टि भूतसृष्टि, किंवा वाक्सृष्टि है। जैसा कि निम्नलिखित तालिकाओं से स्पष्ट होजाता है।

१	१—ज्ञानात्मा—अव्यय—ज्ञानेन—चेतनसृष्टि —ॐ ब्रह्मात्मसृष्टि २—कामात्मा—अक्षर—कामेनार्द्धचेतनसृष्टि —ॐ दैवात्मसृष्टि ३—कर्मात्मा—क्षर—कर्मणा—अचेतनसृष्टि—ॐ भूतात्मसृष्टि	षोडशीपुरुषविभाग
२	१—ज्ञानात्मा—अव्यय—ज्ञानेन चेतनसृष्टि —ॐ ब्रह्मात्मसृष्टिः २—कामात्मा—अव्यय—कामेन अर्द्धचेतनसृष्टि —ॐ दैवात्मसृष्टि ३—कर्मात्मा—अव्यय—कर्मणा अचेतनसृष्टि —ॐ भूतात्मसृष्टि	अव्ययपुरुषविभाग
३	१—ज्ञानात्मा—ब्रह्मा—ज्ञानेन चेतनसृष्टि—ॐ ब्रह्मात्मसृष्टिः २—कामात्मानौ—इन्द्राविष्णू—कामेनार्द्धचेतनसृष्टि—ॐ दैवात्मसृष्टि ३—कर्मात्मानौ—अग्नीषोमौ—कर्मणा अचेतनसृष्टि ॐ भूतात्मसृष्टि	अक्षरपुरुषविभाग

४
१—ज्ञानात्मा — प्राज्ञ — ज्ञानेन चेतनसृष्टि — ब्रह्मात्मसृष्टि
२—कामात्मामो—अमृतघनो—कामेनार्धचेतनसृष्टि — दैवात्मसृष्टि } परपुरुषत्रिपाद
३—कर्मात्मानो—मर्त्यामादो—कर्मणा—अचेतनसृष्टि — भूतात्मसृष्टि

———•———

इन तीन सृष्टियों का आगे चलकर स्थूलरूप में स्वयम्भू-सूर्य-पृथिवी इन तीन पिण्डों में विकास होता है। स्वयम्भू चेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव प्रकरणारम्भ में हमनें ब्रह्मात्मा को स्वायम्भुव आत्मा कहा है। सूर्य अर्द्धचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव दैवात्मा को सौरआत्मा कहा है। पृथिवी अचेतनसृष्टि का आलम्बन है, अतएव भूतात्मा को पार्थिवआत्मा कहा है। स्वयम्भू ब्रह्म है, सूर्य देव है, पृथिवी भूत है। यह सृष्टि आत्मविवर्तों की चरम अवस्थानभूमि है।

१—ब्रह्म—स्वयम्भू—ज्ञानमयो—मनोमय —ज्ञानात्मा — ब्रह्मात्मा
२—देव—सूर्य —क्रियामय प्राणमय —कामात्मा — दैवात्मा } त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः
३—भूतम्-पृथ्वी—अर्थमयी—वाङ्मयी—कर्मात्मा — भूतात्मा

———•———

१—पञ्चकलाव्यय—त्रिकलाव्यय—ब्रह्म——प्राणमय——स्वायम्भुव आत्मा — ब्रह्मात्मा
२—पञ्चकलाक्षर——एककलाव्यय—इन्द्राविष्णु—आपोमय——सौर आत्मा —— दैवात्मा
३—पञ्चकलाक्षर——त्रिकलाव्यय—अग्नीषोम—अन्नान्नादमय—पार्थिव आत्मा — भूतात्मा

———o———

१—चेतनाप्रधानः——पुरुष——चेतनपुरुष
२—अर्द्धचेतनाप्रधान—पुरुष——अर्द्धचेतनपुरुष } 'पुरुष एवेद सर्वम्'
३—अचेतनप्रधान——पुरुष——अचेतनपुरुष

———o———

उक्त तीन आत्मविवर्तों के कारण त्रेधा विभक्त आत्मपुरुष की उपासना भी तीन ही तरह से होसकती है। समस्त उपनिषदों में उपासना के तीन ही द्वार हैं । यह आत्मपुरुष चेतन दृष्टि से भी उपास्य है, अर्द्धचेतनदृष्टि से भी उपास्य है, अचेतनदृष्टि से भी उपास्य है। अधिकारी भेद से उपासना भेद प्रतिष्ठित हैं । प्रथमाधिकारी अचेतनदृष्टि से उसकी उपासना कर सकते हैं, मध्यमाधिकारी अर्द्धचेतनदृष्टि से, एवं उत्तमाधिकारी चेतनदृष्टि से उसका ध्यान कर सकते हैं। यही तीनों उपासनाएं सर्वभूतान्तरात्मोपासना, हिरण्यगर्भोपासना, अव्ययो पासना नाम से प्रसिद्ध हैं । इन तीनों उपासनाओं का उपनिषदों में पृथक् पृथक् रूप से निरूपण हुआ है। विस्तारभय से अधिक न कहकर प्रकृत में केवल तीनों उपासनाओं के तीन मन्त्र उद्धृत कर दिए जाते हैं—

१ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा
(मुण्डक० २।१।४) } सर्वभूतान्तरात्मा

२ हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
(यजु_सं० १३।४) } हिरण्यगर्भ

३ ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ (कठ० ६।१) ।
यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्, यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥
(श्वेता ३।९) } अव्ययः

सर्वभूतान्तरात्मोपासना स्वयम्भू की उपासना है। स्वयम्भू विश्वरूप है, सर्वरूप है। पृथिव्यादि सातों लोक, भूत, देवता, पशु सब कुछ इसके उदर में समाये हैं । सत्यलोक

सम्बन्ध से ही इसे 'सप्तवितस्तिकाय' कहा जाता है। यही विश्वेश्वर है, यही महात्मा है। इस विश्वरूप की उपासना करना, निरन्तर उसके व्यापक स्वरूप का चिन्तन करते रहना आत्मविकास का मुख्य हेतु है। इससे आत्मज्ञान का उदय होता है, कारण यह आत्मा ज्ञानात्मा बनता हुआ मनप्रधाना चेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

हिरण्यगर्भोपासना सूर्यमूला उपासना है। सूर्य स्वयं हिरण्यगर्भ है। सौरमरीचिमण्डल हिरण्य है। इसके गर्भ में सूर्य प्रतिष्ठित है। हिरण्य के चारों ओर आप् और वाक् का सार है। सतत सूर्यध्यान से अध्यात्मगत देवप्राण समृद्ध बनता है। आत्मज्ञानोपकारिणी विद्याबुद्धि का उदय होता है। कारण यह आत्मा कर्मात्मा (देवात्मा) बनता हुआ प्राणप्रधाना अर्द्धचेतनसृष्टि का अधिष्ठाता है।

अश्वत्थोपासना पृथिवीमूला है। "वह एक स्तम्भ वृक्षवत् खड़ा है, वह शान्त है, अचल है" इस प्रकार से विश्व को वृक्ष (संसारवृक्ष) दृष्टि से भावना करने वाले के आत्मा में अर्थ शक्ति का उदय होता है। अर्थद्वारा क्रिया पर अधिकार करता हुआ उपासक ज्ञानतत्त्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है।

यही तीनों उपासनाएं ओङ्कारोपासना, उद्गीथोपासना, प्रणवोपासना नाम से भी व्यवहृत हुई हैं। स्वयम्भूमूला सर्वभूतान्तरात्मोपासना ओंकारोपासना है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्। तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत् त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव' (माण्डूक्य उ० १)।

"एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः" [प्र० उ० ५]।

सूर्यमूला हिरण्यगर्भोपासना उद्गीथोपासना है, जैसा कि "य एवासौ तपति तमुद्गीथ मुपासीत" (छां० उ० १।३।१) इत्यादिश्रुति से स्पष्ट है। एवं तीसरी पृथिवीमूला अश्वत्थोपासना प्रणवोपासना है। प्रसङ्गोपात्त यह भी ध्यान रखना चाहिये कि हम ईशोपनिषत् स्वयम्भूमूला ओंकारोपासना (सर्वभूतान्तरात्मोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'ओं पूर्णमदः पूर्णमिदम्'

इस प्रकरण के मन्त्रपाठ से सिद्ध है। कठोपनिषत् पृथिवीमूला प्रणवोपासना (अश्वत्थोपासना) का निरूपण करती है जैसा कि 'ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः' (कठ० ६।१) इत्यादिरूपसे स्पष्ट है एवं मुण्डकोपनिषत् सूर्यमूला उद्गीथोपासना (हिरण्यगर्भोपासना) का निरूपण करती है, जैसा कि 'तदेतत्सत्यं [आदिमः] मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यन्" [मु० १।२।१] येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यम्" [मु० १।२।१३] "यत्र यत्र सूर्यः" [मु० २।१।६], "हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम्" [मु० २।२।९] यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्" [मु० ३।१।३] 'बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपम्" [मु० ३।१।७] "स य ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद' [मु० ३।२।१०] इत्यादि रूप से स्पष्ट है। तीनों ही उपासनाओं का लक्ष्य अभिन्न है। स्वयम्भू को मूल मानकर पृथिवी तक आ जाना ओंकारोपासना है। पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू तक चले जाने प्रणवोपासना है। सूर्य को मूल मानकर इधर पृथिवी एवं उधर स्वयम्भू तक चले जाना उद्गीथोपासना है। प्रणव भी ओंकार है, उद्गीथ भी ओंकार है। जो प्रणव है वही उद्गीथ है, जो उद्गीथ है वही प्रणव है। दृष्टिकोण में भेद है, फलत तीनों आत्मदृष्टि से अभिन्न हैं। इसी अभिन्नता को लक्ष्य में रखकर छान्दोग्यश्रुति कहती है—

> "अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति।
> असौ वा आदित्य उद्गीथः, एषः प्रणवः—ओम्। इति ह्येष स्वरन्नेति"
>
> (छां० उ० १।५।१)।

ओंकारोपासना अव्ययोपासना है, उद्गीथोपासना अक्षरोपासना है, प्रणवोपासना क्षरोपासना है। क्रमशः अव्यय का स्वायम्भुव ब्रह्मा पर अक्षर का सौरागम पर, क्षर का पार्थिव अग्नि पर अनुग्रह है, जैसा कि पूर्व की तालिकाओं से स्पष्ट कर दिया गया है। इन तीनों उपासनाओं में प्रणवोपासना भूतात्मा से सम्बन्ध रखती हुई कर्मकाण्ड है, उद्गीथोपासना सूत्रात्मा से सम्बन्ध रखती हुई उपासनाकाण्ड है, ओंकारोपासना महात्मा से सम्बन्ध रखती हुई ज्ञानकाण्ड है। गीता इसी उपासना को प्रधान मानती है। कर्म का सम्बन्ध वाङ्मय भूतभाग के साथ है, उपासना दक्षा की ही होती है, ईश्वर अनुगम्य है, केवल ज्ञानगम्य है।

१–स्वयम्भूव्यक्ताव्यक्तोपासना–(स्वयम्भूमूला–अव्यक्तोपासना-ओंकारोपासना)–ज्ञानकाण्डम्

२–हिरण्यगर्भोपासना—— (सूर्यमूला—–देवतोपासना-उद्गीथोपासना)–उपासनाकाण्डम्

३–व्यक्तोपासना —— (पृथिवीमूला—भूतामोपासना प्रत्यक्षोपासना)–कर्मकाण्डम्

———•———

औपनिषत्काल में उपासना का यही क्रम था। परन्तु कालव्यतिक्रम से ज्यों ज्यों मानव समाज का बौद्धजगत् निर्बल होता गया त्यों त्यों वह प्राकृतिक तत्त्वों की उपासना में शिथिल बनता गया। अतएव पुराणयुग में उक्त तीनों उपासनाएं प्रतिमोपासना रूप में परिणत हो गई। इस का यह अर्थ नहीं है कि प्रतिमोपासना अवैज्ञानिक है। स्वयम्भू-सूर्य पृथिवी भी तो उसी की प्रतिमा हैं। पृथिवीपर दृष्टि रक्खी जाती है, मनोयोग आत्मापर रहता है। सूर्यबिम्ब प्रतिमा है, इस पर दृष्टि रक्खी जाती है, तद्द्वारा ध्यान सर्वव्यापक आत्मा का किया जाता है। निरुक्त से अनिरुक्त पर पहुंचना ही तो प्रतिमोपासना है। स्थूल को लक्ष्य बनाकर सूक्ष्म पर पहुंचना ही प्रतिमापूजन है। "दृष्टि अन्यपर–लक्ष्य अन्य पर" इसी का तो नाम उपासना है। विशुद्ध अमूर्त की उपासना तो बन ही नहीं सकती। उपासना मूर्तग्रह्य, किंवा मूर्ति की ही हो सकती है। कोई प्राकृतिक पृथिवी-सूर्यपिण्ड आदि मूर्तियों की उपासना करता है तो अस्मत् सदृश साधारण अधिकारी पृथिवी के प्रत्यक्षरूप पाषाणादि की प्रतिमा को ही भगवदाराधना का साधन मानते हैं। तत्त्व एक है, प्रकार में भेद है। पुराणों ने किसी नवीन आदि पद्धति का अनुसरण नहीं किया है अपि तु जो उपासना वेद (उपनिषत्) में व्यापक रूप से है उस अधिकारी वर्ग की शिथिलता से प्रत्यक्ष का रूप दे डाला है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट है।

१– ज्ञानैदृष्टिः सतमोपासनम्। २—कर्मभिस्सैदृष्टिः, कर्मणोपासनम्। ३—व्यक्तैर्दृष्टिः प्रत्यक्षोपासनम्।

• इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य में द्रष्टव्य है।

चिन्मयस्याप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणा मन्नः ।
उपासकानां सिद्ध्यर्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥

जो क्रम उक्त तीनों उपासनाओं का था, वही क्रम यहां रक्खा गया । प्रत्युत उपासक यह जानते हैं कि भारतवर्ष में उपासना के मूलस्तम्भ दो माने जाते हैं । प्रतिमा पहिला स्तम्भ है वृक्षादि दूसरा स्तम्भ है । पीपल-वट-तुलसी-केला आदि वृक्षों की उपासना की जाती है। भगवत्प्रतिम, भगवत् प्रतिमाओं की उपासना की जाती है । यह प्रतिमोपासना साकार-निराकार भेद से दो भागों में विभक्त है । शालग्रामोपासना निराकारोपासना है। हस्त-पाद उर-कण्ठादि शरीर अवयवयुक्त मूर्त्तियों की आराधना साकारोपासना है। इस प्रकार शालग्रामोपासना, प्रतिमोपासना, वृक्षोपासना भेद से पौराणिक उपासना तीन भागों में विभक्त है । चेतनसृष्टि सदा अर्द्धेन्द्र होती है, चतुष्क नहीं होती । पुरुष [मनुष्य] चेतन है, वह अर्द्धेन्द्र है । आगे कपोल से इसका निर्णय हुआ है । इस उपासना में प्रतिमा का स्वरूप पुरुषाकार जैसा बनाया जाता है । यही सुप्रसिद्ध प्रतिमोपासना पहिली सर्वभूतान्तरात्मोपासना है । अर्द्धचेतनोपासना शालग्रामोपासना है, यही हिरण्यगर्भोपासना है । शालग्रामप्रतिमा के केन्द्र में सुवर्ण रहता है । ऊपर का कृष्णस्तर स्वयम्भू है । सुवर्ण सूर्य की प्रतिमा है । शालग्राम साक्षात् हिरण्यगर्भ है । तीसरी अचेतनोपासना वृक्षोपासना है । शालग्रामोपासना का बड़ा महत्त्व माना गया है । इसमें तीन भाग हैं। कृष्णभाग, रश्मिभाग, सूर्य भेद से शालग्राम त्रिवृत् है, त्रिपाद् पुरुष है । ऊपर का कृष्णभाग साक्षात् स्वयम्भू ब्रह्मा है, रश्मिभाग विष्णु है, केन्द्रस्थ सुवर्णभाग शिव है । त्रिमूर्त्ति की समष्टि शालग्रामप्रतिमा है ।

प्रकारान्तर से विचार करिए—

विश्व में आत्मा के तीन प्रधान विवर्त हैं । पहिला उदासीनभाव है, दूसरा महद्विभाव है तीसरा विकृतिभाव है । उदासीनभाव 'अमृतम्' है, महद्भाव 'ब्रह्म' है, विकृतिभाव 'शुक्र' है । 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते' के अनुसार अमृतरूप उदासीनभाव कार्यकारण तीत है, प्रकृति कर्त्री है विकृति कर्म है । कार्य, कारण कार्यकारणातीत भेद से एक ही पुरुष

तीन भागों में विभक्त होरहा है। इस त्रिपाद्विभूति का पूर्वोक्त अमृतात्मउपस्थाप्रकरण में विस्तार से निरूपण किया जाचुका है। अबतक जिन तीन आत्मविवर्तों का विविध रूप से दिग्दर्शन कराया गया है, उस सारे आत्मप्रपञ्च को 'अमृतम्' समझिए। अभी ब्रह्म के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है। षोडशीपुरुष में ही कई प्रकार से तीन आत्मविवर्तों का भोग बतलाया है। ब्रह्मात्म-देवात्म-भूतात्मसमष्टिरूप षोडशीपुरुष अमृतभाव है, इसीको ब्रह्मात्मा समझिए। यही विश्वालम्बन उदासीनभाव है। प्राणादि पांच विकार क्षररूप पञ्चप्रकृति ब्रह्मभाव है, यही देवात्मा है। वाक्—आप—अग्नि की समष्टि विकृति भाव है, यही शुक्र है, यही भूतात्मा है।

१— षोडशी पुरुष — उदासीनभाव — अमृतम् ↔ ब्रह्मात्मा — (ज्ञानात्मा) ⎫
२— पञ्चजनतम — प्रकृतिभाव — ब्रह्म ↔ देवात्मा — (कर्मात्मा) ⎬ 'तदेव'
३— त्रिलोकीरूप — विकृतिभाव — शुक्रम् ↔ भूतात्मा — (कामात्मा) ⎭

———— ————

उपर्युक्त इन तीनों आत्माओं के निम्नलिखित लक्षण समझने चाहिए—

१—"अव्ययपुरुषालम्बन क्षरपुरुषसापेक्षोऽक्षरपुरुषः"]—ब्रह्मात्मा (औपनिषदात्मा)

२— "वाङ्मयप्राणामनोमयसमवाये योऽयमग्नीषोमः स इतरेषां प्राणानामात्मा" }—देवात्मा (नैगमिकात्मा)

३—"यस्य यद्रूपं ब्रह्म च साम, तत् तस्यात्मा"—]भूतात्मा (आगमिकात्मा)



जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है—"स्त्रियः सतीः०" इत्यादि मन्त्र अव्यय-अक्षर-क्षररूप षोडशीपुरुष नाम के औपनिषद ब्रह्मात्मा का ही निरूपण करता है। यह ब्रह्मात्मा वस्तुतः स्त्री है, फिर भी "अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष" इत्यादि रूप से इसे पुरुषशब्द से व्यवहृत किया जारहा है, स्त्रीरूप आत्मा को पुरुष बतलाया जारहा है। इसी विपरीत व्यवहार का दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है—

'स्त्रियः सतीस्तों उ मे पुंस आहुः'

"जो बहुत प्रिय हैं, महर्षि लोग उन्हें मुझे पुरुष बतला रहे हैं" यही भावार्थ है। आत्मा स्त्री कैसे है? यदि यह स्त्री है तो उसे पुरुष क्यों कहा जाता है? इस रहस्य को आंखों वाला देख सकता है, अक्ष का अन्धा इस रहस्य को क्या समझ सकता है— 'पश्यदक्षण्वान् न विचेतदन्धः'। अर्थात् जो बुद्धिमान हैं, वैज्ञानिक हैं वे ही अपनी विज्ञानदृष्टि से उक्त रहस्य को समझ सकते हैं। साधारण मनुष्य इस गुप्त व्यवहार के रहस्य को कथमपि नहीं समझ सकते। वह रहस्य क्या है? उसे कौन समझता है? मन्त्र का उत्तर भाग इसी प्रश्न का समाधान करता है।

क्षेत्र में बीज की आहुति होती है। इस से पुत्रोत्पत्ति होती है। क्षेत्र की अधिष्ठात्री माता है। माता के गर्भ में ही पुत्र जन्म लेता है। सम्पूर्ण विश्व उस आत्मप्रजापति का पुत्रस्थानीय है, विश्व उसी के गर्भ में जन्म लेता है, वही विश्वयोनि है, विश्व का क्षेत्र है। योनिरूप क्षेत्रस्थानीय, अतएव आत्मपुरुष विश्व पुत्र की 'माता' बनता हुआ सचमुच 'स्त्री' है। स्त्री भी एक नहीं तीन तीन—अव्यय, अक्षर, और क्षर। पिता रेतोधा होता है, रेत की आहुति देने वाला है। आरम्भ में वही रेतोनिक्षेपक है, अतएव पितृस्थानीय बनता हुआ वह पुरुष शब्द से भी व्यवहृत होता है। पुरुष भी एक नहीं तीन तीन—अव्ययपुरुष, अक्षरपुरुष, क्षरपुरुष। विश्वयोनिरूपा वह स्त्री है, रेतोधारूप वह पुरुष है, रेतरूपा वही पुत्र है। वही माता है वही पिता है, वही कुमार है, वही कुमारी है। इसी अभिप्राय से श्रुति-स्मृति कहती है—

"त्वं स्त्री, त्वं पुमानसि, त्वं कुमार उत वा कुमारी"।
"नैव स्त्री न पुमानेष नचैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते॥"
"त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव।
त्वमेव बंधुश्च सखा त्वमेव सर्वं मम देव देव॥"

जो अवस्था में पुत्र [बालक] होता हुआ भी कवि [आत्मतत्त्ववेत्ता] है, वही उक्त रहस्य को जानता है। ऐसा कवि पुत्र [प्रतिष्ठा की दृष्टि से] अपने पिता का भी पिता है। अर्थात् लोक

में वृद्ध पितामहतुल्य मनुष्य पूज्यदृष्टि से नहीं देखा जाता, अपि तु उसी का पुत्र यदि आत्मज्ञ बनजाता है तो दोनों की उपस्थिति में पुत्र ही पिता [पूज्य] दृष्टि से देखा जाता है। केवल बाल सुफेद होने से ही एक व्यक्ति वृद्ध नहीं कहलाता। यदि एक बालक जवान है, और साथ ही में विद्वान है तो उसे वृद्ध कहा जाता है। आयुवृद्धि वृद्धत्वका कारण नहीं है। क्योंवृद्ध वृद्ध नहीं कहलाता, अपि तु विद्यावृद्ध ही वयोवृद्ध कहलाता है, एवं वही लोक में पूजित होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् मनु कहते हैं—

न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः ।
यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः ॥ (मनु)

विज्ञानात्मा उस आत्मप्रजापति का विद्वान पुत्र है, कवि है। वही तो उक्त रहस्यको जान सकता है। सचमुच आज आर्यावर्त श्रुति के—'कविर्यः पुत्रः स ईमाचिकेत' इस आदर्श को भूल गया है। रूढ़ि के भक्त वर्तमान भारतने अयोग्य-मूर्ख व्यक्तियों का समादर कर रक्खा है, योग्यों को हेय समझ रक्खा है। प्राचीन युग में क्या होता था ? इसके सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थ में एक बड़ा सुन्दर आख्यान उपलब्ध होता है। अंगिरा महर्षि के वंशज अतएव *'आंगिरस' नाम से प्रसिद्ध, अवस्था में बहुत छोटे (शिशु) पुत्र मन्त्रनिर्माता थे,* साक्षात्कृत धर्मा थे। एकबार देवसभा में अपने पिता के साथ यह बैठे हुए थे। वहां किसी कार्य से अपने पिता का आह्वान करते हुए इनके मुख से—"पुत्रका" [हे छोटे बच्चे] यह सुनते ही पिता अप्रसन्न होगये, और बोले कि अरे ! तू हमारा पुत्र होकर हमें 'पुत्रका' कह रहा है। तू अधर्म कर रहा है। इसनें उत्तर दिया कि वास्तव में पिता मैं हूं कारण मैं मन्त्रनिर्माता हूं। अन्त में देवताओंनें भी इसी पक्षका समर्थन किया।

१—यहां विद्वान् पुरुष को ईश्वर का पुत्र बतलाया गया है। विश्व के सभी पदार्थ ईश के पुत्र हैं, यह आर्यावर्त की चिरन्तर भावना है। आत्मज्ञानी महात्मा ईशुखीष्टनें इसी बात को प्रधानता दीहै, जो कि आर्यसभ्यता का ही एक अङ्ग है।

"शिशुर्वा-आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् । स पितॄन् पुत्रका इति-आमन्त्रयत । तं पितरोऽब्रुवन्-अधर्मं (करोषि) यो नः पितॄन्-'पुत्रका' इत्यामन्त्रयसे । सोऽब्रवीत्-अहं वाव पितास्मि यो मन्त्रकृद्-इति । (ते-पितरः-पुत्रोक्तेः-अश्रद्दधानाः) देवानपृच्छन्त । ते देवा अब्रुवन्-एष वाव पिता, यो मन्त्रकृद्-इति । तद्वै सः (शिशुराङ्गिरसः)- उदजयत" इति ।

(ताण्ड्यब्रा० १३।३।२४)।

प्रकृत मन्त्रमें पिता के अभिप्राय से ही 'पितुष्पितासत्' यह कहा है। यह है आत्म-सम्बन्धी प्रथम भाव का संक्षिप्त दिग्दर्शन । अब सूर्यरश्मिसम्बन्धिनी भावना का दिग्दर्शन कराया जाता है।

इति-आत्मविषयिणीभावना ।

१

—•—

२ —रश्मिविषयिणीभावना

विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य हिरण्यगर्भप्रजापति है । प्रजापति में आत्मा, प्राण, पशु यह तीन कलाएं नित्य प्रतिष्ठित रहती हैं । आयु भाग आत्मा है, ज्योति भाग प्राण है, गौ भाग पशु है । यही तीन सूर्य के मनोता हैं‡—(देखिए ई० उ० भि० भा० २०१ पृ०) । आयुभाग आत्मा की विकास-भूमि है, ज्योतिभाग देवता की विकासभूमि है, एवं गौभाग भूत का जनक है । त्रैलोक्य में जितने स्थूलभूत हैं, सब का जनक सौर गौतत्त्व है । प्रकाशरूप देवताओं का विकास सौरज्योतिर्भाग से हुआ है । हम सब प्राणियों के आत्मा का आधार आयुर्भाग है । इन तीनों में आयुस्तत्त्व

‡ अपरायु मनोता यस्य दिशो मदन्ति । अनिशं ज्योतनीशं च यस्मैते त्रितः स्पृशाः ॥

'मुख्यप्राण' है, महाप्राण है। इसी को 'परोरजसप्राण' कहा जाता है। इसी को लक्ष्य बना कर—'योऽसावादित्ये पुरुष सोऽहम्' यह कहा जाता है। इस आत्मप्राण को–'आदित्य रूप पर मा।' इस नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। ज्योतिर्मय प्राणरूप देवता है। यह अग्नि-सोम भेद से दो भागों में विभक्त है। आग्नेयप्राणावच्छिन्न सौरसावित्राग्नि दाहक है, सौम्य प्राणावच्छिन्न पारमेष्ठ्य भार्गवसोम दाह्य है। दोनों का समन्वितरूप ज्योति है। आप सूर्य में जो प्रकाश देख रहे हैं, वह अग्नि-सोम का समन्वित रूप ही है। स्थूलभूत पशुरूप है।

१–आत्मा– आयु (आत्मा) →—▶ परोरजाप्राण	सौरसत्या
२–प्राण – ज्योति (देवा) →—▶ आग्नेय-सौम्यप्राणौ	
३–पशु – गौ (भूतानि) →—▶ स्थूलभूतानि	

इन तीनों में हिरण्यगर्भ नाम से प्रसिद्ध आत्मरूप परोरजाप्राण के आधार पर ही आग्नेय-सौम्यप्राण प्रतिष्ठित हैं। इस अग्नि और सोम के सम्बन्ध से अविभक्त सौरआत्मा भी दो भागों में विभक्त [वत] होजाता है। आग्नेयप्राणावच्छेदेन वही हिरण्यगर्भ प्रजापति पुरुष है, कारण अग्नि को पुरुष माना गया है। एवं सौम्यप्राणावच्छिन्न वही प्रजापति स्त्री है, सोम को ही स्त्री माना है। इस दम्पति के मिथुनभाव से वशप्राणमूर्ति विराट् पुत्र उत्पन्न होता है। सौररश्मिएं यद्यपि अग्निसोममयी हैं, परन्तु प्रधानता सोम की ही है। कारण सोम ही आहुत होकर ज्योतिर्मय बनता हुआ रश्मिरूप में परिणत हो रहा है। रश्मिभाव साक्षात् जलता हुआ सोम है। सोम स्त्रीरूप है। अतएव हम कहसकते हैं कि सौररश्मिमण्डल स्त्रीमयवत है। परन्तु आश्चर्य है फिर भी किरण –मयूख –उस्र इत्यादि रूप से इन्हें पुरुषवाचक शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। कारण स्पष्ट है। इस रहस्य को इनका कविपुत्र जानता है। अर्थात्–अग्नि सोम के मिथुनभाव से उत्पन्न होने वाले विराट् का स्वरूप देखिए–वहां आपको स्त्री–पुरुष दोनों भाव उपलब्ध होंगे। विराट् ज्योतिर्मयवत है, ज्योति सोमजन्य है। सोम भृगु है, भृगु कवि है। भृगुसोम ही अग्नि में आहुत होकर विराट् पुत्ररूप में परिणत हुआ है, इसी भागव-तत्व को लक्ष्य में रखकर ऋषिने विराट्पुत्र को 'कवि' शब्द से व्यवहृत किया है। अग्निसोम

विराट्पुत्र के पिता माता हैं। विराट्ज्योति ही उन दोनों के स्त्रीभाव का कारण है। यदि ज्योतिर्भाग उत्पन्न न होता तो—मूल में 'अग्नी और सोम दो तत्व हैं' इसका पता ही न लगता। यही कवि का परिज्ञान है। अपने मातृ पिता का अभिव्यञ्जक विराट्पुत्र अवश्य ही पिता का भी पिता [अभिव्यञ्जक] है। सूर्यविज्ञान चान्द्रविज्ञान, किं वा चाक्षुषपुरुषविज्ञान है। जो चाक्षुष पुरुषविज्ञानवेत्ता [सूर्यविज्ञानवेत्ता] हैं, वेही यह समझ सकते हैं कि रश्मियों के स्त्रीरूप होने पर भी उन्हें पुरुष क्यों कहा जाता है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है। अब तीसरे प्रधान अर्थ की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति-रश्मिविपर्यिणीभावना

२

३-अथ शुक्रविपर्यिणीभावना

अचेतन अग्नि में अचेतन सोम की आहुति होना याज्ञिकसृष्टि है, चेतन अग्नि में चेतन सोम की आहुति होना मैथुनीसृष्टि है। अग्नि में घृताहुति याज्ञिकसृष्टि है, शोणित में शुक्राहुति का होना मैथुनीसृष्टि है। उक्त मन्त्र प्रधान रूप से मैथुनीसृष्टि का ही रहस्योद्घाटन करता है। अन्वय का उपक्रम करते हुए कहा गया था कि संसार में जितने पुरुष हैं, सब वास्तव में स्त्रिए हैं। स्त्रीरूप होने पर भी इन्हें [पुरुषों को] पुरुष कहा जाता है। एवं जितनी भी स्त्रिए हैं, वे वास्तव में पुरुष हैं। पुरुषरूप होने पर भी इन्हें [स्त्रियों को] स्त्री कहा जाता है [देखिए ई० वि० भा० पृ० १८१]। विज्ञानपरिभाषा के अनुसार अग्नितत्त्व को पुरुष कहा जाता है, सोमतत्त्व को स्त्री कहाजाता है, यह निर्विवाद विषय है। यह अग्नि और सोम आत्मा और शरीर भेद से दो भागों में विभक्त रहता है। पुरुष के भौतिक शरीर का निर्माण अग्नि से होता है, एवं स्त्री के भौतिक शरीर का निर्माण सोम से होता है। अग्नि की प्रतिष्ठा

दक्षिणादिक् है, सोम की प्रतिष्ठा उत्तरादिक् है। अतएव स्त्री को वामा कहा जाता है। पुरुष दक्षिणाङ्ग है, स्त्री पुरुष का वाम भाग है। प्रति शरीर में दक्षिणपार्श्व आग्नेय है, वामपार्श्व सौम्य है। पुरुष का शरीर अग्निप्रधान होने से कठोर होता है, स्त्री का शरीर सोमप्रधान होने से कोमल होता है। पुरुष कर्कशाङ्ग है, स्त्री कोमलाङ्गी है। इस प्रकार इस शरीर रचना की अपेक्षा से आग्नेयशरीरप्रधानपुरुष पुरुष है सौम्यशरीरप्रधानास्त्री स्त्री है। इस दृष्टि से पुरुष को पुरुष कहना, एवं स्त्री को स्त्री कहना न्यायसंगत है, यथार्थ है। परन्तु आत्मदृष्ट्या उक्त लौकिक व्यवहार असंगत है। आत्मदृष्टि से अग्नि स्त्री का आत्मा बन रहा है, सोम पुरुष का आत्मा बन रहा है। स्त्री का आत्मा (प्रतिष्ठाभाव) शोणित (रुधिर) में प्रतिष्ठित है, पुरुष का जीवनीय रस शुक्र है। शोणित अग्निप्रधान है, शुक्र सोमप्रधान है। स्त्री–पुरुष–नपुंसक तीनों सृष्टियों का शुक्र शोणित सम्बन्ध के तारतम्य से सम्बन्ध है। शुक्र शोणित दोनों परस्पर अविनाभूत हैं। शुक्र साक्षात् सोम है, शोणित साक्षात् अग्नि है। सोम शीतप्रधान है, अग्नि उष्णप्रधान है। एक आर्द्र है, दूसरा शुष्क है। सर्दी, आर्द्र, सोम, शुक्र, योषा, रयि सब अग्निमार्थक हैं। गर्मी, शुष्क, अग्नि, आर्त्तव, वृषा, प्राण सब अग्निमार्थक हैं। सम्पूर्ण भौतिक विश्व इन्हीं दोनों का (अग्निषोम का) समन्वित रूप है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत् सौम्यम्" [शत० १। ६। ३। २३।]

सत्प्रमथभूत यही अग्नीषोम प्रजासृष्टि के उपादान बनते हुए शुक्र–शोणित नामसे व्यवहृत होते हैं। सौम्यशुक्र स्त्री है, आग्नेय शोणित पुरुष है। यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि अग्नि अपनी चरम सीमा पर पहुंच कर आपोमय सोमरूप में परिणत होजाता है, एवमेव सोम अपनी अन्तिम प्रतिष्ठा पर पहुंच कर अग्निरूप में परिणत होजाता है। सोम सर्वोत्तमा

१ सौम्यं शुक्रम आर्त्तवमाग्नेयम्। इतरेषामप्यत्र भूतानां सान्निध्यं अरात्मनस्तुविशेषेण परस्परोपकारात्, परस्परानुग्रहात्, परस्परानुप्रवेशात् " (सुश्रुत ३ अ०।)।

है, अग्नि विकासधर्मा है। सङ्कोच की चरमावस्था विकास की जननी है, विकास की चरमावस्था सङ्कोच की जननी है। अग्नि तेजतत्त्व है, सोम स्नेहतत्त्व है। सीमा से अतिक्रान्त स्नेह तेज की [रुद्रभाव की] उत्पत्ति का कारण बनजाता है, सीमा से उत्क्रान्त तेज स्नेहरूप में परिणत होजाता है। दो मित्रों का निःसीम स्नेहभाव कभी कभी रुद्रभाव (वैरभाव) का उत्पादक देखा गया है, एवं दो शत्रुओं का निःसीम रुद्रभाव [वैरभाव] कभी कभी स्नेहभाव (मित्रता) का उत्पादक देखा गया है। निःसीमता [अति] स्वरूप का घात करने वाली है। प्रत्येक वस्तु ससीमा में प्रतिष्ठित रहती हुई ही अपनी स्वरूपरक्षा करने में समर्थ होती है। हाँ तो प्रकृत में अग्नि सोम का विचार प्रक्रान्त है। अग्नि केन्द्र से निकलकर बाहर प्रधि की ओर जाया करता है, इधर सोम प्रधि से केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि परागति है, सोम अर्वाग्गति है। एक जाता है, एक आता है। एक प्रैति [गच्छति] है, दूसरा आगच्छति है।

जाते हुए अग्नि में आता हुआ सोम आहुत हो रहा है। इसी एति-प्रैतिरूप अग्नीषोमात्मक यज्ञ से सारे पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित होरहे हैं। गमन विसर्ग है, आगमन आदान है। आदान विसर्ग ही अग्नीषोमात्मक यज्ञ है। अग्नितत्त्व का वसुपिण्ड से सम्बन्ध है, अतएव अग्नि मर्त्य है, एवं इस सत्ता सहत्य सशरीरी ही होता है। सोम का पिण्ड की महिमारूप अन्तरिक्ष से सम्बन्ध है। कारण सोम अन्न है उधर अन्तरिक्ष भी अन्नरूप परमेष्ठी है। अतः सोम से पिण्डावच्छिन्न, किंवा पिण्डरूप अग्नि सतत आक्रान्त रहता है, इसी आधार पर—'अग्ने भूमिरिप पिता' यह कहा जाता है। विकासलक्षण अग्नि को पिण्डरूप में परिणत करने वाला, सङ्कोचधर्मा यही सोम है। जबतक सोमांश अग्नि में आहुत होता रहता है, तभीतक अग्नि प्रज्वलित रहता है। प्रज्वलित अग्नि को याज्ञिक परिभाषा में 'समिद्धाग्नि' कहते हैं। एति-प्रैतिरूप सामिधेनियों से आगमविसर्गरूप अर्पण द्वारा अग्नि समिद्ध रहता है। अतएव यज्ञकर्म में—'प्रेति‡ च मेतिचान्वाह' [शत॰ १ कां ३।१।४।] के अनुसार सामिधेनी मन्त्रों से अग्नि को

‡ इस विषय का वैज्ञानिक विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के सामिधेनी ब्राह्मण में देखना चाहिए।

समिद्ध करने का विधान है। बात यथार्थ में यह है कि अग्नि अङ्गिरामूर्ति है, सोम भृगुमूर्ति है। अङ्गिरा की अग्नि–वायु–आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। अवस्थात्रययुक्त अग्नि हृदय से फैलता हुआ आगे जाता है। अग्नि की तीनों अवस्थाएं विकसित होते होते जब चरम दशा पर पहुंच जाती हैं तो तीनों अग्नियों की गति विपरीत होजाती है। आत्यन्तिक विशकलन से ऊष्माभाव प्रवर्तक प्रन्थिबन्धन टूट जाता है, अग्नि शान्त होजाता है। अग्नि की यह शान्तावस्था ही विपरीत गति का आश्रय लेती हुई सोम नाम से व्यवहृत होने लगती है। सोम आप–वायु–सोम इन तीन भागों में विभक्त है। तीनों क्रमश केन्द्र की ओर आते रहते हैं। जबतक केन्द्रबिन्दु पर तीनों नहीं आजाते, तबतक तो तीनों को प्रतिष्ठित रहने के लिए पर्याप्त धरातल मिलजाता है। परन्तु केन्द्रबिन्दु पर आने से तीनों को एक बिन्दु पर ठहरना पड़ता है। इससे तीनों में घर्षण होजाता है। घर्षण होते ही शान्तास्वरूप नष्ट होजाती है; उष्णावस्था उत्पन्न होजाती है इसी का नाम अग्नि है, इसकी गति बदल जाती है। प्रकृत में इस अग्नीसोममाया से हमें केवल यही बतलाना है कि अग्नि का पिण्ड से सम्बन्ध है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि एक हौज में भाप खोलता हुआ पानी भरवा दीजिये। उस पानी के [ऊर्ध्व की ओर] निकलने के लिए सूक्ष्मतम छिद्रोंवाला एक फव्वारा लगा दीजिए। उस में से निकलता हुआ पानी खण्ड खण्ड रूप में परिणत हो जायगा। इन जलकणों को आप शीतल पावेंगे। कारण जब तक पिण्ड था, तबतक अग्नि पानी में प्रतिष्ठित था। पिण्डभाव के नष्ट होते ही अग्नि विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुंच कर सत्यभाव (पिण्डभाव) से च्युत होता हुआ ऋतरूप में परिणत हो जाता है। पूर्वप्रतिपादित मातरिश्वा के निरूपणानुसार पिण्ड का नाम पृथिवी है, महिमा द्युलोक है। पिण्डरूप पृथिवी से निकलकर अङ्गिरात्रयी द्युरूप महिमा मण्डल की ओर आया करती है। अग्नि की इसी स्वाभाविक गति को लक्ष्य में रखकर महर्षि कहते हैं—

इत एत उदारुहन् दिवः पृष्ठान्यारुहन्।
भूर्भुवो यथायथं द्यामङ्गिरसो ययुः॥

अग्नि उष्ण तेज तत्त्व है तो सोम स्नेह तत्त्व है । यही गर्मी–सर्दी है । सर्दी पराकाष्ठा पर पहुंचकर अग्नि बनती हुई वृक्षादि को जला डालती है । इधर पराकाष्ठा पर पहुंची हुई गर्मी वर्षा (पानी) बन जाती है । सोमाग्नि [वृष्टाग्नि] शीतांशु का जनक है, यह पूर्व की अथर्ववेद निरुक्ति में विस्तार से बतलाया ही जा चुका है ।

उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि अग्नि की चरमावस्था सोम है, एवं सोम की चरमावस्था अग्नि है । स्त्री के आत्मरूप शोणित में प्रवृद्धसोम (अग्नि) है, इस लिए स्त्री आत्मरूपा पुरुष है । पुरुष के आत्मरूप शुक्र में प्रवृद्धअग्नि [सोम] है, अतएव पुरुष आत्मरूपया स्त्री है । प्रकारान्तर से यों समझिए—शुक्र अन्नरस से बनता है । अन्न आप्यसोम से बनता है, अतः शुक्र साक्षात् सोम है, सोम साक्षात् स्त्री है । यह शुक्ररूप से पुरुष की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शुक्रमय पुरुष सोममय बनता हुआ वास्तव में स्त्री है । एक बात और—सोमरूप, अतएव स्त्रीरूप शुक्र पुरुष में प्रतिष्ठित है, अतएव पुरुष स्त्री की कामना किया करता है, जैसा कि अनुपद में ही स्पष्ट होनेवाला है । अग्नि से शोणित का निर्माण होता है, अतः शोणित साक्षात् अग्नि है । अग्नि साक्षात् पुरुष है । यह शोणितरूप से स्त्री की प्रतिष्ठा बना हुआ है । इस प्रतिष्ठादृष्टि से शोणितमयी स्त्री अग्निमयी बनती हुई वास्तव में पुरुष है । अग्निरूप, अतएव पुरुषरूप शोणित स्त्री में प्रतिष्ठित है, अतएव स्त्री पुरुष की कामना किया करती है ।

स्त्री की प्रजननशक्ति आर्तव में प्रतिष्ठित है । यह आर्तव मंगल नाम से प्रसिद्ध आग्नेय पुरुषग्रह के आग्नेय प्राण से युक्त है । आग्नेयप्राणधर मंगलग्रह रक्त (लाल) है । रुधिर में जो लाली एवं गर्मी है, वह मंगलप्राण की ही महिमा है । मंगलग्रह मकरराशि में आता हुआ उच्च कहलाता है । अतएव मांगलिक आर्तव में प्रतिष्ठित आग्नेयकाम 'मकरध्वज' नाम से प्रसिद्ध है । मकरध्वज अग्निमय काम है । दूसरे शब्दों में स्त्री के काम में अग्निमूर्ति पुरुष बैठा है, अतएव स्त्री को पुरुषकामना होती है । पुरुष की प्रजननशक्ति शुक्र में प्रतिष्ठित है । शुक्र [वीर्य-

‡ इस विषय का विशद विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य के संवत्सर में द्रष्टव्य है ।

रेत] शुक्र नाम से प्रसिद्ध सौम्य स्त्रीग्रह के सौम्यप्राण से युक्त है। शुक्रग्रह श्वेत है, अतएव तन्मय शुक्र भी श्वेत है। शुक्रग्रह मीनराशि का भोग करता हुआ उच्च का कहलाता है। अतएव शुक्ररूप शुक्र में प्रतिष्ठित सौम्यकाम 'मीनध्वज' नाम से प्रसिद्ध है। मीनध्वज सोममय काम है। दूसरे शब्दों में पुरुष के काम में सोममूर्ति स्त्री बैठी हुई है, अतएव पुरुष को स्त्री कामना होती है।

सोम शक्तितत्त्व है, सोम सम्बन्धी अग्नि शिवतत्त्व है। शिवतत्त्व शक्तिकाममय है, शक्तितत्त्व शिवकाममय है। शिव शक्ति पर प्रतिष्ठित है, शक्ति शिव की अनुगामिनी है। सम्पूर्ण विश्व शिवशक्तिमय है। कहने को दो तत्त्व हैं, जो शिव (अग्नि) है वही शक्ति (सोम) है, जो शक्ति है वही शिव है। निष्कर्ष यही हुआ कि शुक्र-शोणित दृष्टि से संसार की स्त्रिए पुरुष हैं, पुरुष स्त्रिए हैं। यह स्त्री-पुरुष का दूसरा युग्म है।

यह एक नियत सिद्धान्त है कि जिस वस्तु का बाहर का धरातल गरम होता है, उसका अन्तःपृष्ठ ठंढा होता है, एवं जो बाहर से ठंढा होता है, उसका अन्तःपृष्ठ गरम होता है। प्रकृति का निरीक्षण कीजिये। शीतर्तु में प्रकृतिमयवस्तुरूप बहिर्धरातल में सर्दी रहती है, एवं अन्तःपृष्ठरूप प्राणियों के शरीर में गरमी का साम्राज्य रहता है। शीतकाल में हमारा जठराग्नि प्रदीप्त रहता है। मुख में से धूम निकलता रहता है। इसी प्रवृद्ध अग्निबल से हम शरीर पर कम्बलादि को आसानी से उठाने में समर्थ होजाते हैं। इसी प्रवृद्ध अग्नि की कृपा से अन्न अधिक खाया जाता है। इस प्रकार बाहर बड़ा ठंढा है, भीतर गर्मी है। ग्रीष्मऋतु में ठीक इससे उलटा होजाता है। प्रकृति में गर्मी का साम्राज्य है, परन्तु प्रकृतिगर्भस्थ अन्याम में सर्दी की प्रधानता है। वही शीतभाग पसीना बनकर बाहर निकला करता है। अग्निबल क्षीण रहता है, अतएव हम निर्बल रहते हैं। शीतकाल में जिस अग्निबल की कृपा से वहां हम दो दो तीन तीन कम्बलों को ओढ़ने में समर्थ बन जाते थे, वहां ग्रीष्मकाल में अग्नि की कृपा से एक मामुली चदर का भी भार सहन नहीं करसकते। इस प्राकृतिक स्थितिसे प्रकृत में हमें यह

कहलाता है कि पुरुष शरीर से आग्नेय है । इसका यदि पृष्ठ अग्नि प्रधान है । अतएव पुरुष को स्त्री पर अधिक क्रोध आता है । परन्तु अन्तःपृष्ठरूप इसका शुक्र ठण्डा है । अतएव आगे जाकर इसका क्रोध शान्त होजाता है । शरीर की अपेक्षा आत्मा बलवान् होता है । अतएव शरीरसापेक्ष क्रोध स्थायी नहीं रहता । उधर स्त्री का शरीर सौम्य है । उसे क्रोध नहीं आता । सौम्यशरीरापन्ना स्त्री निर्बल है, अबला है । परन्तु भीतर शोणितरूप अग्नि है । प्रथम तो स्त्री को क्रोध आवेगा ही नहीं यदि आत्मभाग पर आघात होने से स्त्री का आत्मा बिगड़ पड़ा तो फिर कुशल नहीं है । अतएव स्त्रीहठ प्रसिद्ध मानी जाती है । यही अवस्था बालक की है । १२ वर्ष तक कन्या का १६ वर्ष तक पुत्र का शरीर सौम्य रहता है । आत्मा आग्नेय है । अतएव स्त्री हठवत् बालहठ भी प्रसिद्ध है । अग्निसोम के इस गर्भविधान की अपेक्षा से स्त्री पुरुष का एक तीसरा युग्म और बनजाता है । स्त्री का शोणित आग्नेय है, इसलिए स्त्री पुरुष है यह कहा गया है । शोणित का ऊपर का पृष्ठ अवश्य ही आग्नेय है परन्तु इस अग्निमय शोणित के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजननकर्म का मुख्य अधिष्ठाता 'भ्रूण' सौम्य है । इस सौम्य भ्रूण की अपेक्षा से स्त्री अन्ततोगत्वा स्त्री ही है । अन्त में उसे पुरुष का ही आश्रय लेना पड़ता है । पुरुष का शुक्र सौम्य है, इसलिए पुरुष स्त्री है । शुक्र का ऊपर का स्तर वास्तव में सौम्य है । इस सोममय शुक्र के गर्भ में प्रतिष्ठित प्रजननकर्म का मुख्य अधिष्ठाता 'भ्रूण' उक्त परिभाषानुसार आग्नेय है । इस आग्नेय-भ्रूण की अपेक्षा से पुरुष अन्ततोगत्वा पुरुष ही रहता है । इस तीसरी धारा को आधार मानते हुए ही लोक में—'स्त्री स्त्री ही रहेगी पुरुष पुरुष ही रहेगा' यह किंवदन्ती प्रचलित है । स्त्री की अन्तिम प्रतिष्ठा सोम ही है, पुरुष की अन्तिम प्रतिष्ठा अग्नि ही है । स्त्री सौम्या ही है पुरुष आग्नेय ही है । सौम्य शुक्र के गर्भ में आग्नेय पुंभ्रूण प्रतिष्ठित है, आग्नेय शोणित के गर्भ में सौम्य स्त्रीभ्रूण प्रतिष्ठित है । यदि शुक्र प्रबल है तो शुक्राधिक्य से तद्गर्भित आग्नेय पुंभ्रूण प्रबल बनता हुआ पुत्रोत्पत्ति का कारण बनता है । यदि आर्तव प्रबल है तो आर्तवाधिक्य से तद्गर्भित सौम्य स्त्रीभ्रूण प्रबल बनता हुआ कन्योत्पत्ति का कारण बनता है । यदि दोनों का समभिमुनभाव होता है तो नपुंसक

प्रजा उत्पन्न होती है। यदि केवल शुक्र शोणित का समन्वय होता है, (यदि तद्गत भूणों का जो कि स्त्री-पुरुष विज्ञानभाषा में योषा-वृषा नाम से प्रसिद्ध हैं मिथुन नहीं होता) तो ऐसा मिथुनभाव व्यय जाता है। आयुर्वेद का उक्त सिद्धान्त तभी ठीक होसकता है, जब कि सौम्य शुक्र में आग्नेय भूण,एवं आग्नेय आर्तव में सौम्यभूण की सत्ता मानली जाती है। कारण अग्नि से ही पुरुष का विकास सम्भव है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर प्राणाचार्य कहते हैं—

> आधिक्ये रेतस पुंस कन्यास्यादार्तवाधिके।
> नपुंसकं तयो साम्ये यथेच्छा परमेश्वरी"—(भावप्रकाश)।

अग्नि भी देवता हैं, सोम भी देवता हैं। देवता त्रिसत्य होते हैं। देवताओं का प्रत्येक कार्य त्रिभावयुक्त होता है। तीन व्यापारों से देवता स्वकार्यसिद्धि में समर्थ होते हैं। पूर्व कथनानुसार प्रजोत्पत्तिकर्म में तीन व्यापारों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। तीन मिथुनों से मिथुन कर्म संपन्न होता है। ध्यान दीजिये—प्रजोत्पत्ति के लिए पहिले पुरुष स्त्रीगमन करता है। अभी दोनों के शरीरों का संयोग है। पुरुष शरीरापेक्षया आग्नेय बनता हुआ पुरुष है, स्त्री शरीरापेक्षया सौम्या बनती हुई स्त्री है। इस प्रथमाक्रमण में सचमुच पुरुष (पुरुष का आग्नेय शरीर) स्त्री (स्त्री के सौम्य शरीर) की ओर जाता है। इस प्रथम मिथुनकर्म से संघर्ष द्वारा तात्कालिक वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। इस अग्निपरिताप से पुरुष के सर्वाङ्ग शरीर में व्याप्त शुक्र अङ्ग प्रत्यङ्ग से निकलकर पुञ्जीभूत बनकर अधोमार्ग द्वारा स्त्री के गर्भाशय में प्रतिष्ठित आग्नेय आर्तव में आहुत होता है। यह शुक्रशोणित का मिथुनकर्म दूसरा कर्म है। इस में शुक्र सोम है, शोणित अग्नि है। शोणित में शुक्र की आहुति क्या होरही है, अग्नि में सोम की आहुति होरही है। यही आध्यात्मिक यज्ञ है। इस द्वितीय कर्म में स्त्री पुरुष पर आक्रमण कर रही है। कारण स्पष्ट है। शुक्र ही तो शोणित पर आक्रमण कर रहा है। शुक्र सौम्य होने से सचमुच स्त्रीरूप है, एवं शोणित आग्नेय होनें से वास्तव में पुरुष है। और आगे बढ़िए।

* इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्य के द्वितीय वर्ष में निकल चुका है।

शोणित में रहने वाले सौम्य भूणपर (स्त्रीभूण पर) शुक्र में रहने वाला आग्नेय भूण (पुंभूण) आक्रमण करता है। यह अन्तिम मिथुन है। इस में जिस की प्रधानता रहती है, उसी भूण का विजय होता है। इस अन्तिमभूण में पुरुष ही (पुंभूण ही) स्त्री पर (स्त्रीभूण पर) आक्रमण करता है। प्रथमाक्रमण में पुरुष प्रधान, मध्यमाक्रमण में स्त्री प्रधान, चरमाक्रमण में पुरुषप्रधान, इस प्रकार दोनों ओर से पुरुषप्रतिष्ठा की भित्ति से मध्यस्था स्त्री की स्वतन्त्र इच्छा नष्ट हो जाती है। जो इतनी इस प्राकृत नियम का उल्लंघन करते हैं, वे अपने साथ साथ स्त्री के स्वरूप को भी नष्ट कर देते हैं। उक्त तीनों आक्रमणों में मध्याक्रमणदृष्टि से (शोणित-शुक्र की दृष्टि से) सचमुच संसार की सब स्त्रियें पुरुष हैं, एवं संसार के सब पुरुष स्त्रियें हैं। उक्त मन्त्र इसी मध्यस्थिति का निरूपण करता है।

अध्यात्मसंस्था —

"पुरुष एवेदं सर्वम्"

१ — १–आग्नेयशरीरयुक्त पुरुष — पुरुष; २–सौम्यशरीरयुक्ता स्त्री — स्त्री } पुरुषं प्रथमनुभाषते-प्रथमाक्रमणं पुरुषप्रधा०

—•—

२ — १–सौम्यं शुक्रम् —— स्त्री; २–आग्नेयमार्तवम् —— पुरुषः } स्त्रीपुरुषमनुभाषते-द्वितीयाक्रमणस्त्रीप्रधानम्

—•—

३ — १–शुक्रगत आग्नेय पुंभूण — पुरुष; २–शो. ग. साम्य स्त्रीभूण — स्त्री } पुरुष स्त्रियमनुभाषते-तृतीयाक्रमणपुरुषप्रधा०

—•—

उक्त तीनों स्थितियों में से मध्य के शुक्रशोणितभाव को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहते हैं—

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः

इस रहस्य को भाग्यवान् ही समझ सकता है, मूर्खों का भला इस रहस्य को क्या जानें। जो विद्वान् कामशक्ति के 'मकर—मीन' स्वरूप को समझता है, वही यह जान सकता है कि शुक्र

वास्तव में स्त्रीकाममय है, शोणित वास्तव में पुरुषकाममय है। यह दूसरा समझने वाला व्यक्ति है कविपुत्र। यह इस स्त्रीभाव को जानता हुआ सचमुच अपने पिता का भी पिता बन रहा है। भृगु और अङ्गिरा का रहस्य जानने वाला पुत्र ही कवि है। ऐसा विद्वान् अपने पिता से भी अधिक प्रतिष्ठित माना जाता है। विज्ञानदृष्टि के अनुसार कवि का अर्थ है भृगुतत्व। आप-वायु-सोम को ही भृगुतत्त्व कहते हैं। पुत्रोत्पत्ति शुक्र की आहुति से होती है। सोममय शुक्र ही अग्नि शोणित में हुत (अग्निहुत-आहुत) होकर पुत्ररूप में परिणत होता है। शुक्र में जो घनता है वह पानीका भाग है, शर्कराभाग सोम है, गतिभाव वायु है। इस प्रकार शर्करा (सोम) प्रधान शुक्र में आप-वायु-सोम तीनों तत्व प्रतिष्ठित हैं। ऐसी अवस्था में हम शुक्र को अवश्य ही 'भृगु' कह सकते हैं। भृगु ही कवि है। यह कवि (भृगुरूप शुक्र) पुत्ररूप में परिणत होता है, अतः शुक्र को अवश्य ही 'कविपुत्र' कहा जासकता है। शुक्र सोमप्रधान होने से पुत्ररूप में परिणत होता है, इधर सोम स्त्री है, अतएव तद्रूप पुत्र (पुरुष) को हम अवश्य ही स्त्री कहने के लिए तय्यार हैं। इसी अभिप्राय से-'कवियः पुत्र स इमाचिकेत' (जो पुत्र कवि है वह इस रहस्य को जानता है) यह कहा गया है। कन्यासंतान में शोणित की प्रधानता रहती है-'कन्याम्याग्नसयाधिके'। कविपुत्र (शुक्रस्थ पुरुषभ्रूण) ही स्त्रीभ्रूण। शोणित भ्रूण) के साथ संयुक्त होकर स्त्रीभाव का कारण बनता है। सोम ही अग्नि की ओर जाता है। कन्योत्पादक अतएव स्त्रीरूप शोणित भ्रूण का सम्यक् परिज्ञाता शुक्रभ्रूण ही है। इसी अभिप्राय से आगे जाकर श्रुति कहती है—'यस्ता विजानात्' (कविरूप जो पुरुषभ्रूण स्त्री भ्रूण को जानता है)। जिसप्रकार स्त्रीस्वरूपसमर्पक स्त्रीभ्रूण आग्नेय शोणित में प्रतिष्ठित रहता है, एवमेव पुरुषस्वरूपसमर्पक पुंभ्रूण सौम्यशुक्र में प्रतिष्ठित रहता है, यह पूर्व में कहा जाचुका है। शुक्र का आधान करने वाला पुरुष 'पिता' कहलाता है। इस पुरुष पिता का पुत्र शुक्र है। पुत्ररूप शुक्र ही पुंभ्रूण का उत्पादक बनता है। पुंभ्रूणद्वारा शुक्राहुति देने वाला पिता माता के गर्भ में [अपनी स्त्री के गर्भ में] स्वयं जन्म लेता है, अतएव 'जायते पिता स्वयमस्यां' इस निर्वचन से स्त्री को 'जाया' कहा जाता है। अपने पुंभ्रूण से उत्पन्न होने वाल

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोणित में आहित करने के कारण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है। माता स्त्री है, पिता पुरुष है। वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है । सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनता हुआ सचमुच 'माता' है । अतएव—"मातरि (शुक्रे) श्वयति (व्याप्तो भवति)" इस व्युत्पत्ति से शुक्र व्यापाता इस रेतोधा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसंगत होना है । रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है। स्त्रीपुरुष के मिथुनभाव से अग्नि प्रबल होजाता है । अग्नि के क्षुब्ध होते ही शरीरगत वायुवाहिनी नाड़ियों [धमनियों] में भरा हुआ वायु स्थान च्युत होता हुआ अग्नि से सतप्त शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है । वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गतिमद् बनता हुआ शोणित में आहुत होता है । इस अध्यात्मसंस्था के साथ अधिदैवत की संस्था का विचार कीजिए । गर्भाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए । वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है । माता ही तो वेदि है । त्रिब्रह्मापरपर्यायक अनेकदेवत् पशु को ब्रह्म समझिए । शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को पर ब्रह्मापरपर्यायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये । शुक्र के चारों ओर वेष्टित मार्गववायु को 'मातरिश्वा' समझिये । इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि–रेत–रेतोधा समझिये । ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है । दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतत्त्व की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है । यह है आध्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम । जैसा आप यहां [अध्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति वहां [अधिदैवत में] समझिये—"यदेवेह तदमुत्र" ।

१—योनि ——— आग्नेयम् [आग्नेयम्] ——→ पशुर्ब्रह्माग्नि [ब्रह्म]			ततः प्रजोत्पत्तिः
२—रेत ——— शुक्रम् [सौम्यम्] ——→ परब्रह्मसोम [आप]			
३—रेतोधा ——— वायु [अनुप्राणीत] ——→ मार्गववायु [मातरिश्वा]			

रेतोधा पिता का पिता (जन्मदाता–अभिव्यञ्जक) वास्तव में कवि पुत्ररूप शुक्र ही है। एक ओर पुभृण है, दूसरी ओर पिता है। मध्य में पुभृणाधिष्ठाता कविपुत्र नामक शुक्र है। यदि यह पुत्र न होता तो पुभृण कभी स्वरूप में परिणत नहीं हो सकता था। दूसरे शब्दों में यह रेतोधा पिता कभी जाया में जन्म नहीं लेसकता था। पिता के जाया में जन्म का हेतु पुत्रशुक्र है, अतएव हम इसे अवश्य पिता का पिता (पुभृणरूप पिता का भी अभिव्यञ्जक) कह सकते हैं। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर 'सवितुष्पितासत्' "यह शुक्ररूप कविपुत्र पिता [प्रतिष्ठारूप पुभृण] का भी उत्पादक एवं अभिव्यञ्जक बनता हुआ पुभृणरूप अपने पिता का भी पिता बन गया" यह कहा गया है। यह है मन्त्रावयसम्बन्धिनी तीसरी शुक्रविनियोगभावना का संक्षिप्त निरूपण।

इति–शुक्रविपाथिणीभावना।

३



प्रासङ्गिक चर्चा समाप्त हुई। अब पुनः प्रकृत विषय का उपसंहार किया जाता है। उपनिषत् के चतुर्थ चरण का उपक्रम करते हुए रेत–रेतोधा–योनि उत्पत्ति कर्म में इन तीन भावों का समावेश बतलाया गया है [देखिए ई० मि० भा० १७७ पृ०]। इन तीनों में रेत और योनि दोनों स्थिर हैं, रेतोधा गतिशील है। यही आधिदैविकसंस्था में जहां—'मातरिश्वा' नाम से व्यवहृत होता है, वहां अध्यात्मसंस्था में वही 'एवयामरुद्' नाम से प्रसिद्ध है। योषा प्राणप्रधाना स्त्री का अग्निमय शोणित योनि है, वृषाप्राणप्रधान पुरुष का सोममय शुक्र रेत है। यह आहुति द्रव्य है, आप तत्त्व है, सुमना है। स्त्री का रक्त आहुति का स्थान है, अग्नि है अन्न है। इस अग्निरूप योनि में सुमना की आहुति होती है। आहुति देने वाला वायु है।

* इस विषय का विशद विवेचन मासदीयसूक्त विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

यदि यह वायु शुक्र को दो भागों में विभक्त कर देता है तो यमज सन्तान उत्पन्न होती है । रेत को योनि में, सुब्रह्म को ब्रह्म में, सोम को अग्नि में, शुक्र को शोणित में आहित करने के कारण ही यह वायु 'मातरिश्वा' कहलाता है। माता स्त्री है, पिता पुरुष है। वायु शुक्र के चारों ओर वेष्टित होकर ही शुक्र की आहुति देता है। सोमप्रधानशुक्र स्त्रीरूप बनता हुआ सचमुच 'माता' है। अतएव–"मातरि (शुक्रे) श्वयति (व्याप्तो भवति)" इस व्युत्पत्ति से शुक्र व्यापाता इस रेतोधा वायु को 'मातरिश्वा' कहना न्यायसम्मत होता है। रेत अपने आप योनि में सिक्त नहीं होता, अपि तु वायु द्वारा ही यह सिक्त होता है। स्त्रीपुरुष के मिथुनभाव से अग्नि प्रबल होजाता है। अग्नि के क्षुब्ध होते ही शरीरगत वायुवाहिनी नाडियों [धमनियों] में भरा हुआ वायु स्थान च्युत होता हुआ अग्नि से सतप्त शुक्र को स्वस्थान से च्युत कर देता है। वायु के प्रत्याघात से ही शुक्र गर्भिमद् बनता हुआ शोणित में आहुत होता है । इस अध्यात्मसंस्था के साथ अधिदैवत की समता का विचार कीजिए। गर्भाशयगत रुधिर को अग्नि समझिए, इसी को वेद समझिए। वेद वेदि पर ही तो प्रतिष्ठित रहता है। माता ही तो वेदि है । विश्वसाधरपयायक मनेजदेकत् यजु को ब्रह्म समझिए। शुक्र को सोम समझिए, इसी को सुवेद समझिए, इसी को परद् ब्रह्मापरपयायक 'आप' [सुब्रह्म] समझिये। शुक्र के चारों ओर वेष्टित मार्गवायु को 'मातरिश्वा' समझिये। इन्हीं तीनों को क्रमशः योनि–रेत–रेतोधा समझिये। ब्रह्मरूप योनि में आपरूप रेत की वायुरूप रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आहुति होती है। दूसरे शब्दों में मातरिश्वा आपतत्त्व की ब्रह्म में आहुति देता है, इसी से गर्भाधानपूर्वक प्रजोत्पत्ति होती है। यह है आध्यात्मिक प्रजोत्पत्तिक्रम। जैसा आप यहां [अध्यात्म में] प्रत्यक्ष कर रहे हैं, ठीक वही स्थिति वहां [अधिदैवत में] समझिये—"यदेवेह तदमुत्र"।

१–योनि ——— आग्नेयम् [आग्नेयम्] ⟶ यजुर्ब्रह्माग्नि [ब्रह्म]			ततः प्रजोत्पत्तिः
२–रेत ——— शुक्रम् [सौम्यम्] ⟶ परद्ब्रह्मसोम [आप]			
३–रेतोधा ——— वायु [मनुष्याशीत] ⟶ भार्गववायु [मातरिश्वा]			

अनेजत्–एकत्वरूप ब्रह्म यजुरग्निमूर्ति बनता हुआ यद्यपि पुरुष है, परन्तु यह विश्वप्रजा का योनिस्थानीय होने से स्त्री कहा जा सकता है। एवं शुक्र सोमरूप होने से यद्यपि स्त्री है, परन्तु शुक्रस्थानीय होने से (रेतस्थानीय होने से) यह पुरुष नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। त्रयीविधायक ब्रह्म से आप् उत्पन्न हुआ। त्रयीविद्या के साथ यह आपके गर्भ में प्रविष्ट होगया। यह पहिला आक्रमण है, पहिला मिथुन है। ब्रह्माग्निरूप पुरुष शुक्रसोमरूप स्त्री पर आक्रमण कर रहा है। आगे जाकर अध्यात्मक्रमानुसार मातरिश्वा द्वारा यह आप (शुक्र) उस ब्रह्म (योनि) के साथ संगत होता है। यह शुक्र–शोणित का दूसरा मिथुनकर्म है। आगे जाकर आपूगर्भित भृगुरूप गायत्रीमात्रिक नाम के वेदाग्नि, एवं ब्रह्मगर्भित शुक्ररूप स्त्रीभूत दोनों का मिथुन होता है। यही तीसरा आक्रमण है। इस से मिथुनभाव सर्वात्मना सम्पन्न हो जाता है, एवं तत्काल विराट्पुरुष गर्भ में आजाता है। यह विराट् इस दम्पती की पहिली सन्तान है।

अधिदैवतसंस्था ←

१
१—ब्रह्माग्नि (अग्नि —पुरुष) } ब्रह्म अपोऽग्नि-अनुप्राविशत् } प्रथमक्रमस्य ब्रह्म (पुरुष)—
२—आपः (सोमः—स्त्री) } (पुरुष स्त्रियमनुप्राविशत्) } प्रधानम्

—o—

२
१—आप (सौम्य शुक्र—स्त्री—रेत) } आप —अग्निमनुप्राविशत् } द्वि आक्र. अप् (स्त्री) प्र
२—अग्नि (आग्नेयगर्भाशय-पुरुष -योनि) } (स्त्रीपुरुषमनुप्राविशत्) } धानम्

—o—

३
१—अपूगर्भितोऽग्निर्वेदः(भृगुर्वोऽग्नि —पुरुष) } अग्निवेदः सोमवेदमनुप्राविशत् } तृ आ वेद(पु)—
२—ब्रह्मगर्भित सोमवेद (स्त्रीभूत सोम -स्त्री) } (पुरुष स्त्रियमनुप्राविशत्) } प्रधानम्

"ततो विराडजायत"

—o—

'अनेजदेकं मनसो जवीय' इत्यादि मन्त्र तीनों स्थितियों में से मध्यस्थिति का ही निरूपण करता है। अग्निमूर्तिब्रह्म योनिरूप से स्वस्थान में प्रतिष्ठित है। इस में मातरिश्वा द्वारा आपरूप रेत की आहुति होती है। दोनों के [अग्नि और आप के] मिथुन से विराट् पुरुष उत्पन्न होता है, जैसा कि—'तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः' इत्यादि रूप से कहा जा चुका है।

ब्रह्म-आप के मिथुनभाव से उत्पन्न अपूर्वभाव में ब्रह्म और आप के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ! वे दोनों पृथक् पृथक् थे, दोनों का समन्वितरूप विराट् है। ऋक्सामावच्छिन्न ब्रह्म ब्रह्म है। इस में यत्-जू (एजत-अनेजत्) दो विभाग हैं। इस प्रकार ऋक्-साम यजुर्मूर्तिब्रह्म ऋक्-साम-यत्-जू भेद से चतुष्कल हो जाता है। दूसरा आपतत्त्व है। इस की भृगु-अङ्गिरा भेद से आप-वायु-सोम-अग्नि-यम-आदित्य यह ६ कलाएं हैं। संभूय १० कलाएं हैं। दशकल की समष्टि दश अक्षर की समष्टि है। छन्दोविज्ञान के अनुसार दशाक्षर छन्द को ही 'विराट्' [दशिनीविराट्] कहा जाता है। यही विराट् सूर्यरूप से हमें प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। सूर्य आपोमय है, इसी लिए तो—'अपांगम्भन्त्सीद' यह कहा जाता है, एवं अग्निमयत्व तो स्पष्ट ही है। यदि सूर्य में पानी न होता तो सूर्य क्षणमात्र में संसार को भस्म कर डालता। साथ ही में यदि सूर्य में अग्नि न होता तो सारा संसार समुद्रगर्भ में विलीन हो जाता, जैसा कि प्रतिदिन क्षीण होता हुआ किसी युग में [कल्पान्त में] निःशेष बनता हुआ सौर अग्नि विशुद्ध आप का साम्राज्य रखता हुआ प्रलय का अधिष्ठाता बन जायगा। इसी अप्-अग्नि मूर्ति विराट्सूर्यपुरुष [हिरण्यगर्भप्रजापति] से आगे की सारी सृष्टिएं होती हैं, जैसा कि निम्न लिखित श्रुतियों से स्पष्ट है—

१—विश्वरूपं हरिणं जातवेदस परायणं ज्योतिरेकं तपन्तम्।
सहस्ररश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥

[प्रश्नोपनिषत् १।८]

२—दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति दूरेअर्थस्तरणिर्भ्राजमानः।
नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि॥
[ऋक् सं० ७ म० । ६३ सू० । ४ मं०]

३—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥
[यजु सं० १३।४६]

ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों अव्यक्त थे, पहिला व्यक्त यही सम्योतिर्मय हिरण्यगर्भनाम से प्रसिद्ध विराट् पुरुष है। हिरण्यगर्भविद्या के उपासक महर्षि विश्व को सूर्यमूल ही मानते हैं, जैसा कि—'मुण्डकोपनिषद्विज्ञानभाष्य' में विस्तार से निरूपित है। इस मिथुनभाव से ब्रह्माण्ड का उदय होता है, यही ब्रह्माण्ड सूर्य का पिण्डरूप है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। इसी ब्रह्माण्ड को लक्ष्य में रख कर स्मृति कहती है—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः॥ (मनु० १।९)।

स्वयम्भू ब्रह्म–इस सूर्य के पिता हैं। सूर्य हम सब के पिता हैं। तभी तो ब्रह्मा को पितामह [बाबा] कहा गया है। विराट् पुरुष को अपने गर्भ में बीजरूप से प्रतिष्ठित रखने वाले, रेत–योनि–रेतोधारूप उस दम्पतीभाव का ही 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रमें निरूपण हुआ है। 'अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्' 'तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्' यह मन्त्रभाग योनि का निरूपक है, 'तस्मिन्नपो' यह भाग रेत का निरूपण करता है, एवं 'मातरिश्वा दधाति' यह मन्त्र भाग रेतोधा का विवेचन करता है। वेदघन ईश्वर समुदायरूप से सर्वथा अनेजत् है, अवयवरूपेण मन से भी जवीय है। इस प्रकार निर्गुण अपराजित (ब्रह्म) गर्भित निष्प्रपञ्च [निष्कल] वेदमय ईश्वर [सर्वभूतान्तरात्मा] एकवत् लक्ष्य बना है। साथ ही यह पूर्णपुरुष से पूर्ण है। त्रिपाद्विभूतिसमष्टिरूप सर्वव्यापक, किन्तु मायावच्छिन्न इसी तत्त्व

को हमने यजुर्ब्रह्म कहा है। वेदत्रयी में ऋग्वेद महोक्थ है, सामवेद महाव्रत है, यजु अग्नि है पृथा है, योनि है। इसी यजु के रूप अव्यवाक् भाग से पद्मब्रह्मरूप आपोब्रह्म उत्पन्न हुआ है। जहांतक यजुर्ब्रह्म व्याप्त है, वहींतक आपोब्रह्म व्याप्त है। दोनों समानायतन हैं। महामायावच्छिन्न विद्याकर्ममय उस व्यापक क्षराक्षरविशिष्ट अव्यय पुरुष [षोडशीपुरुष] का चित्र अपनें सामने रखिए। इस पर पहिला वेदत्रयीरूप ब्रह्मस्तर समझिए, दूसरा पद्मब्रह्मरूप सुब्रह्म स्तर समझिए। साथ ही में तीनों की व्याप्ति समानप्रदेश में समझिए। साथ ही में यह भी स्मरण रखिए कि उत्तरोत्तर स्तरों में पूर्व पूर्वस्तर नित्य प्रतिष्ठित हैं। 'अनन्मदेकम्०' से पहिला उपनिषद्भाग विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है, 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्र विद्या-कर्ममय दूसरे ब्रह्मस्तर का निरूपण करता है, एवं आगे का-'सपर्यगात्०' इत्यात्मक तीसरा अधिकरण तीसरे सुब्रह्मस्तर का निरूपण करता है। ब्रह्मपुरुष से उत्पन्न सुब्रह्मरूप [अब्रूप] स्त्री पुरुष पर प्रतिष्ठित थी, पति पत्नी का सम्बन्ध था, परन्तु बहिर्याम सम्बन्ध था, दोनों के शरीर मात्र मिले हुए थे। ऐसे योगरूप बहिर्याम सम्बन्ध से मिथुनोत्पत्ति असम्भव थी। अतएव आगे जाकर मातरिश्वा द्वारा दोनों का अन्तर्याम सम्बन्ध हुआ। इन दोनों के मिथुन भाव से जो अपूर्व तत्त्व उत्पन्न हुआ, वही-'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध हुआ। पूर्वमें हमनें इस अपूर्वभाव को 'विराट्सूर्य' कहा था एवं यहां शुक्र को अपूर्वभाव बतलाया जारहा है। इसमें विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण 'शुक्र' ही सूर्य का जन्मदाता है। शुक्रावस्था का आंशिक प्रदेश ही आगे जाकर सूर्यरूप में परिणत होता है। अतएव-'यद्वाऽएष एव शुक्रो य एष तपति' तद्यदेष तपति तेनैष शुक्रः' [शत० ४ २।१।१] इत्यादि रूप से सूर्य शुक्र नाम से प्रसिद्ध है। अतएव ब्रह्मविद्या के अनुसार यहां चन्द्रमा को 'मन्थी' कहा जाता है, वहां सूर्य को 'शुक्र' कहा जाता है। सौराग्नि ही अपनें प्रचण्डताप से ग्रीष्म ऋतु का अधिष्ठाता बनता है, अतएव ग्रीष्म ऋतु को भी [सूर्य सम्बन्ध से] 'शुक्र' कहा जाता है। ज्येष्ठमास 'शुक्र' है, आषाढ़मास 'शुचि' है। [देखिए शत० ४।३।१।१५]। विराट् सूर्य को छोड़ दीजिए। अभी विराट् शब्द से केवल शुक्र का ग्रहण कीजिए। त्रयीब्रह्म एवं आपके अन्तर्यामरूप याग सम्बन्ध से

जो अपूर्वभाव उत्पन्न हुआ, वही विश्व का उपादान बनता हुआ [ऋक्–साम–यत्–जू–आप–वायु–सोम–अग्नि–यम–आदित्य भेद से दशाक्षर बनता हुआ] विराट्शुक्र नाम से प्रसिद्ध हुआ। जहाँ तक [महामायातक] ब्रह्म–सुब्रह्मतत्त्व व्याप्त थे, वहीं तक दोनों की सम्मिलित अवस्था-रूप विराट्शुक्र व्याप्त हुआ। यही पहिला अव्यक्त स्वयम्भू है। ससीम और असीम [किन्तु मायावच्छिन्न होने से परमार्थतः असीम] भेद से स्वयम्भू दो प्रकार का है। जबतक महान् की उत्पत्ति नहीं होती, तब तक पुण्डीर स्वयम्भू का उदय नहीं होता। महदुत्पत्ति से पहिले अपनी सत्ता रखने वाला शुक्रमूर्ति स्वयम्भू व्यापक है, महामायावच्छिन्न बनता हुआ एक है। इस महा विश्वव्यापक महा स्वयम्भू के उदर में महान् की माया से उदित होने वाली अनन्त योगमायाओं से अनन्त पुण्डीर स्वयम्भू प्रादुर्भूत होते हैं, जिनका कि दिग्दर्शन आठवें मन्त्र में कराया जायगा। जो किसी समय स्निग्ध था, वही मातरिश्वा द्वारा परब्रह्म [आप] से मिथुनभाव को प्राप्त होता हुआ 'शुक्र' शब्द में बदला है। शुक्र क्या पदार्थ है ? इस प्रश्न का उत्तर है परब्रह्मगर्भित यजुर्ब्रह्म। विश्व के उपादान कारण ही को शुक्र कहते हैं। इसमें वेद–सुब्रह्म दोनों हैं। दोनों का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान बनता है, अतएव इस मिथुनतत्त्व को हम अवश्य ही 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। यही व्यापक अव्यक्त स्वयम्भू है। यही अव्यक्त आगे जाकर व्यक्त महत्तत्त्व में परिणत होकर विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा परायण बनता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है–

> अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
> रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥ (गी० ८।१८)

यही अव्यक्त महत्तत्त्व के सम्बन्ध से व्यक्तस्वरूप में परिणत हो जाता है। इस व्यापक शुक्रमूर्ति व्यापकद्वार से सृष्टि निर्माण होता है।

शरीर पर दृष्टि डालिए। सर्वाङ्ग शरीर में व्यापक सभी शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यद्यपि किन्तु शुक्र ही योनि में आहुत होकर प्रजोत्पत्ति कारण बनता है। यही अवस्था

यहां समझिए। महामायावच्छिन्न ईश्वरशरीर शुक्रमय (अत एव सुब्रह्ममय) है। जैसे भिन्न भिन्न शुक्राहुतियों से भिन्न भिन्न (पुत्र कन्यादि) प्रजाएं उत्पन्न होती हैं, एवमेव ईश्वर शरीर में व्याप्त शुक्र की भिन्न भिन्न आहुतियों से भिन्न भिन्न प्रजा की उत्पत्ति होती है। ईश्वर की प्रजा के १—स्वयम्भू (पुण्डरीकस्वयम्भू) २—परमेष्ठी, ३—सूर्य, ४—चन्द्रमा, ५—पृथिवी यह पांच विभाग हैं। पांचों की समष्टि एक विश्वप्रजा है। ऐसी अनन्त प्रजाएं (अनन्त विश्व) उस में उस के भिन्न भिन्न शुक्र प्रदेशों से उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार शुक्र भेद से अनन्त विश्वप्रजाओं को उत्पन्न कर यह अनन्तविश्वाधिष्ठाता बन जाता है। ईश्वरतत्व 'शुक्र' रूप में कैसे परिणत हो जाता है ? प्रकृत मन्त्र इसी का समाधान करता है। एवं यह शुक्र भिन्न भिन्न प्रजाओं को कैसे उत्पन्न करता है ? पुण्डीर प्रजाओं का क्या स्वरूप है ? इन सब प्रश्नों का समाधान 'स पर्य्यगात्॰' इत्यादि मन्त्र करता है। स्वयम्भू ब्रह्मसत्य है। प्राकृतिकप्राण की विश्वसमृद्धि होने से इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। महद्रूप व्यक्त विश्व का अधिष्ठाता यह स्वत अव्यक्त है। इसी दृष्टि से इसे 'अव्यक्तात्मा' कहा जाता है। अध्यात्मसंस्था में यही अव्यक्तांश 'शान्तात्मा' नाम से प्रसिद्ध है —(देखिए कठोपनिषद् १।३)। यही ब्रह्मसत्याक्षर, स्वयम्भू, अव्यक्तात्मा, शान्तात्मा आदि विविध नामों से प्रसिद्ध पहिला प्राकृतात्मा है। अब महानात्मा नाम से प्रसिद्ध दूसरे प्राकृतात्मा की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

इति मन्त्रार्थप्रकरणम्

अव्यक्तात्माधिकरणे–

विश्वाविश्वात्मनो –सम्बन्धाधिकार

(अमृतात्मना सह ब्रह्मसत्यस्य सम्बन्धनिरूपणम्)

ब्रह्म-कर्मणोः सम्बन्धः



१	तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत ॥ १ ॥	ब्रह्म कर्मस्वरूपम्
२	यस्तु सर्वाणि भूतानि–आत्मन्येवानुपश्यति । सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ २ ॥	कर्म ब्रह्मस्वरूपम्
३	यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि–आत्मैवाभूद्विजानतः । तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत ॥ ३ ॥	अभिन्न कर्म





ब्रह्मकर्म्मसम्बन्धनिरुक्ति



अव्यय पुरुष प्रकृति को आगे कर के ही विश्वनिर्माण में समर्थ होता है। प्रकृति विशिष्ट, (अत एव) सृष्टिप्रवर्त्तक अव्यय पुरुष के ब्रह्म और कर्म यह दो प्रधान विवर्त्त हैं। आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय ब्रह्मभाग है, मन-प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है। दोनों नित्य सहचारी हैं। ब्रह्म-कर्ममय अव्यय से (प्रकृति द्वारा) उत्पन्न विश्व में भी ब्रह्म-कर्म (ज्ञान-क्रिया) इन दो तत्वों का ही साम्राज्य है। प्रयास करनें पर भी आप ज्ञान कर्म के अतिरिक्त तीसरी वस्तु प्राप्त नहीं कर सकते। विश्वात्मा में ब्रह्मभाग विकसित रहता है, विश्व में कर्म की प्रधानता रहती है। अत एव विश्वात्मा को 'ब्रह्म' नाम से व्यवहृत किया जाता है, एवं विश्व को 'कर्म' नाम से पुकारा जाता है। इस भेद व्यवहार का मूल कारण यही है कि अव्ययात्मा का सृष्टिसाक्षीभाग मन प्राण-वाङ्मय है। मन रूपों का उक्थ-ब्रह्म-साम है, प्राण कर्मों का (क्रियाओं का) उक्थ-ब्रह्म-साम है, एवं वाक्तत्व नामों का उक्थ-ब्रह्म साम है। नामरूपकर्म की समष्टि ही विश्व है। अव्ययात्मा के कर्मभाग को आलम्बन मानकर शब्दतन्मात्रा द्वारा ही विश्व का निर्माण हुआ है। इस कर्मप्रधान विश्व के ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह तीन विवर्त्त हैं। अव्ययप्रधान षोडशी स्वयं अमृत किं वा अमृतात्मा है। उपनिषद् के आरम्भ में (पृ० ११) एवं माख्या-ख्याधिकरणान्तर्गत वेदनिरुक्ति की प्रकरणसंगति में (पृ० सं० ४।१५) उपनिषद् का जो विषय विभाग बतलाया गया है, आज उसे दूसरी तरह से देखिए। कर्मगर्भित ब्रह्म (षोडशी पुरुष) के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विश्व यह चार विवर्त्त हैं। यही चतुष्पाद्ब्रह्म है, जिसका कि पूर्व के चतुष्पाद्ब्रह्मनिरूपणाधिकार में विस्तार से दिग्दर्शन कराया जाचुका है। प्रकारान्तर से ईशोपनिषत् इन्हीं चारों ब्रह्म विवर्त्तों का निरूपण करती है। मन्त्रत्रयात्मक प्रथम प्रकरण (पुरुषात्माधिकरण) अमृत नाम से प्रसिद्ध विशुद्ध षोडशीपुरुष का निरूपण करता है। 'अनेजदेकं मनसो जवीय' यह मन्त्र ब्रह्म नामसे प्रसिद्ध अव्यक्त तत्व का निरूपण करता है।

स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्र शुक्र नाम से प्रसिद्ध विकृतिलक्षण व्यक्ततत्त्व का निरूपण करता है, एवं 'सपर्यगात्'० से आगे का सारा प्रकरण विश्व नाम से प्रसिद्ध वैकारिक प्रपञ्च का प्रतिपादन करता है। इन चारों विवर्तों में अमृतात्मा विश्वात्मा है, विश्व का आधार है, विश्वसाक्षी है, पुरुष है। ब्रह्म [अव्यक्त] मूलप्रकृति है। शुक्र विकृति है। विकार विश्व है। पुरुष—प्रकृति—विकृति—विकार—ही अमृत—ब्रह्म—शुक्र—विश्व हैं। इन चारों में पुरुष ज्ञानप्रधान बनता हुआ ब्रह्म है, प्रकृति—विकृति—विकार यह तीनों विवर्त कर्मप्रधान बनते हुए कर्मरूप ही हैं। यद्यपि विश्व केवल विकारसर्ग का ही नाम है। तथापि विकृतिरूप शुक्र ही इसका उपादान कारण बनता है। एवं कार्यरूप विश्व उपादान कारणरूप शुक्रसत्ता से ही सत्तायुक्त बन रहा है। कारण कार्य से अभिन्न है, विकार विकृति से अभिन्न है। अतएव विकृतिरूप शुक्र को विकारसंघरूप विश्व में ही अन्तर्भूत मान लिया जाता है। तीसरा है प्रकृतिरूप ब्रह्म भाग। अव्यक्त प्रकृति ही व्यक्त विकृति (शुक्र) को उत्पन्न कर विश्व की मूल जननी बनती है। प्रकृति की अव्यक्तावस्था ही तो व्यक्तभाव में परिणत होकर शुक्र (उपादान) बनती है। अतः इस प्रकृतिरूप अव्यक्त ब्रह्म का विकृतिरूप व्यक्त शुक्र में अन्तर्भाव मान लिया जाता है। प्रकृति को विकृति से पृथक् नहीं किया जासकता विकृति को विश्व से पृथक् नहीं माना जासकता।

प्रकृति कर्त्री (निमित्तकारण) है, विकृति उपादानकारण है वैकारिक विश्व कार्यरूप है। चौथा अव्यय अमृतात्मा प्रकृति-विकृति-विकार इन तीनों का आलम्बन बनता हुआ सर्वालम्बन है। यह अव्यय कारणातीत है। यद्यपि सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर स्वयं अमृतात्मा में भी (षोडशी पुरुष में भी) अव्यय—अक्षर—आत्मक्षर—अप्रमाणविश्व इस क्रम से उक्त कारणत्व चतुष्टयी की सत्ता सिद्ध होजाती है। इस विभाग में अव्यय अमृत है, अक्षर ब्रह्म (अव्यक्त प्रकृति) है, आत्मक्षर शुक्र (व्यक्तविकृति) है, एवं ब्रह्म—शुक्र—विश्व समष्टि वैकारिक कार्य है। दूसरे शब्दों में अव्यय आलम्बन है, अक्षर निमित्तकारण है, आत्मक्षर उपादानकारण है, एवं ब्रह्म—शुक्र विश्व की समष्टि कार्य ब्रह्म है, तथापि मौलिक विश्व के कार्यकारणभाव के विचार उन

स्थित होनें पर इस क्रम को प्रधानता नहीं दी जासकती। 'सर्व सर्वाणि भूतानि' के अनुसार भौतिकविश्व अव्यय-अक्षर की कारणता से पृथक् ही मानना पड़ता है। यह ठीक है कि आत्मकारणता ही परमकारणता है, तथापि स्थूलदृष्टि से हम षोडशीरूप अमृतात्मा को कार्यकारणातीत ही कहेंगे। इस प्रकार चतुष्पाद्ब्रह्म के सम्बन्ध में आत्मा-विश्व भेद से दो विवर्त्त होजाते हैं। आत्मा भी चतुष्पाद है, ब्रह्म भी चतुष्पाद् है। दोनों की समष्टि अष्टाक्षर गायत्री छन्द है। अतएव ब्रह्मविद् ब्राह्मण गायत्री से ही विश्व का निर्माण मानते हैं।

पुरुष-प्रकृति विकृति सब कुछ गायत्री के उदर में समाविष्ट है। गायत्री चतुष्पाद् ब्रह्म की विभूति है। 'सर्वाणि ह वा छन्दांसि चतुरक्षराणि' के अनुसार गायत्री के आरम्भ में चार पाद (अक्षर) थे, परन्तु विश्वोत्पत्ति के अनन्तर चतुष्पाद् आत्मब्रह्ममयी गायत्री अष्टाक्षरा बन जाती है। इसी ब्रह्मविभूति की प्राप्ति के लिए ब्रह्मविद् ब्राह्मण ब्राह्ममुहूर्त में पूर्वाभिमुख खड़े होकर गायत्रीब्रह्म का स्मरण किया करते हैं। गायत्री ही सब कुछ है। इसी रहस्य को हृदय में रखकर छान्दोग्य श्रुति कहती है—

> "गायत्री वा इदं सर्वं-भूत-यदिदं किञ्च। वाग्वै गायत्री। वाग्वा इदं सर्वं भूतम्। गायति च त्रायते च। + + + + +
> तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि, त्रिपादस्यामृतं दिवि। यद्वैतद् ब्रह्म इति, इदं वाव तत् योऽयं-बहिर्धा पुरुषादाकाशः। यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः-अयं वाव स योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः — अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः। तदेतत् पूर्णं अप्रवर्त्ति, पूर्णमप्रवर्त्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद" इति।
>
> [छान्दोग्योपनिषद् ३ प्र १२ खं)

गायत्रब्रह्म —

‹‹ [illegible] गायत्री । [illegible] ››

१ १-अव्ययपुरुष — पुरुष — अमृतम् (आलम्बनम्)
२-२-अक्षरपुरुष — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तकारणम्)
३ ३-आत्मक्षरपुरुष विकृति — शुक्रम् (उपादानकारणम्)
} आत्मा

४ ४ { ब्रह्म (१) / शुक्रम् (२) / विश्वम् (३) } विकारसंघ - विश्वम् (कार्यप्रपञ्चम्) } विश्वम्

} १ चतुष्पाद्ब्रह्म

——।०——

५ १-षोडशीपुरुष —— पुरुष — अमृतम् (आलम्बनम्) } आत्मा (पुरुष)
६ २-ब्रह्म(अव्यक्तप्रकृति) — प्रकृति — ब्रह्म (निमित्तका०)
७-३-शुक्रम्(व्यक्तप्रकृति) — विकृति — शुक्रम् (उपादान०)
८ ४-विश्वम्(व्यक्तकार्यम्) — विकारसंघ — विश्वम् (कार्यप्र०)
} विश्वम् (प्रकृति)

} २ चतुष्पाद्ब्रह्म

‹‹ गायत्री ब्रह्म ››

——।०——

दोनों ब्रह्म विवर्तों में से ईशोपनिषत् में प्रधान दृष्टि किस विवर्त पर है ? यह पाठक स्वयं विचार करें । उन्हें उपनिषत् के नाम से ही यह विदित होजायगा कि उपनिषत् की प्रधानदृष्टि दूसरे विवर्त पर है । ईश शब्द भौतिक विश्व की अपेक्षा रखता है । षोडशी पुरुष आत्मा है । ब्रह्म-शुक्र-विश्व की समष्टि इस आत्मा का शरीर है । इस आत्मन्वी का नाम ईश किंवा ईश्वर है । आत्मभाग अमृतभाग है, शरीरभाग प्राकृतभाग है । दूसरे शब्दों में आत्मा पुरुष है, शरीर प्रकृति है । ईश उपनिषत् प्रकृतिपुरुष का ही निरूपण करती है । अतएव इस उपनिषत् में हमने पुरुषात्माधिकरण—प्राकृतात्माधिकरण यह दो ही अधिकरण रक्खे हैं । साथ ही में पुरुषात्माधिकरण का शीर्षक (हैडिङ्ग) 'अमृतात्मा' रक्खा है, प्राकृतात्मा का

'प्राकृतात्मा' यह शीर्षक रक्खा है। सामान्य दृष्टि से सारी उपनिषत् के दो ही विभाग हैं। आरम्भ के तीन मन्त्रों की समष्टि पुरुषविभाग है आगे के (अनेजदेकं—से आरम्भकर नम उक्तिं विधेम पर्यन्त) १५ मन्त्रों की समष्टि प्रकृतिविभाग है। प्रकृति की आगे चलकर प्रकृति विकृति विकारसंघ (ब्रह्म-शुक्र-विश्व) यह तीन अवस्थाएं होजाती हैं, अतएव दूसरा विभाग तीन भागों में विभक्त हो जाता है। 'अनेजदेकं०' इत्यादि चतुर्थमन्त्र प्रकृति के ब्रह्मविवर्त का निरूपण करता है। 'सपर्यगात्०' इत्यादि आठवां मन्त्र प्रकृति के शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। एवं आगे के (अन्धं तमः० इस ९ मन्त्र से आरम्भ कर 'नम उक्तिं विधेम' इस १८वें मन्त्रतक) १० मन्त्रों की समष्टि प्रकृति के विश्वविवर्तभूत वैकारिकसंघ का निरूपण करती है। इसप्रकार १ (४ मन्त्र), १ (८ मन्त्र), १ (९ से १८ तक) इस क्रम से प्रकृतिके ही तीनों विवर्तों का निरूपण हुआ है। उपनिषदुपदेश जीवात्मा (अध्यात्म) से सम्बन्ध रखता है। जीवात्मा देवसत्य नाम से प्रसिद्ध है। जीवदेवसत्य की प्रतिष्ठा ईश्वरीय देवसत्य है। यह दोनों ही देवसत्य विश्व के पृथिवीपर्व पर प्रतिष्ठित हैं। देवसत्य अग्निरूप है। सोम अग्नि का जीवन है। सूर्य इस देवसत्य का आत्मा है। सूर्यरूप विश्व (व्यक्त विश्व) देवसत्य की मूलप्रतिष्ठा है। सोममय चन्द्रमा जीवनीय रस है, जीवन का साधन है, पृथिवी आधार है। इस प्रकार व्यक्त विश्व में सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी यह चार विवर्त होजाते हैं। सूर्य भी अग्नि है, देवसत्य भी अग्नि है, पृथिवी भी अग्नि है, मध्यप्रतिष्ठित सोमरूप चन्द्रमा भी अग्नि से ही गृहीत है। विश्व के लिए 'अग्नीषोमात्मकं जगत्' यह कहा जाता है। इन में अग्निकला सूर्य-देवसत्य-पृथिवी इन तीन भागों में विभक्त है। चौथी सोमकला है। इसप्रकार अग्नीषोमात्मक विश्वके सूर्यादि चार विवर्त होजाते हैं। चारों की समष्टि को हम (अन्नसोम को अन्ना अग्नि के गर्भ में मानते हुए) अग्निशब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। समष्टिरूप से विश्व सोमगर्भित अग्नि है, व्यष्टिरूप से वही सूर्य-चन्द्रमा-देवसत्य-पृथिवी इन चार भागों में विभक्त है। सूर्य व्यक्त विश्व का आरम्भस्थान है, पृथिवी अन्तिमस्थान है। मध्यमें चन्द्रमा और देवसत्य प्रतिष्ठित हैं। इन चारों व्यष्टियों का अन्ततोगत्वा समष्टिरूप अग्नि पर अवसान है। इस क्रमसे ९ मन्त्रात्मक चौथे विश्वप्रकरण के

अवान्तर पाँच प्रकरण हो जाते हैं। सूर्यप्रकरण*-चन्द्रप्रकरण-देवसत्यप्रकरण-पृथिवीप्रकरण-अग्निप्रकरण इन प्रकरणों में ३ मन्त्र (९ १० ११) सूर्यकक्षा का, ३ मन्त्र (१२ १३ १४) चन्द्रकक्षा का, २ मन्त्र (१५ १६ यह दो मन्त्र पूरे एवं तीसरे १७ वें मन्त्र का 'वायुरनिलममृतम्' यह एक चरण) देवसत्यकक्षा का, तीन+ मन्त्र (१७ वें मन्त्र के शेष तीन चरण) पृथिवीकक्षा का, एवं एक मन्त्र (अठारहवां मन्त्र) समष्टिरूप अग्नि का निरूपण करता है, जैसा कि विषयविभागप्रकरण में स्पष्ट कर दिया गया है।

यद्यपि इस अप्रासंगिक कथा से पाठक क्षुब्ध होरहे होंगे। परन्तु हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि यह क्षोभमात्र उन के लिए उपनिषद्ज्ञान का मार्ग ऋजु करदेगा। चलिए समष्टिरूप से विषयविभाग की ओर चलते हुए अपना क्षोभ और बढ़ाइए।

उपनिषत् को आत्ममयी ईश्वरप्रजापति का निरूपण करते हुए तदंशभूत अध्यात्मसंस्था का निरूपण करना है। ईश्वरसंस्था पुरुष और प्रकृतिभेद से दो भागों में विभक्त है। विषयसम्बन्ध से पुरुष को अपने कर्मभाग को आगे रखना पड़ता है। स्वयं पुरुष भी अव्यय-अक्षर-क्षर भेद से त्रेधा विभक्त है, एवं अव्यय का कर्मभाग भी मन-प्राण-वाक् भेद से त्रेधा विभक्त है। इन में मन अव्ययप्रधान है, अक्षर प्राणप्रधान है, क्षर वाक्प्रधान है, यह है ईश्वरविवर्त्त। अध्यात्म संस्था में अव्ययरूप मन कामना से भोगों का, प्राणरूप अक्षर कर्मों का, वाग्रूप क्षर व्यवहरण

* 'सूर्याचन्द्रमसौ' का युग्म है। यही संवत्सरचक्र के प्रवर्तक हैं। अतएव दोनों में ३ ३ मन्त्र का समान क्रम रक्खा गया है।

+ देवसत्य सत्य है, सत्य त्रिवृत् है। अतएव श्रुति को देवसत्य निरूपण के लिए तीन मन्त्र रखने पड़े। पूरे तीन मन्त्र नहीं अपि तु ढाई मन्त्र। १७ वें मन्त्र के तीन चरण पृथिवी में युक्त होगए। कारण पृथिवी देवसत्य की प्रतिष्ठा है। त्रिवृत्स्तोम से यह प्रतिष्ठित रहती है, आगे [illegible] यह देवसत्य में परिणत होती है, जैसा कि तत्प्रकरण में आकर स्पष्ट हो जायगा। इसी रहस्य को बतलाने के लिए तीन चरणों में १७ वें का विभाजन हुआ है, एक चरण का देवसत्य प्रकरण में अन्तर्भाव है।

का साक्षी बनता है। इसी भोग-कर्म-आवरणसाक्षी त्रिपुरुष पुरुष का निरूपण क्रमशः आरम्भ के तीन मन्त्रों में हुआ है। यही पहिला मन्त्रत्रयात्मक पुरुषात्माधिकरण है। (प्रस्तुतम्)।

दूसरा विवर्त है प्रकृति। प्रकृति का पहिलारूप है-यदृब्रह्मगर्भित ऋिग्ब्रह्मरूप प्राणमय यजु ब्रह्म। यही अध्यात्म में अव्यक्तात्मा नाम से प्रसिद्ध है, यही ईश्वरसंस्था में स्वयम्भू नामसे प्रसिद्ध है। आरम्भ में यह एकाकी था। यही आगे जाकर शुक्रविकास का कारण बनता है। 'अनेजदेकम्' इत्यादि चौथा मन्त्र इसी ब्रह्मविवर्त का निरूपण करता है। (ब्रह्म)।

प्रकृति का दूसरा विवर्त शुक्र है। ऋिग्ब्रह्मगर्भित (यजुर्ब्रह्मगर्भित) आपोमय सुब्रह्म का ही नाम 'शुक्र' है। यह अव्यक्तब्रह्म की व्यक्तावस्था है। यही विकृतिमय है। अधिदैवत में यह परमेष्ठी नाम से, अध्यात्म में यही महानात्मा नाम से प्रसिद्ध है। 'सपर्यगात्८' इत्यादि ८ वां मन्त्र इसी शुक्रविवर्त का निरूपण करता है। (शुक्रम्)।

प्रकृति का तीसरा विवर्त है-अग्नीषोमात्मक विश्व। विश्व की प्रथम विकासभूमि सूर्य चन्द्रमा हैं, जैसा कि 'सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्-दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः' इत्यादि मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है। सूर्य अग्नि है, चन्द्रमा सोम है। सूर्य ही अपने प्रवर्ग्य अग्नि से पृथिवी को उत्पन्न करता हुआ द्यावापृथिवीरूप में परिणत होता है। सूर्य द्युलोक है, पृथिवी पृथिवी है, मध्यस्थ सोमविवर्त अन्तरिक्ष है। इस त्रैलोक्य की समष्टि ही 'ब्रह्माण्ड' है, यही विश्व है। पृथिवी पिण्डरूप विश्व अग्नि पृथिवी है, पृथिवी का ही प्राणाग्नि देवसत्य है। यह देवसत्य पृथिवी पर प्रतिष्ठित है। इस क्रम से सावित्र्याग्नि-सोम-देवसत्य-गायत्र्याग्नि-भेद से अग्नीषोमात्मक विश्व चतुष्पर्व बन जाता है। सब का मूल परात्पर एक सत्याग्नि है। आगे के १० मन्त्रों से इसी पञ्चधा विभक्त अग्नीषोमात्मक विश्व का निरूपण हुआ है। (देखिये ई० वि० भा० ८७ पृ०)। इस पुरुष प्रकृति का अपरपारीण सर्वात्मलक्षण-पूर्ण अखण्ड परात्पर तत्व है। इसी रहस्य को सूचित करने के लिए उपनिषत् के उपक्रमोपसंहार में 'ओं पूर्णमदः" इस रूप से शान्तिपाठ किया है। परात्पर व्यापक होने से सर्वथा शान्त है। यही शान्ति का अभिप्राय है।

प्रकृत प्रकरण सम्बन्ध का निरूपण करता है। सम्बन्ध के सम्बन्ध में मन्त्रसम्बन्धिनी सम्बन्ध जिज्ञासा सम्बद्ध है। अत एव प्रसङ्गोपात्त मन्त्रसम्बन्ध का दिग्दर्शन कराना पड़ा। पुन प्रकृत का अनुसरण किया जाता है।

यद्यपि अभी विश्व का स्वरूप नहीं बतलाया गया है। कारण अग्नीषोमात्मक विश्व का उपादान शुक्ररूप व्यक्त महद् है, इस की मूलप्रकृति अव्यक्त ब्रह्म है। 'अनेजदेकम्' से इस का निरूपण हुआ है। फिर भी ब्रह्म ही विश्व की मूलप्रकृति है। 'प्रकृतिः कर्म्मी' के अनुसार यही व्यक्तावस्था में आकर विश्वरूप में परिणत होनें वाली है। जब विश्व की मूलप्रकृति का निरूपण होगया तो एक प्रकार से विश्व का निरूपण होगया। अनेजदेकम्० के अनन्तर ही आगे ब्रह्म-कर्म (पुरुष-प्रकृति) के सम्बन्ध का निरूपण करना उचित समझा है। इस प्रकरण में ब्रह्म शब्द षोडशीपुरुष का वाचक है, कर्मशब्द विकार (विश्व), विकृति (शुक्र) गर्भित अव्यक्त ब्रह्म का वाचक है। इस कर्ममय, अतएव कर्म नाम से (कर्म्मी नाम से) प्रसिद्ध इस अव्यक्त ब्रह्म का विकास उस पुरुषब्रह्म से (पुरुष ब्रह्म के कर्मभाग से) हुआ है। अपनी आगमवर कला से यह अव्यक्त ब्रह्म का ब्रह्म (उपादान) बना है। अतएव सृष्टिकर्तृत्व की अपेक्षा से उसे हम अवश्य ही ब्रह्म कह सकते हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार स्वप्रभव अव्यक्त ब्रह्म को उत्पन्न कर वह षोडशीपुरुष (अमृतात्मा) इसके गर्भ में प्रविष्ट होगया है। दूसरे शब्दों में भौतिक कर्मरूप विश्व में वह अमृत ब्रह्म प्रतिष्ठित होरहा है। ऐसी परिस्थिति में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस ब्रह्म (आत्मा) का इस कर्म (विश्व) के साथ क्या सम्बन्ध है? कैसा सम्बन्ध है? दूसरे शब्दों में आत्मब्रह्म कर्मविश्व में किस सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर विश्वचर-विश्वेश-विश्वाधार आदि नामों से प्रसिद्ध हो रहा है? प्रकृत तीनों मन्त्र इसी सम्बन्ध जिज्ञासा को शान्त करते हैं।

दर्शनशास्त्रोंमें ब्रह्म-कर्म का सम्बन्ध ६ प्रकार से माना है। यही सम्बन्ध 'षड्विकल्प' नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म कारण है, विश्व कार्य है। लोकमें हम कार्य-कारणभावों के सम्बन्ध में वैचित्र्य पाते हैं। कार्य-कारणसम्बन्ध अनेक प्रकार से उपलब्ध होता है। उदाहरण के

लिए कुछ एक कार्यकारणभावों का विचार कीजिए। विविध कार्यकारणभावों का निरूपण करते हुए अभियुक्त कहते हैं—

हेतुर्निमित्त प्रकृतिश्च योनि मारम्भमूले प्रभवोद्भवौ तथा।
विवर्तसंचारिरसमवायिकप्रकृतपूर्व समवायिका मताः॥

१—दीपशलाका से दीपक जल उठता है। दीपशलाका कारण है, इससे प्रज्वलित दीपशिखा कार्य है। इन दोनों का सम्बन्ध 'हेतुसम्बन्ध' है। इसे ही 'प्रवर्तक' सम्बन्ध भी कहा जाता है। कैसा विलक्षण सम्बन्ध है। कारण का कार्यरूपमें परिणत होजाना उपादान सम्बन्ध है। यहां कारणरूप दीपशलाका कार्यस्वरूप साधक बनती हुई भी स्वयं दीपज्वाला नहीं बनती, यही विलक्षणता है।

२—वायु में एक प्रकार का नोदनाभाव (प्रेरणाभाव) देखा जाता है। नोदना कार्य है, वायु कारण है। इसी वायुनोदना से वृक्षादि में कम्प होता है। मेघों का संचरण होता है। यह कार्यकारणसम्बन्ध नैमित्तिक किंवा निमित्तसम्बन्ध नाम से प्रसिद्ध है।

३—आकाश में पक्षी उड रहे हैं। सर्प दशन (काठ) करते हैं। मृगशावक (हरिण के बच्चे) उछला करते हैं। पुष्प में से गन्ध निकला करता है। यहां पक्षी—सर्प—मृगशावक—पुष्प यह चारों क्रमशः उडना—दशन—उछलना—गन्ध इन चार कार्यों के कारण हैं। इनका पारस्परिक सम्बन्ध 'प्राकृतिक' (स्वाभाविक), किंवा प्रकृति (स्वभाव) सम्बन्ध कहलाता है।

४—शब्द से शब्द पैदा होता है। आप अपने मुख से जो शब्द बोलते हैं, उसका आकाश में सर्वत्र व्याप्त वाक्समुद्र में आघात होता है। आघात होते ही वाक् समुद्रमें उच्चारित शब्दाकाराकारित लहर उत्पन्न होजाती है। एक लहर के आघात से आगे दूसरी लहर, दूसरी से तीसरी लहर, तीसरी से चौथी, पांचवीं इस प्रकार वीचियों की धारा बन जाती है। यही प्रतिध्वनिभाव है। यही लहर अन्य व्यक्ति के कानपर पहुंच कर शब्दोत्पत्ति का कारण बन जाती है। इसी के लिए—'शब्देभ्यः शब्दोत्पत्तिः' यह कहा जाता है। आप जो शब्द सुनते हैं वह स्वरूप वीचिन्याय

से अन्य व्यक्ति के मुख से बोले हुए शब्द से उत्पन्न हुआ है। तेज से तेजका विकास होता है। ऋक् से साम का स्वरूप सम्पन्न होता है। यहां शब्द तेज-ऋक् कारण हैं शब्द-तेज-साम कार्य हैं। इन कार्यकारणों का सम्बन्ध 'योनि' नाम से प्रसिद्ध है। इसीको साम्पाविक सम्बन्ध भी कहा जाता है।

५-जो मनुष्य शीघ्र चलता है, उसकी गति में वेग उत्पन्न होजाता है, इसी अभिप्राय से शीघ्र गामी के लिए-'यह बड़े वेग से जारहा है' यह कहा जाता है। वेग-कार्य है, गति कारण है। गति ही वेग की सूचना देती है। अन्नरस के अनन्तर रस, रस के अनन्तर असृक्, इस क्रम से सात धातुओं का विकास होता है। गति-अन्नरस कारण हैं, वेग-सप्तधातुक्रम-कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'आरम्भ' नामसे प्रसिद्ध है। इसीको 'सांस्कारिक सम्बन्ध' कहाजाता है। इसी आधारपर "यह संस्कार की बात है, उस का आरम्भ ही ऐसा था" यह किंवदन्ती प्रचलित है।

६-तिल से तैल उत्पन्न होता है, हिमालय से गङ्गा उत्पन्न होती है, दूध से घृत निकलता है, पाषाण से मूर्त्ति निकलती है, गुहा से सिंह निकलता है। यहां तिल-हिमालय-दूध पाषाण-गुहा कारण हैं। तैल, गङ्गा, घृत, मूर्त्ति, सिंह कार्य हैं। यह सम्बन्ध 'उद्भव' किंवा 'औद्भाविक' नामसे व्यवहृत होता है। इस सम्बन्ध में आवरणभङ्ग को ही कारणता है। तिल में से तैल नया उत्पन्न नहीं होता, अपि तु तिलमें पहिले से तैल है। केवल आवरण आ रहा है। इस आवरण का नाम ही 'तिल' है। आवरण को हटा दीजिए, तैल प्रकट होजायगा। हिमालय गङ्गा का आवरण है। दूध घृत का आवरण है। पाषाण मूर्त्ति का आवरण है। गुहा सिंह का आवरण है। नई वस्तु उत्पन्न नहीं होती, अपि तु पहले से विद्यमान वस्तु आवरणनाश से प्रकट होजाती है। यही प्रामाणिक दर्शन (सांख्यशास्त्र) का सत्कार्य-वाद सिद्धान्त है। बात यथार्थ है। यदि ऐसा न हो तो पानी में से भी घृत निकल सकता है। दूध से तेल निकल सकता है। एक बृहदाकार पाषाण में सभी देवताओं की प्रतिमाएं पहिले से

प्रतिष्ठित हैं। शिल्पी नई मूर्ति नहीं बनाता, अपि तु वह पाषाणस्थित मूर्ति के बहिरावरण को हटा देता है। शिल्पी जिन मूर्तियों का स्वरूप जानता है, उन्हीं का स्वरूप पाषाण में से वह निकाल सकता है। ध्यान रहे—यदि शिल्पी अपने शिल्पास्त्रों से (टांकी हथौड़े से) मूर्ति पर प्रहार कर देगा तो मूर्ति नष्ट हो जायगी। मूर्ति को बचा बचा कर ही उसे बाहर का आवरण हटाना पड़ता है। आवरण के आत्यन्तिक हटा देने से पाषाणस्थ प्रतिमा प्रकट हो जाती है। इसी का नाम सत्कार्यवाद है। जो वस्तु है, उसी की उपलब्धि होती है— यदिस्या दुपलभ्येत। यदि पाषाण में मूर्ति पहिले से न होती तो सहस्रशिल्पी भी पाषाण की मूर्ति नहीं बना सकते थे। यदि शिल्पी ही पाषाण को मूर्ति का रूप देता है तो क्यों नहीं वह पानी की मूर्ति बना लेता। इसी अभिप्राय से 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत' यह कहा जाता है। यही प्रतिमापूजन की अनादिता एवं वैदिकता है। इसी उद्भव सम्बन्ध को 'मानिकसम्बन्ध' कहा जाता है। विश्व नया नहीं बनता, अपि तु अन्यक्तावरण के भग से प्रकट होता है।

७ भूमि से अंकुर उत्पन्न होता है। प्राणियों से नोदना बल (प्रेरण बल) का उदय होता है। रुद्र से ताप उत्पन्न होता है। पुरुष से पुत्र उत्पन्न होता है। मकड़ी से जाल उत्पन्न होता है। यहां भूमि–प्राणी–रुद्र–पुरुष–मकड़ी कारण हैं, अंकुर–नोदना–ताप–पुत्र–जाल कार्य हैं। इन का सम्बन्ध 'उद्भवसम्बन्ध' कहलाता है। इसे ही 'भौतिकसम्बन्ध' भी कहते हैं। यहां प्रभव का (कारण का) नाश नहीं है, केवल प्रभव का एक देश प्रभव से पृथक् होकर कार्यरूप में परिणत होता है। सारा मृत्पिण्ड अंकुर नहीं बनता, सारा शुक्र पुत्र नहीं बनता। सारी मकड़ी जाल नहीं बनती। अपितु भू–शुक्र–मकड़ी का एक प्रदेश ही अंकुर–पुत्र जालरूप में परिणत होता है। इसी को सांतानिकसम्बन्ध भी कहा जाता है।

८–आठवां विवर्त सम्बन्ध है। अविकृतपरिणामवाद ही विवर्त नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्म विश्व बन गया है। ब्रह्म की अवस्थान्तर का नाम ही विश्व रख दिया है। अथवा विश्व ब्रह्म से पृथक् पदार्थ नहीं है। ब्रह्म ही विश्वरूप से प्रतीत होता रहा है। विश्व साक्षात् ब्रह्म है। यही

भ्रमविवर्त्तवाद है। इसी को प्रातिभासिकविवर्त्त कहते हैं। विश्व असद्वत् स्वतन्त्र सत्ता नहीं रखता। विश्व की केवल भाति है। सत्ता ब्रह्म की ही है। अथवा सत्ताब्रह्म का ही विश्वरूप से भान होरहा है। मनात्मक चित्तिविवर्त्त भी इस प्रातिभासिक विवर्त्त में ही अन्तर्भाव है।

९—खगोल में मध्यरेखा विषुवद्वृत्त है। जिस पर भूपिण्ड सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाता है, वह वृत्त क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। तत्तत्तारापुञ्जों में विभक्त मेष—वृष—मिथुनादि राशिएं राशिमूर्तिएं हैं। नक्षत्रों से नक्षत्र पुरुषों का स्वरूप बना हुआ है। यह सब काल्पनिक जगत् है। आकाश में कोई वास्तव में गोल वृत्त नहीं है, क्रान्तिवृत्तरूप कोई सड़क नहीं बनी हुई है। राशियों की कोई प्रतिमाएं नहीं हैं। केवल कल्पना है। कल्पना से वृत्तादि कल्पित हैं। यही विकल्प किं वा वैकल्पिक सम्बन्ध है।

१०—हमारा मन नई नई कल्पनाएं किया करता है। अपने अन्तर्जगत् में विचित्र विचित्र स्वरूपों की भावना किया करता है। यही मनोराज्य है, इसी को 'ऐच्छिकसम्बन्ध' कहा जाता है।

११—वृक्ष से पुष्प-फल उत्पन्न होते हैं। लोह से किट्ट (जंग) उत्पन्न होता है। शरीर से केश लोम उत्पन्न होते हैं शुक्र उत्पन्न होता है। यह सब 'औपपादिक सम्बन्ध' हैं।

१२—दूध से घी उत्पन्न होती है। शुक्र शरीररूप में परिणत होता है। सण से रस्सी बनती है, पत्र (कागज) बनते हैं। अङ्गार से भस्म उत्पन्न होता है। वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथिवी उत्पन्न होती है। यहां कारण (प्रकृति) अपने स्वरूप से च्युत होता हुआ कार्य (विकृति) रूप में परिणत हो रहा है। स्वरूपान्तरभावरूप यही सम्बन्ध परिणामी किंवा परिणामिक नाम से प्रसिद्ध है।

१३—पानी से ओषधिएं, ओषधियों से शुक्र उत्पन्न होता है। यही रसानुप्रभिक किं वा रसचारी सम्बन्ध है।

१४—विजया—सुरा—आसव—यह सब द्रव्य सांयोगिक समवायी सम्बन्ध में अन्तर्गत हैं।

१५—पानी में लहर, मिट्टी में घट, तन्तु से पट, लकड़ी से कपाट, सर्प से कटक, तेज—अप्—अन्नका क्रमिक विकास इन सब का औपादानिक किंवा उपादान सम्बन्ध में अन्तर्भाव है।

१६—अग्नि से पानी का गरम होजाना, रस्सि से साप होजाना, सुवर्ण का पिघल जाना, इत्यादि सांक्रामिक सम्बन्ध हैं।

१७—स्फटिकमणि पर जपापुष्प का राग, यह आक्रमिकसंचारी सम्बन्ध है। इसी को आभिनाविक सम्बन्ध कहा जाता है।

१८—ऊर्णा (मकड़ी) की नाभि से तन्तु उत्पन्न होता है। मकड़ी कारण है, मकड़ी से उत्पन्न जाल कार्य है। इसी प्रकार पुरुष से केश लोम उत्पन्न होते हैं। पुरुष कारण है, केशलोम कार्य हैं। पृथिवी कारण है, ओषधि वनस्पतिएं कार्य हैं। पिता कारण है, पुत्र कार्य है। मृत्तिका कारण है, घट कार्य है। इन पांचों ही कारणों का उपादानभाव से सम्बन्ध है। उपादानकारण लेम पांचों की कारणता यद्यपि समान प्रतीत होरही है, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से पांचों का पार्थक्य स्पष्टरूप से प्रतीत होने लगता है। पहिले ऊर्णनाभि को ही लीजिए। मकड़ीकी नाभि से उत्पन्न होनेवाला जाल अपने प्रभव (मकड़ी) से पृथक् निराधलम्ब रहता है। साथ ही में आगे जाकर यह जाल अपने प्रभव (मकड़ी) में लीन भी हो जाता है। इसप्रकार अपने प्रभवका आश्रय न लेना, प्रभव से पृथक् रहना अन्तमें प्रभव में ही लीन होजाना, यह एक प्रकार का कार्यकारणभाव है। ऊर्णनाभि में प्रभवानालम्बनत्व, प्रभवपृथक्चरत्व, प्रभवविलयनत्व यह तीन कोटि हैं।

केशलोम पुरुष से उत्पन्न होकर पुरुष में ही प्रतिष्ठित रहते हैं। जाले की तरह पुरुष से पृथक नहीं रहते। साथ ही में यह अपने प्रभव पुरुष से पृथक् भी होजाते हैं। इस प्रकार यहां प्रभवासम्बनत्व, प्रभवानालम्बनत्व दोनों धर्म हैं। जाल की तरह इनका 'प्रभव में विलयन नहीं होता। ओषधि वनस्पतिएं प्रभव (पृथिवी) में आलम्बित हैं, आलम्बित होतीं हुई स्वतन्त्र रूप से ऊपर की ओर बढ़ती हैं, यही इनका पृथक्चरत्व है। इन्हें काट कर फेंक दीजिए,

फिर भी इसका आलम्बन पृथिवी ही रहती है। मकड़ी के जाल में यह बात नहीं है। यदि उसे अलग करदिया जायगा तो मकड़ी इसका आलम्बन न रहेगी। यहां प्रत्येक दशा में पृथिवी ही आलम्बन है। मकड़ी का जाल जैसे मकड़ी से पृथक् होजाता है, ओषधि वनस्पतिएं शरीरभूत पृथिवी से कभी पृथक् नहीं हो सकतीं। इनका विलयन पृथिवी में ही होता है। मकड़ी में विलयन अविलयन दोनों धर्म हैं। यहां केवल विलयन ही है। पृथक्त्वरूप जाल और ओषधियों में समान है। पुरुष से उत्पन्न केशलोम में आलम्बनत्व-अनालम्बनत्व दोनों धर्म थे, मकड़ी में अनालम्बनत्व ही था, पृथिवी में आलम्बनत्व ही है। साथ ही में केशलोम में प्रभव-विलयनत्व है ही नहीं। ओषधि वनस्पतियों में प्रभवविलयनत्व ही है। मकड़ी के जाल में विलयनत्व अविलयनत्व दोनों धर्म हैं इस प्रकार तीनों में कुछ न कुछ अन्तर है। पिता पुत्र के कार्यकारणभाव में तीनों से विलक्षणता है। यहां पुत्र अपने प्रभव (पिता) में आलम्बित नहीं है। इसका विलयन भी मिट्टी में होता है। परन्तु जाल-ओषधि-केशलोम-पुत्रवत्-घड़ा मिट्टी से पृथक्भूत नहीं है। अग्नि से विस्फुलिङ्ग उत्पन्न होते हैं। यहां भी उपादान कार्यकारणभाव सम्बन्ध है परन्तु यह पांचों से विलक्षण है। दीपशलाका से अन्य दीपक जल पड़ता है। शलाकाग्नि कारण है, परन्तु शलाकाग्नि का यत् किञ्चित् अंश भी दीपक में प्रविष्ट नहीं होता। कुम्भकारवत् निमित्त कारणता का भी ऐसे स्थल में समावेश नहीं होता एवं मृत्पिण्डवत् उपादान कारणता भी नहीं मानी जासकती है। वैसा विलक्षण सम्बन्ध है।

उपर्युक्त कुछ एक उदाहरणों से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि कार्यकारणभाव किसी एक ही नियम पर प्रतिष्ठित नहीं है। यदि ऐसा होता तो विश्व के सारे पदार्थ समानधर्मा होते। सबका उत्पादक तत्त्व एक है, इसमें कोई सन्देह नहीं। केवल सम्बन्ध की विलक्षणता, एवं पृथक्ता से पदार्थों में वैचित्र्य उत्पन्न होजाता है। अतएव सृष्टि का पर्यवसान कार्यकारणों के सम्बन्धों पर ही मानना पड़ता है।

१–१–प्रभवासम्भवत्व
२–प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्त्वरत्व

} "यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च" १

—o—

२–१–प्रभवासम्भवत्व
२–प्रभवविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्त्वरत्व

} 'यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति" २

—o—

३–१–प्रभवासम्भवनत्वानासम्भवनत्व
२–प्रभवाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्त्वरत्व

} "यथा सत पुरुषात केशलोमानि" ३

—o—

४–१–प्रभवानासम्भवनत्व
२–प्रभवाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्त्वरत्व

} "यथा पितु -पुत्रः" ४

—o—

५–१–प्रभवासम्भवनत्व
२–प्रभवविलयनत्व
३–प्रभवापृथक्त्वरत्व

} "यथा मृत्तिकातो घटः" ५

—o—

६–१–प्रभवासम्भवनत्वाभासम्भवनत्व
२–प्रभवविलयनत्वाविलयनत्व
३–प्रभवपृथक्त्वरत्वापृथक्त्वरत्व

} "यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते' ६

—o—

उपर्युक्त कुछ एक निदर्शनों से पाठकों को विदित होगया होगा कि विश्व में कार्यकारण-भाव अनेक भागों में विभक्त हैं। ऐसी अवस्था में—'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्धनानाकोट्यवगाहिज्ञानं संशयः' इस न्याय के अनुसार कारण ब्रह्म और कार्य कर्म के सम्बन्ध में जिज्ञासा का होना स्वाभाविक होजाता है। प्रकृत में केवल 'षड्विकल्प सम्बन्ध' की ही प्रधानता है। इस षड्विकल्प सम्बन्ध के आगे जाकर १२ विवर्त होजाते हैं। इन १२ हों का ४-३-५ यह क्रम है। चार स्वरूपसम्बन्ध हैं, चार पर्याप्त्यधिकरणत्व सम्बन्ध हैं, पांच अन्यासक्तिरूपत्व सम्बन्ध हैं। तेरहों का षड्विकल्पों में अन्तर्भाव है। इसी षड्विकल्प सम्बन्ध को—'अभिन्न सत्ताककार्यकारणभावसम्बन्ध' कहा जाता है। उदाहरण के लिए एक मिट्टी के घड़े पर दृष्टि डालिए। मिट्टी से घड़ा बना है, यह सभी को विदित है। मिट्टी कारण है, घड़ा कार्य किंवा कर्म है। मिट्टीरूप कारण से उत्पन्न घटरूप कार्य का मिट्टी के साथ क्या सम्बन्ध है? अथवा मिट्टी का घड़े के साथ क्या सम्बन्ध है? (कार्य का कारण के साथ, कारण का कार्य के साथ क्या सम्बन्ध है?) यह विचार कीजिए। मिट्टी घट की प्रतिष्ठा है। मिट्टी को छोड़ कर घट कथमपि स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि घट मिट्टी में है, यही प्रथम सम्बन्ध है। साथ ही में घटावच्छिन्न मिट्टी घट को छोड़कर नहीं रह सकती। मिट्टी का जो भाग घट कहलाता है, वह घटरूप मृत्तिका सचमुच घट के बिना नहीं रह सकती। घट के नष्ट होजाने पर मिट्टी अवश्य रहेगी, परन्तु घटाकाराकारित मिट्टी न रहेगी। घटाकाररूप मिट्टी तभी तक है जब तक कि घट का आकार विद्यमान है। ऐसी परिस्थिति में हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े में है, यही दूसरा सम्बन्ध है। घट एक स्वतन्त्र पदार्थ है, मिट्टी एक स्वतन्त्र पदार्थ है। यदि घट और मिट्टी एक ही वस्तु होते तो—'घटमानय' (घड़ा लाओ) इस आज्ञा से मिट्टी भी लाई जासकती थी, एवं 'मिट्टी लाओ' इस वाक्य से मृत्तिका का भी आनयन होसकता था, परन्तु ऐसा होता नहीं। घटशब्द से घड़ा ही लाया जाता है, मृत्तिका शब्द से मिट्टी ही लाई जाती है। अतः हम कह सकते हैं कि मिट्टी घड़े से भिन्न है, यही तीसरा सम्बन्ध है। घट के परमाणु टूट जाएं, मृत्तिका

के अतिरिक्त उसमें आपको दूसरी वस्तु न मिलेगी। मिट्टी ही तो घटरूप में परिणत होती है। घट मिट्टी से भिन्न पदार्थ नहीं है। 'वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार घट सत्ता वस्तुतः मिट्टी की ही सत्ता है। ऐसी परिस्थिति में घटमृत्तिका से कैसे पृथक् होसकता है। घट मिट्टी है यही निष्कर्ष है। यही चौथा सम्बन्ध है। मिट्टी घट के बिना भी रह सकती है, परन्तु घट बिना मिट्टी के एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता। यही पाँचवां सम्बन्ध है। घट कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। मिट्टी ही घटरूप से दिखलाई देरही है। जिस प्रकार स्थाणु में पुरुष की, मृगमरीचिका में जल की, शुक्ति में रजत की, रज्जु में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है एवमेव मिट्टी में घड़े की भ्रान्ति हो रही है। इसी को दार्शनिक अध्यास कहा करते हैं। मिट्टी घड़ा नहीं है, केवल प्रतीति होरही है। जिस सम्बन्ध से सर्वथा असत् घट मिट्टी में सत्रूप से प्रतीति होरहा है, उसी को 'अध्यास सम्बन्ध' कहा जाता है। यही ६ ठा सम्बन्ध है। इसप्रकार मृद्घट का कार्यकारणसम्बन्ध निम्नलिखित ६ भागों में विभक्त देखा जाता है।

१—घटो मृदि .... (घड़ा मिट्टी में है) ———→ कार्यं कारणे

२—मृद् घटे .... (मिट्टी घड़े में है) ———→ कारणं कार्ये

३—मृद्घटौ भिन्नौ .... (घड़ा भिन्न है, मिट्टी भिन्न है) → कार्यकारणभिन्ने

४—मृत्तिकेव घटः .... (मिट्टी ही घड़ा है) ———→ कारणमेव कार्यम्

५—घटो मृत्तिकातोऽभिन्नः, मृत्तिका तु घटाद्भिन्ना — { घड़ा मिट्टी से अभिन्न है / मिट्टी घट से भिन्न है } —→ कार्यं कारणादभिन्नम् / —→ कारणं तु कार्याद् भिन्नम्

६—मृदध्यस्तो घट .... (मिट्टी में घड़ा अध्यस्त है) → कारणे कार्यमध्यस्तम्

उपर्युक्त यही ६ सम्बन्ध ब्रह्मकर्म में समझिए। "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" के अनुसार वह ब्रह्म तत्व कर्ममय विश्व में व्याप्त है। उधर वह कर्म (विश्व) उस ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। ब्रह्म भिन्न है, विश्व भिन्न है। ज्ञानकर्ममय ब्रह्म का कर्मभाग ही विश्व बन रहा है। ब्रह्म कर्म से भिन्न है, क्यों

कि कर्ममय विश्व के न रहने पर भी ब्रह्म स्वस्वरूप से बिना विश्व की अपेक्षा के प्रतिष्ठित रहता है, परन्तु कर्म (विश्व) ब्रह्म से अभिन्न है। कारण कर्म (विश्व) ब्रह्म कारण के बिना सर्वथा अनुपपन्न है। ब्रह्म में कर्म अभ्यस्त है। यही ब्रह्मकर्म का षड्विकल्प सम्बन्ध है। यह इसमें है। यह उसमें है। दोनों अभिन्न हैं। वही यह है। यह इससे भिन्न है, यह उससे अभिन्न है उस में यह भास रहा है।

१–ब्रह्म कर्मस्थम् ++——→कारणं कार्यस्थम्
२–कर्म ब्रह्मस्थम् ++——→कार्यं कारणस्थम्
३–ब्रह्मकर्मणी भिन्ने ++——→कार्यकारणे भिन्ने
४–ब्रह्मैव कर्म ++——→कारणमेव कार्यम्
५–ब्रह्म कर्मतः पृथक् } ++——→ कारणं कार्यात्पृथक्
कर्म तु अपृथक् } कार्यं तु कारणादपृथक्
६–ब्रह्मणि कर्माभ्यस्तम् ++——→कारणे कार्यमभ्यस्तम्

"कर्मस्थकर्मस्थ, मकर्म कर्मस्थ,
भिन्नद्वयं तत, तद्भिन्नमद्वयम्
मकर्म भिधेत न कर्म भिधेत,
ऽभ्यासोऽपि वे स्यादिति षड्-
विकल्पनाः।"
(श्रीगुरुप्रणीत सत्यप्रसादुष्केदवाद)

इन ६ओं सम्बन्धों में प्रकृत में तीनों मन्त्रों द्वारा प्रथम–द्वितीय–चतुर्थ इन तीन सम्बन्धों का निरूपण हुआ है। 'तदेजति॰' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम् सम्बन्ध का निरूपण करता है। 'यस्तु सर्वाणि॰' इत्यादि मन्त्र 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है। एवं 'यस्मिन्सर्वाणि' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है। ६ ओं सम्बन्धों में से उक्त तीन सम्बन्ध ही प्रधान हैं। अतः श्रुतिने इन्हीं को विशेष माना है। तीनोंमें से प्रथमसम्बन्ध का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः ॥५॥ (ई॰ ५ म॰)।

"वह चलता है, वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह फिर समीप है। वह सबके भीतर है वह फिर सबके बाहर है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। इस मन्त्र के प्राकृतात्मा, विधेयात्मा, कृतात्मा भेद से दो अर्थ, एवं सृष्टिविज्ञान सम्बन्धी एक अर्थ, इस प्रकार तीन अर्थ होजाते हैं।

विद्वान्–अविद्वान् भेद से मनुष्य वर्ग दो भागों में विभक्त है। शास्त्राध्ययन से अपनी बुद्धि को विद्यासंस्कार से युक्त रखने वाले सदसद्विवेकी विचारशील मनुष्य विद्वान् कहलाते हैं। 'खाना पीना मौज उड़ाना' इस सिद्धान्त को परमपुरुषार्थ समझने वाले शास्त्रज्ञान से शून्य लौकिक विषयों में रत यथाजात मनुष्य अविद्वान् माने जाते हैं। विद्वान् मनुष्य का आत्मा कृतकृत्य रहता है, अतएव इसे 'कृतात्मा' कहा जाता है। अविद्वान् मनुष्य का आत्मा वासनामय भौतिक संस्कारों से आवृत होता हुआ आत्मज्ञान से वञ्चित रहता है, अतएव इसे 'प्राकृतात्मा' कहा जाता है। इन्द्रियों के द्वारा रूपरसादि भौतिक विषयों का आगमन होता है। आगत विषयों का संस्कार ज्ञानमय मन पर होता है। विषय भौतिक होते हुए तमोमय हैं, अतएव ज्ञान ज्योति के आवरक हैं। इनके सम्बन्ध से ज्ञानमय मन अपनी विभूति (ज्ञानप्रकाश) से आवृत होता हुआ जडवत् बन जाता है। मन के साथ बुद्धि का सम्बन्ध रहता है। फलत मनके भौतिक आवरण से बुद्धि भी मलिन होजाती है। मलिन बुद्धिसे बुद्धियुक्त महानात्मा का सत्वभाग मलिन होजाता है। महान् पर षोडशीपुरुषरूप आत्मा प्रतिष्ठित है। मलिनसत्व की कृपा से आत्मा का विद्याभाग मलिन होजाता है, यही दुःख का मूल है। इसका प्रधान कारण मलिनबुद्धि है। बुद्धि के आभ्यन्तर भाग में (इस ओर) आत्मा है, बाह्य भाग में (उस ओर) विषय हैं। विषयानुगता बुद्धि मलिन होती होती हुई आभ्यन्तर आत्मा से असुक्त रहती है। कार्याकार्य

*—बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ गी० १३। १५)
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ (उपनि० द०।

संसारी एजत् को प्रधान मान रहे हैं। सांसारिक के लिए यह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप से समीप है। सांसारिक की दृष्टि में यह आत्मतत्त्व भीतर छुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए यह प्रकट है। योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है। सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं। एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय श्रमरूप विश्व के अनुयायी श्रमणक हैं। एक आस्तिकवर्ग है, दूसरा नास्तिकवर्ग है। एक विशुद्धकर्म के अनुयायी कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं। एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं। इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं।

१–तदेजति ↔ ————→अज्ञात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि (विश्वानुयायी)—कर्म }
२–तन्नैजति ↔ ————→ज्ञात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } १

——•——

१–तद्दूरे ↔ ———— अज्ञात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि (विश्वानुयायी)—कर्म }
२–तद्वन्तिके ↔ ————→ज्ञात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टि (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } २

——•——

१–तदन्तरस्य सर्वस्य ↔→अज्ञात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि (विश्वानुयायी)—कर्म }
२–तदु सर्वस्य बाह्यतः ↔→ज्ञात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } ३

——•——

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि दोनों को पृथक् समझना अज्ञान है। वही विश्व है, वही विश्वात्मा है। वही एजत् है, वही अनेजत् है। वही दूर है, वही समीप है। वही सबके भीतर है, वही सब के बाहर है। अर्थात् ब्रह्मगर्भित कर्मभाग से वह चल है, कर्मगर्भित ब्रह्मभाग से वह अचल है। ब्र० ग० कर्मरूपा वह दूर है, क० ग० ब्रह्मरूपा वह समीप है। ब्र० ग० कर्मरूपा वह भीतर प्रविष्ट

निवेदरूपा भावना नष्ट होजाती है। ऐसी अयुक्त बुद्धि बुद्धि ही नहीं है अविद्यामात्र है। बुद्धि ज्ञानसापेक्ष है, ज्ञानप्रकाशकत्व बुद्धि का स्वरूपधर्म है। जब स्वस्वरूप रक्षक ज्ञानयोग रूपस्वरूपधर्म ही नहीं रहा तो बुद्धि का रहना न रहने के सदृश है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य नचायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥ (गीता २।६६)।

विषयानुगता बुद्धि अविद्यामयी बनकर आत्मस्वरूप को आवृत कर देती है। ऐसा ही आत्मा (मनुष्य) प्राकृतात्मा कहलाता है। ऐसा मनुष्य कभी सत्कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। इसे कभी आत्मविषयिणी जिज्ञासा ही नहीं होती। "आत्मा-परमात्म-परलोक-देवता सब ढोंग है" ऐसे कुतर्कों की यह आधारभूमि बना रहता है। रहते हुए चित् (आत्मज्ञान) के आवरण से यह अचित् बन रहा है। सांसारिक विषयों को ही यह प्राकृतात्मा सुखसाधन समझता है। इसी प्राकृतात्मगण के लिए 'सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः॰' यह कहा गया है। ऐसे प्राकृतात्मा का कर्मरूप, अतएव सर्वथा एजद्रूप (परिवर्त्तनशील क्षणिक) विश्व ही प्रधान आराध्य है।

ठीक इसके विपरीत जिन्होंने विद्यासमुचित निष्काम कर्म द्वारा आवरणों का ह्रास आरम्भ करते हुए प्रबुद्ध ज्ञानाग्नि से संचित आवरणों को नष्ट करते हुए विशुद्ध बुद्धियोग प्राप्त कर लिया है ऐसे सिद्धावस्थापन्न योगी कृतात्मा हैं, यही मुक्तयोगी हैं। इनकी दृष्टि उस अनेजत् रूप ब्रह्मभाग पर ही रहती है। एक ओर में मुक्त योगी हैं कृतात्मा हैं। दूसरे ओर में प्राकृतात्मा हैं। एक ज्ञानमय ब्रह्म के उपासक हैं शान्ततत्त्व के अनुयायी हैं। दूसरे कर्म्ममय विश्व के उपासक हैं, गतिशील क्षणिक सांसारिक विषयों में रत हैं। प्रकृत मन्त्र इन्हीं दोनों को लक्ष्य बना कर कहता है कि "जो संसारी हैं उन की दृष्टि में यह तत्त्व चलता है। जो मुक्तात्मा हैं, उनकी दृष्टि में यह तत्त्व सर्वथा अविचाली है। अर्थात् मुक्तात्मा अनेजत् को मुख्य समझते हैं

संसारी एजद् को प्रधान मान रहे हैं। सांसारिक के लिए यह आत्मतत्त्व दूर से दूर है, मुक्तात्मा के लिए वही समीप से समीप है। सांसारिक की दृष्टि में वह आत्मतत्त्व भीतर छुपा हुआ है, मुक्तात्मा के लिए वह प्रकट है। योगियों की दृष्टि में जो सत्य है, सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में वह असत्य है। सामान्य मनुष्यों की दृष्टि में जो सत्य है योगी उसे मिथ्या समझ रहे हैं। एक ज्ञानमय ब्रह्म के अनुयायी ब्राह्मण हैं, एक कर्ममय श्रमरूप विश्व के अनुयायी श्रमणक हैं। एक आस्तिकवर्ग है, दूसरा नास्तिकवर्ग है। एक विशुद्धकर्म के अनुयायी कर्मठ हैं, दूसरे विशुद्ध ज्ञान के अनुयायी ज्ञानी हैं। एक सांख्यमतानुयायी हैं दूसरे योगमतानुयायी हैं। इस प्रकार 'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ' के अनुसार लोक में दो विभिन्न निष्ठाएं प्रचलित हैं।

१—तदेजति ——————→प्राकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि (विश्वानुयायी)—कर्म }
२—तन्नैजति——————कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टि (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } १

—•—

१—तद्दूरे ——————प्राकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टिः (विश्वानुयायी)—कर्म }
२—तद्वन्तिके——————→कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टिः (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } २

—•—

१—तदन्तरस्य सर्वस्य→प्राकृतात्मनेऽविदुषे कर्मणि दृष्टि (विश्वानुयायी)—कर्म }
२—तदु सर्वस्य बाह्यत→कृतात्मने विदुषे ब्रह्मणि दृष्टि (आत्मानुयायी)—ब्रह्म } ३

—•—

सर्व विदित इन दोनों निष्ठाओं के भेदवाद का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि दोनों को पृथक् समझना अज्ञान है। वही विश्व है, वही विश्वात्मा है। वही एजत् है वही अनेजत् है। वही दूर है, वही समीप है। वही सबके भीतर है, वही सब के बाहर है। अपाद् ब्रह्मगर्भित कर्मभाग से वह चल है, कर्मगर्भित ब्रह्मभाग से वह अचल है। ब्र० ग० कर्मदृष्टया वह दूर है, क० ग० ब्रह्मदृष्टया वह समीप है। ब्र० ग० कर्मदृष्टया वह भीतर प्रविष्ट

होता है, क० ग० भाष्य यही सबका प्रसङ्ग है। ज्ञान भी यही है कर्म भी यही है। यही ज्ञान है, यही योग है। जो ज्ञानयोग है, वही कर्मयोग है– "एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स (एव तात्त्विकभावं) पश्यति–(नान्यो भेदवादी)"। द्वितीय मन्त्र में इसी भाव का स्पष्टीकरण है।

१



तीसरे हैं विधेयात्मा। जिस प्रकार कर्मठ प्रकृतात्मा, एवं ज्ञानी कृतात्मा कहलाते हैं एवमेव उपासक को विधेयात्मा कहा जाता है। सिद्ध–साध्य दोनों अवस्थाओं से पृथक् लौकिक कर्मों में रत प्रकृतात्मा है, साध्यदशा से युक्त मनुष्य विधेयात्मा है, इसी को 'युञ्जानयोगी' 'आरुरुक्षु' 'जिज्ञासु' इत्यादि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। सिद्धदशा में वही विधेयात्मा कृतात्मा कहलाने लगता है। इसी को–'युक्तयोगी' 'कृतकृत्य' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। परम वैदिक शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक आचार्यश्री ने इन्हीं उक्त तीन विभागों को मार्यादिक-जीव, प्रावाहिकजीव, पुष्टिजीव भेद से इन नामों से व्यवहृत किया है। कृतात्मा युक्तयोगी (जिनपर भगवान् का अनुग्रह हो चुका है) पुष्टिजीव कहलाते हैं–"भगवदनुग्रहः पोषः"। जन्ममरणप्रवाह में इतस्ततः भटकने वाले शास्त्रविमुख यथाजात जीव–'प्रावाहिक' कहलाते हैं। यही प्रकृत प्रकृतात्मा हैं। एवं भगवदनुग्रहरूप पुष्टिभाव की प्राप्ति के लिए जो शास्त्र-मर्यादा का अनुगमन करते हुए सिद्धावस्था को प्राप्त करने में यत्नशील बने रहते हैं, वे ही 'मार्यादिकजीव' हैं। भगवदनुग्रहलक्षणपोष के सम्बन्ध से ही उक्त सम्प्रदाय 'पुष्टिमार्ग' नाम से प्रसिद्ध है।

१–कृतात्मा—(युक्तयोगी) — सिद्धावस्थापन्न——युध — (मनोमयमार्ग)–ज्ञानी

२–विवेकात्मा (युञ्जानयोगी) — साध्यावस्थापन्न ——मार्यादिक (प्राणमयमार्ग)–उपासक

३–प्रज्ञात्मा (यथाजात मनुष्य) अत्ययच्युतावस्थापन्न–प्राथमिक (वाङ्मयमार्ग)–कर्मठ



उपासना मध्य की वस्तु है। इस में ज्ञानकर्म दोनों का समन्वय है। इसी को बुद्धियोग कहा जाता है, जिस का कि दिग्दर्शन प्रथमार्योपसंहार में कराया जाचुका है। ब्रह्म पर दृष्टि रखते हुए कर्म करना ही बुद्धियोग है। ब्रह्म अकर्म है, कर्म कर्म है। अकर्म में कर्म समझिए, कर्म में अकर्म समझिए। कर्म को अकर्म में प्रतिष्ठित समझते हुए कर्म करने से कर्मजनित बन्धनमूला आसक्ति नहीं होती। ऐसा कर्म अबन्धन होता है। इसी अभिप्राय से भगवान् कहते हैं–

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ (गी० ५।१०)।

उक्त दृष्टि से कर्ममार्ग में प्रवृत्त होनेवाला पुरुषश्रेष्ठ ही 'विवेकात्मा' कहलाता है। इस की दृष्टि दोनों पर है। कर्मदृष्टि से वह उसे एजत्, चर, अन्तःप्रविष्ट समझता है, ब्रह्मदृष्टि से वह उसी को अनेजत्–समीर–सर्वत्र व्याप्त समझ रहा है। इस अभिमभावना से आगे जाकर विवेकात्मा–'यस्त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्' इस श्रुति का अधिकारी बनता हुआ सिद्धावस्था पर पहुंच जाता है। रागद्वेष नष्ट हो जाता है, अद्वैतमूलक ब्रह्मानन्द प्राप्त हो जाता है। प्रकृत मन्त्र इसी भाव का निरूपण करता है।

षोडशी पुरुष का अमृतप्रधान विद्याभाग संसार में स्थितिरूप से, एवं कर्मभाग गति रूप से प्रत्यक्ष दृष्ट है। विश्वदृष्टया वह स्थितिरूप है, आत्मदृष्टया वह विद्या–कर्ममय है। स्थिति गतिसमष्टि 'धुर्युर्द' है। तत्त्वविद्म, अतएव मेदमूर्ति नाम से प्रसिद्ध षोडशीब्रह्म स्थितिगतिरूप से ही विश्व में व्याप्त होरहा है, जैसा कि 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से

बतलाया जा चुका है। यद्यपि स्थितिगतिभाव तमःप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं, फिर भी दोनों का एक ही बिन्दु पर समन्वय होता है। कैसे? इसके लिए उसी पूर्व परिचित भ्रामाश्मचक्र (कुम्हार के चाक) पर दृष्टि डालिए। कुम्भकार के हस्तस्वरूप इन्द्र के बिचे हुए द्वारा दण्ड के आघात से स्थिर कीलक पर प्रतिष्ठित रहता हुआ चक्र प्रबल वेग से घूमने लगता है। परमाणु परमाणु गतिशील हैं। इस प्रकार यह चक्र घण्टों चलता रहता है। परन्तु आश्चर्य है कि घण्टों चलते रहने पर भी वह अपने नियत स्थान से बिन्दुमात्र भी आगे नहीं बढ़ता। हम जब भी चक्र को देखते हैं, उसी नियत स्थान पर पाते हैं। चल रहा है, इस लिए तो चक्र 'एजति' है। साथ ही में स्थानत्यागलक्षण स्थितिबिन्दुविरूप गतिक्रिया के अभाव से—'नैजति' यह भी मानना पड़ता है। इस प्रकार दोनों विरुद्ध धर्म एक ही चक्र में रम रहे हैं। एक मनुष्य अपने घर से दस मिनिट में विक्टोरिया गार्डन पहुंचता है। यदि वह स्थान पर ही खड़ा रहता तो उसे गतिशील नहीं कहा जासकता था। अपने स्थान से हटने पर ही उसके लिए—'गच्छति' (जाता है) का प्रयोग होता है। एक मनुष्य अपने स्थान पर ही खड़ा हुआ हाथ हिला रहा है। इसके लिए लोक में—"अमुक मनुष्य अपने स्थान पर खड़ा हुआ निरन्तर हाथ हिला रहा है" यही तो कहा जाता है। यहीं आप स्थिति—गति दोनों भावों का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। मनुष्य बिलकुल नहीं चल रहा है, इसलिए 'नैजति' का समन्वय है। अवयवरूप हाथ चल रहा है, इसलिए 'एजति' का समन्वय है। समुदाय स्थिर है, अवयव चल हैं। दोनों विरुद्ध धर्मों का आश्रय एक ही मनुष्य है। यही परिस्थिति यहां पर समझिए। अव्ययात्मक ज्ञानमूर्त्या सर्वथा 'नैजति', अक्षर से सर्वथा अचल। कर्म्ममूर्त्या सर्वथा 'एजति'—क्षररूप से सर्वथा चल। चलाचल की समष्टि ही ईश्वर है—'तदेजति तन्नैजति'।

कुम्भकार का चक्र घूम रहा है उसे आप देख रहे हैं। घूमते हुए चक्र की जो बिन्दु अभी अभी आपके सामने थी, पलक मारते ही वह दूर से दूर उस ओर में चली गई एवं जिस चक्रबिन्दु को आप अपने से दूर समझते थे, वह अभी अभी इसी क्षण में आपके समीप आगई। सचमुच प्रतिबिन्दु दूर से दूर है, समीप से समीप है—'तद्दूरे तद्वन्तिके'।

घूमता हुआ चक्र गतिशील अपने परमाणुओं के भीतर से भीतर है, बाहर से बाहर है। बाहर भीतर जिधर देखो उधर चक्र ही चक्र है। पूर्वोक्त शुक्रब्रह्म भी ऐसा ही है—'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यत'। वस्तुतस्तु कुम्भकार के साधिक चक्र के साथ अलौकिक ब्रह्मचक्र की तुलना करना सर्वथा असंगत है। वह गतिस्थिति तो—'रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव' के अनुसार अनुपमेय (अद्वितीय) है। जितनी शीघ्रता आप समझ सकते हैं, वह उससे भी शीघ्रतम है। आपके लिए वह अचिन्त्य है, अप्रमेय है, अनिर्वचनीय है। एकमात्र तटस्थ लक्षण से आप उसे जान सकते हैं। "उस की गति यदि ऐसी होगी, अमुक के सदृश होगी" इस प्रकार उसका स्वरूप लक्षण करलेना आपके लिए सर्वथा असंभव है।

विशुद्ध आत्मापेक्षया ब्रह्म स्थिर है, विशुद्ध कर्मापेक्षया चर है। भेदरक्षया जु अवच्छिन्न ब्रह्म स्थिर है, यदवच्छेदेन चर है। वह स्थितितत्त्व उस गतितत्त्व के बाहर भीतर सब ओर व्याप्त है। यद्यपि स्थितिवत् गति भी स्थिति के बाहर भीतर सब ओर विद्यमान है, परन्तु दोनों में स्थितिरूप रसतत्त्व ही प्रधान है। अतएव 'तत्—तत्' इस रूप से उसी को बाहर—भीतर—दूर—समीप बतलाया गया है। स्थिति आधार है, गति आधेय है। आधार की प्रधानता से भी उसी का अन्तरान्तरीभाव मानना उचित होता है। अपि च ब्रह्मरूप स्थितितत्त्व कारण है, विश्व रूप गतितत्त्व कार्य है। कारण प्रथमज्ञापक है, इसलिए भी अन्तरान्तरीभाव में श्रुति ने तत् शब्दवाच्य ब्रह्म को ही प्रधानता दी है। स्थिति आधार है, गति आधेय है, इसका यह अर्थ नहीं है कि पुस्तक मेजपर रक्खी है। टेबिल पुस्तक का आधार अवश्य है, परन्तु टेबिल पुस्तक के नीचे के भागमात्र से सम्बद्ध है। पुस्तक के बाहर भीतर टेबिल नहीं है। परन्तु यहां का आधाराधेयभाव ऐसा नहीं है। यहां यदवच्छेदेन स्थिति है, तदवच्छेदेन गति है। पानी में मिश्रित शर्कराखण्ड जैसा आधाराधेयभाव है। पानी आधार है, शर्करा आधेय है। परन्तु दोनों मिलकर एकरूप बन रहे हैं। पानी के परमाणु परमाणु में शर्करा व्याप्त है, शर्करा के अंश प्रत्यंश में पानी व्याप्त है। यदवच्छेदेन पानी व्याप्त है, तदवच्छेदेन शर्करा व्याप्त है। ऐसा ओतप्रोतभावात्मक आधाराधेयभाव ही प्रकृत में अभिप्रेत है।

सिंहावलोकनन्यायेन एक बार पुनः षड्विकल्प सम्बन्ध पर दृष्टि डालिए । इन ६ ओं सम्बन्धों में पहिले दो सम्बन्ध एक श्रेणि के हैं । इन्हें हम 'ओतप्रोतभावसम्बन्ध' कह सकते हैं । तीसरा भेद सम्बन्ध है, चौथा अभेद सम्बन्ध है, पांचवा भेदाभेद सम्बन्ध है । भेद-अभेद भेदाभेद इत्यादि पांचों सम्बन्ध परस्पर में सर्वथा विरुद्ध हैं । एक ही तत्त्व में अनेक (विरुद्ध) सम्बन्ध हो नहीं सकते परन्तु होरहे हैं । यही इस ब्रह्म-कर्म सम्बन्ध की अनिर्वचनीयता है । यही 'न सदासीन्नो असदासीत्' नाम का छठा अनिर्वचनीय सम्बन्ध है ।

१-ब्रह्म कर्म में अनुस्यूत है । (ब्रह्म कर्मस्थम्) २-कर्म ब्रह्म में प्रतिष्ठित है । (कर्म ब्रह्मस्थम्)	↔——→ओतप्रोतभावसम्बन्ध
३-ब्रह्म कर्म दोनों परस्पर भिन्न हैं (ब्रह्मकर्मणी भिन्ने)	↔——→भेदसम्बन्ध
४-ब्रह्म ही कर्मरूप में परिणत हो रहा है (ब्रह्म कर्म)	↔——→अभेदसम्बन्ध
५-ब्रह्म कर्म से भिन्न है, कर्म ब्रह्म ही है । (ब्रह्म कर्मात पृथक्, कर्माऽपृथक्)	↔——→भेदाभेदसम्बन्ध
६-दोनों का सम्बन्ध अनिर्वचनीय है । (ब्रह्मापि कर्मापि अव्यक्तम्)	↔——→अनिर्वचनीयसम्बन्ध

'तदेजति' इत्यादि मन्त्र उक्त ६ ओं सम्बन्धों में से 'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध पर प्रधान दृष्टि रखता हुआ 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का निरूपण करता है । ब्रह्म-प्रधानापेक्षया प्रकृत मन्त्र को प्रथम सम्बन्ध का निरूपक माना जासकता है-(देखिए ई० वि० भा० पृ० सं० द्वि० ख० १२६), एवं गौणदृष्ट्या इसे द्वितीय सम्बन्ध का प्रतिपादक मानते हुए उभयात्मकीरूप ओतप्रोतभाव का निरूपक माना जासकता है । मन्त्र में सर्वत्र "तद्—तद्" का उल्लेख है । "वह चलता है वह नहीं चलता है, वह दूर है, वह समीप है, वह भीतर है, वह बाहर है" इस प्रकार प्रतिवाक्य के साथ तद् शब्दवाच्य ब्रह्म की ही प्रधानता है । ब्रह्म कर्म में

'ओत' हो रहा है साथ ही में एजति, दूरे, सर्वस्य बाह्यत, इत्यादि वाक्य 'कर्म ब्रह्म में ओत है' इस द्वितीय सम्बन्ध की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। मन्त्र का 'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' यह उत्तर भाग ही सम्बन्ध का निरूपण करता है। वस्तुत इस मन्त्र का प्रधान लक्ष्य पूर्व के 'अनेजदेकम्' मन्त्र में बतलाए गए ब्रह्मकर्मात्मक शुक्रस्वरूप का ही 'तदेजति तन्नैजति' इत्यादि रूप से स्पष्टीकरण है। मन्त्रों में आम्रेडित (पुनरुक्ति) दोष नहीं माना जाता। ऐसी अवस्था में निष्कर्ष यह निकला कि 'तदेजति०' इत्यादि मन्त्र तो पूर्व मन्त्रप्रतिपादित अर्थ का स्पष्टीकरण करता है, एवं 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि०' इत्यादि दो मन्त्र ब्रह्मकर्म के सम्बन्ध का प्रतिपादन करते हैं। इन दोनों उत्तर मन्त्रों में यस्तु सर्वाणि० यह ६ ठा मन्त्र तो आरम्भ के-'ब्रह्म कर्मस्थम्-कर्म ब्रह्मस्थम्' इन दो सम्बन्धों का निरूपण करता है, एवं 'यस्मिन्सर्वाणि०' इत्यादि मन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चौथे अभेद सम्बन्ध का प्रतिपादन करता है।

५



आत्मा ब्रह्म है, इस का यह अर्थ नहीं है कि उसमें कर्म नहीं है। विश्व कर्म है, इस का यह तात्पर्य नहीं है कि इस में ब्रह्म नहीं है। दोनों में दोनों हैं, दोनों दोनों हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता में तारतम्य है। आत्मा में ब्रह्म (ज्ञान) भाग प्रधान है, इसलिए उसे ब्रह्म कहा है। विश्व में कर्म प्रधान है, इसलिए इसे कर्म कहा है। आत्मा ज्ञानप्रधान होता हुआ सुसूक्ष्म है। इस का चर्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष नहीं होता। भौतिक विश्व ही दृष्टि का विषय बनता है। पहिले हमारी दृष्टि स्थूल विश्व पर, दूसरे शब्दों में कर्मभाग पर जाती है, अनन्तर (विज्ञानद्वारा) तदन्तर्गत आत्मतत्त्व पर दृष्टि जाती है। इसी स्थूल-सूक्ष्मभाव के क्रम को प्रधान मानकर स्थूलारु

व्यतिन्याय से प्रकृत मन्त्र पहिले कर्म को ब्रह्म में अनुस्यूत बतलाता है, अनन्तर ब्रह्म को कर्मस्थ बतलाता है। इन्हीं दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ निम्नलिखित मंत्र हमारे सामने आता है—

यस्तु सर्वाणि भूतानि-आत्मन्येवानुपश्यति (कर्म ब्रह्मस्थम्)
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते। (ब्रह्म कर्मस्थम्)

(ईशोपनिषत् ६ मन्त्र)

मन्त्र का पूर्वार्द्ध 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस द्वितीय सम्बन्ध का एवं उत्तरार्द्ध—'ब्रह्म कर्मस्थम्' इस प्रथम सम्बन्ध का निरूपण करता है। 'सर्वाणि भूतानि' कर्म है 'सर्वभूतेषु चात्मानं' ब्रह्म है। जो (आत्मतत्त्ववेत्ता) सम्पूर्ण भूतों (विश्व) को आत्मा (ब्रह्म) में ही अनुगत देखता है एवं सारे भूतों में आत्मा को प्रतिष्ठित समझता है, वह कभी किसी से घृणा नहीं करता" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में बतलाया गया है, उक्त मन्त्र दोनों सम्बन्धों का निरूपण करता हुआ प्रधानरूप से 'कर्म ब्रह्मस्थम्' इस दूसरे सम्बन्ध का ही निरूपण करता है। 'यस्तु सर्वाणि भूतानि' 'सर्वभूतेषु' इत्यादि रूप से भूत भाग को ही प्रधानता दी गई है। 'तदेजति' इत्यादि मन्त्र 'तत्' रूप से जहां ब्रह्म को प्रधान मान रहा है, वहां यह मन्त्र भूतभाग को प्रधान लक्ष्य बना रहा है। प्रत्यक्-पराक् भेद से ब्रह्म के दो विवर्त हैं। प्रत्यग्ब्रह्म 'अहम्' है, पराग्ब्रह्म 'त्वम्' है। एक अस्मत्प्रत्ययवाच्य विषयी ब्रह्म है, दूसरा युष्मत्प्रत्ययवाच्य विषय ब्रह्म है। विषयी प्रत्यक् है, विषय पराक् है, बाहर है। युष्मदस्मत्प्रत्ययगोचर विषय विषयी तमप्रकाशवत् परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। प्रत्यग्ब्रह्म ज्ञानप्रधान है, पराग्ब्रह्म कर्मप्रधान है। हम और विषय यही दोनों क्रमशः प्रत्यग् पराग् ब्रह्म हैं। हम (आत्मा) भीतर हैं, विषय बाहर हैं। हम ज्ञानप्रधान हैं, विषय कर्मप्रधान हैं। ज्ञान प्रकाश है, ज्योति है।

कम अप्रकाश है, आवरण है। इस प्रकार लौकिक मनुष्यों की दृष्टि में दोनों ब्रह्म परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध हैं। यह विरुद्ध दृष्टि ही निन्दास्तुतिभाव की जननी है। स्तुतिभाव का आत्मीयता से सम्बन्ध है। निन्दाभाव का परभाव (अनात्मीयता) से सबध है। ससार (ससारी मनुष्य) अपने की ओर अनुगत रहता है, पराए की ओर विमुख रहता है। अनात्मीय वस्तु से घृणा करता है आत्मीय से प्रेम करता है। विष्टा से मनुष्य घृणा करता है, क्योंकि इस की दृष्टि में यह अनात्मीय है। इस प्रकार कर्मरूप विश्व, एवं ब्रह्मरूप आत्मा को भिन्न भिन्न समझने वाला मनुष्य ससार में किन्हीं ही से राग करता है, किन्हीं ही से द्वेष करता है। अनुकूल वेदनीयता में रागका, प्रतिकूल वेदनीयता में द्वेषका उदय है। दोनों में बधनमूला आसक्ति है। आसक्ति दुःख का कारण है। स्तुति भी शोक का कारण है, निन्दा भी शोक का कारण है। यह निन्दा-स्तुतिभाव तभी तक रहता है, जब तक कि आत्मा और विषयों में भेदबुद्धि रहती है। द्वेष तभी तक है, जब तक कि वह उसे अनात्मा (अपने से भिन्न) समझता है। एवमेव स्तुति भी परभाव से ही सम्बन्ध रखती है। यदि उसे यह विदित होजाय कि मैं उसमें हू, वह मुझमें है, हम दोनों एक ही व्याणक के त्रिदल हैं मेरा स्वरूप उस पर प्रतिष्ठित है, वह मुझ में प्रतिष्ठित है तो ऐसी परिस्थिति में रागद्वेषमूलक स्तुतिनिन्दाभाव का अवसर ही नहीं आता। जब दोनों एक दूसरे की प्रतिष्ठा हैं तो कौन बड़ा, कौन छोटा, कौन निन्द्य, कौन स्तुत्य, कौन निंदक, कौन स्तोता। इसी निन्दामूलक कुत्सितभाव का निराकरण करती हुई, ब्रह्मकर्म दोनों में परस्पर अनुग्राह्य अनुग्राहकता का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है कि-"तुम सम्पूर्ण भूतों को आत्मा में समझो, एवं सम्पूर्ण भूतों में आत्मा को समझो। कर्मरूप विश्व के जर्रे जर्रे में अकर्मरूप ब्रह्म को व्याप्त समझो, एवं ब्रह्म में सर्वत्र कर्म को अनुस्यूत समझो। यदि तुम आत्मा और विश्व के इस ओतप्रोतसम्बन्ध को व्यवसायात्मबुद्धि से समझ गए तो तुम्हारा शोकमूलक निन्दास्तुतिभाव से सदा के लिए छुटकारा होगया-'ततो न विजुगुप्सते'। स्तुतिभाव से आत्मा में क्षोभ का उदय होता है। यह क्षोभ ही अशान्ति का कारण बनता हुआ आत्मपतन का प्रवर्तक बनता है। निन्दा द्वेषमूला है, स्तुति रागमूला है। एवं पूर्व कथनानुसार रागद्वेष का अपने पराए से

स्वरूप है। जहाँ—'यह अपना है यह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निरङ्कुश बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गलेशरूप आसक्तिभाव का प्रवर्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वस्थता। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसम्पथा है। इसी श्रौतार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

> कर्मण्यकर्म य पश्येत्, अकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४।१८)

६



पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह कहकर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है— 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है– 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥
(ईशोपनिषद् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्मसाक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्याकार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

उत्पादक है। अहां—'यह अपना है यह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निवृत्त करती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्कल्परूप आसक्तिभाव का प्रवर्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही नि श्रेयसपन्था है। इसी श्रौतार्थ का स्पष्टी करण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येत्, अकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥ (गी० ४। १८)

६



पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह कहकर ब्रह्म कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है— 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है– 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भय भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्याकार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है–अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

सम्बन्ध है। जहाँ—'यह अपना है यह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निर्बल बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गदोषरूप आसक्तिभाव का प्रवर्त्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की समरूपता। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ज्ञान-कर्म की विभक्तीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी औत्पर्य का स्पष्टी करण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४।१८)

६

——०——

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह कहकर ब्रह्म कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है—'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है– अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यत ॥
(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तर कुरुते, अथ भय भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इदं वा इदं वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्याकार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

सम्बन्ध है। जहाँ—'यह अपना है' 'यह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निर्बल बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गरूप आसक्तिभाव का प्रवर्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माभिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विभक्तीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमार्ग है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी भावार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येत्, अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४।१८)

६



पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह कहकर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है— 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है— अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणार्थंकी से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥
(ईशोपनिषद् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस युक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहां शोक है, कहां मोह है। 'यदुदरमन्तर कुरुते, अथ भय भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्वात्मच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इद वा इद वा' इस भानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्र्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति मन्द हो जाती है। कार्या कार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥ (गी० २।५२)

सम्बन्ध है। अहो—'यह अपना है, यह पराया है' यह भाव है, यही रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहमिश्रित बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्य है। ध्यानशून्य बुद्धि निर्बल बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्कल्पस्वरूप आसक्तिभाव का प्रवर्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषात्माधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थं रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थं रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी औत्सर्ग का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्ती उपनिषत् कहती है—

> कर्मण्यकर्म यः पश्येत्, अकर्मणि च कर्म यः।
> स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४। १८)

६

—०—

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह कहकर ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

प्रतीत हो रहे हैं। जब तक द्वैत है, तबतक कम्प है जबतक कम्प है, तबतक भय है— 'द्वितीयाद् वै भयं भवति'। जबतक भय है तबतक अशान्ति है— 'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। पूर्वनिरूपणशैली से किसी को द्वैत का भ्रम न हो जाय बस अशान्तिमूलक इसी द्वैतभ्रम का उन्मूलन करती हुई श्रुति कहती है—

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतानि, आत्मैवाभूद्विजानत ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्त्वमनुपश्यतः ॥

(ईशोपनिषत् ७ मन्त्र)

अभ्यास द्वारा बुद्धियोग (निष्काम कर्मयोग) का साधन करते करते जिस समय आत्म साक्षात्कार हो जाता है उस समय उस मुक्त योगी के लिए सारा प्रपञ्च आत्मा ही बन जाता है। ऐसी अवस्था से युक्त उस ज्ञानी के लिए कहाँ शोक है, कहाँ मोह है। 'यदुदरमन्तरं कुरुते, अथ भय भवति" के अनुसार जबतक द्वैत है तभीतक भय है। एकत्व व्यापकता का मूल है। व्यापकता में कम्प नहीं है। एक वस्तु का अन्य स्थान की ओर झुकना ही तो कम्प है। व्यापकतत्त्व से अतिरिक्त कोई स्थान नहीं है, जहां कम्पन को अवकाश मिले। ऐसी परिस्थिति में आत्मा में स्थानच्युतिरूप भय कैसे हो सकता है। 'इद वा इद वा' इस नानाभाव से मोह होजाता है। चित्त का वैचित्य ही मोह है। मोह से विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। कार्याकार्यविवेकता मारी जाती है। इस प्रकार मोह के साथ साथ ही शोक का उदय होजाता है। इस शोक-मोह से छुटकारा पाने का उपाय है—अद्वैतभाव की उपासना। इसी से मोहकलिल का नाश होगा। बुद्धि में विद्या का उदय होगा, तभी शोकनिवृत्ति होगी, जैसा कि स्मृति कहती है—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥ (गी० २।५२)

स्वरूप है। जहाँ—'यह अपना है यह पराया है' यह भाव है, वहीं रागद्वेष है। दोनों ही मोह के उत्पादक हैं। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक रागद्वेष है। जबतक रागद्वेष है, तब तक मोह है। जबतक मोहाभिभूत बुद्धि है तब तक बुद्धि कलुषित है। कलुषित बुद्धि ध्यानशून्या है। ध्यानशून्या बुद्धि निर्बल बनती हुई मन पर अधिकार रखती हुई मन की सबलता का कारण बन जाती है। सबल मन सङ्गदोषरूप आसक्तिभाव का प्रवर्तक है। आसक्ति कामना की जननी है। कामना क्रोध का कारण है। क्रोध संमोह का पिता है। संमोह स्मृतिभ्रंश का जनक है। स्मृतिभ्रंश बुद्धिनाश का कारण है। बुद्धिनाश आत्मपतन का कारण है। यही आत्मघात है, जिसका कि पुरुषार्थाधिकरण के आवरणतन्त्र में विस्तार से निरूपण किया जा-चुका है। इस आपत्ति से बचने का उपाय है—बुद्धि की स्वरूपरक्षा। तदर्थ रागद्वेषमूलक मोह का परित्याग अपेक्षित है। तदर्थ रागद्वेषमूलक ब्रह्म-कर्म की विजातीयता का परित्याग आवश्यक है। तभी परम शान्ति मिल सकती है।

ज्ञान-कर्म को मिलाकर देखिए, तभी आनन्द है। ज्ञान की कर्म में उपासना कीजिए, कर्म की अकर्मरूप ज्ञान में उपासना कीजिए। ज्ञानपूर्वक कर्म कीजिए, कर्म को ज्ञान के आश्रित बनाइए, कर्मद्वारा ज्ञानसंपत्ति प्राप्त कीजिए। यही बुद्धिमानी है, इसी को बुद्धियोग कहते हैं। यही निःश्रेयसपन्था है। इसी भीतार्थ का स्पष्टीकरण करती हुई स्मार्त्ती उपनिषत् कहती है—

कर्मण्यकर्म यः पश्येद्, अकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥ (गी० ४।१८)

६

पूर्व कथन से साधारण मनुष्यों को द्वैत का भ्रम हो सकता है। 'कर्म को ब्रह्म में देखो, ब्रह्म को कर्म में देखो" यह प्रकार ब्रह्म-कर्म इन दो तत्त्वों की सत्ता सिद्ध करते हुए

समझ रहे हो, विश्वास करो वे दोनों तत्व आत्या पृथक् पृथक् प्रतीत होते हुए भी परमार्थतः अपृथक् है, दोनों में दोनों अनुस्यूत हैं। जब अधिकारी इस प्रथम श्रेणि में उत्तीर्ण होजाता है तो आगे जाकर—'यस्मिन्सर्वाणि भूतानि' इत्यादि रूप से श्रुति रहे सहे भेद का भी निराकरण कर देती है। प्रातिभासिक द्वैत से व्यावहारिक द्वैत पर लाती है। अन्ततोगत्वा पारमार्थिक अद्वैत पर पहुंचा देती है। इस प्रकार प्रकृतमन्त्र 'ब्रह्मैव कर्म' इस चतुर्थ सम्बन्ध का निरूपण करता हुआ ब्रह्म-कर्म के अभेद सम्बन्ध का ही दिग्दर्शन कराता है।

७

इति ब्रह्म-कर्मणो: सम्बन्धाधिकारः



श्रुति का तात्पर्य यही है कि ब्रह्म-कर्म दो विवर्त हैं। भाति दो हैं, सत्ता एक है, इसलिए परमार्थतः अद्वैत है। सत्ताभेद ही द्वैत का कारण बनता है। श्रुति का 'विजानतः' शब्द बड़ा चमत्कार रखता है। 'जानतः' नहीं कहा, 'विजानत' कहा है। "ब्रह्म व्यापक है, आत्मा एक है कहीं भेद नहीं है" इस प्रकार केवल शब्दज्ञान 'जानतः' से सम्बन्ध रखता है। वास्तविक अनुभूततत्त्वज्ञान का 'विजानतः' से सम्बन्ध है। श्रुति कहती है कि तुमने सारी उपनिषदें पढ़लीं, जीवन भर 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' 'आत्मैवेदं सर्वं-नेह नानास्ति किञ्चन' का पाठ पाठ किया, परन्तु इस कोरे वाचिक ज्ञान से (शब्दज्ञानमात्र से) तुम्हें तबतक कदापि शान्ति नहीं मिल सकती, जबतक कि तुम यथार्थरूप से उस ज्ञान पर प्रतिष्ठित न हो जाओगे। जैसे पानी को तुम पानी समझ रहे हो, अग्नि को अग्नि समझ रहे हो, इसी प्रकार कोरे शब्दाडम्बर को छोड़कर जिस दिन तुम अन्तरात्मा से अद्वैततत्त्व पर विश्वास कर लोगे, तभी शोक-मोह से छुटकारा होगा। नहीं तो-'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' यह वाक्य प्रसिद्ध है ही। जानना सामान्य ज्ञान है, इस का मन से सम्बन्ध है। विशेषरूप से-कार्यकारणसम्बन्ध परिज्ञानपूर्वक जानना विशेषज्ञान है। विशेषरूप से जानना यथार्थ जानना है। इस विज्ञान का बुद्धि से सम्बन्ध है। 'इदमित्थमेव' यह विश्वास बुद्धि से ही होता है। श्रद्धा करना जहां मन का काम है, विश्वास करना बुद्धि का काम है। बुद्धियोग ही आत्मा के विद्याभाग में प्रज्ञानगुण का उदय करता हुआ शोक-मोह निवृत्ति का कारण बनता है। "पूर्व के मन्त्र में द्वैतसम्बन्ध का निरूपण हुआ एवं प्रकृतमन्त्र अद्वैतसम्बन्ध का निरूपण कर रहा है" इस में विरोध नहीं समझना चाहिए।

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ (वाक्यपदी)

इस शिक्षासिद्धान्त के अनुसार अधिकारी भेद से श्रुतिने द्वैत-अद्वैत दोनों भावों का क्रमिक निरूपण किया है। ब्रह्म-कर्म को सभी पृथक् पृथक् समझते आरहे हैं। पहिले श्रुति इस आत्यन्तिकभेदबुद्धि का निराकरण करती है। श्रुति कहती है कि जिन को तुम सर्वथा भिन्न

पूर्णमदः →→ पूर्णमिदम्
४—स्वयम्भूः →→ १—महानात्मा
अधिदैवतम् →→ अध्यात्मम्

(महद्वैभव)

ब्रह्मसत्यान्तर:—

तेज-स्नेहमयः प्राकृतात्मा परमेष्ठी

महानात्मा

२

परमेष्ठी ←—— आपः →—— महानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे *महदात्माधिकरणं द्वितीयम्*)

अथर्ववेदावच्छिन्न:—तेजस्नेहमयात्मा

विश्वरूपोऽग्निः

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्य समाभ्यः ।

(ईशोपनिषत् ८ मन्त्र)

प्राकृतात्माधिकरणे—

अव्यक्तात्माधिकरणं समाप्तम्

१



॥ श्री ॥

भूत भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरम्

महद्ब्रह्मै-कमक्षरम्

स वेदैतत् परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते "शुक्र"-मेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

(मुण्डक ३।२।१) ।

मम योनि-र्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥ २ ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद् योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ ३ ॥

(गीता १४ । ३ । ४) ।





"ब्रह्मेदं सर्वम्" के अनुसार दृश्यमान सारा प्रपंच ब्रह्म है । इस के आठ अवयव हैं , एवं अष्टावयवरूप को गायत्री कहा जाता है । अतएव अष्टावयव ब्रह्मरूप सर्वप्रपञ्च को हम 'गायत्रब्रह्म' कह सकते हैं, जैसा कि 'तान्येतान्यष्टौ । अष्टा क्षरा गायत्री । गायत्रं साम । ब्रह्म उ गायत्री' (जै० उ० ब्रा० १।१।८।) इत्यादि सामश्रुति से स्पष्ट है । ब्रह्मप्रजापति (ईश्वरप्रजापति) के यह आठ अवयव अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर विकारक्षर, विश्वसृट् पञ्चीकृतपञ्च पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, इन नामों से प्रसिद्ध हैं, जिनका कि विशद निरूपण पूर्व के प्रकरणों में किया जा चुका है । ब्रह्म के इन आठों अवयवों में से प्रत्येक अवयव पञ्चकल है । इस प्रकार कलादृष्टि से ब्रह्म की

नहीं है यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए "विराड्वा अनाप्तं छन्दः" (शत ८।२।४।४—यजु सं १४।९) यह कहा गया है। यद्यपि ब्रह्मरूप परम विराट् की इन चालीसों कलाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख करदिया गया है, तथापि सम विज्ञान के लिए इस का यहां भी दिग्दर्शन करादेना असंगत न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विराड्ब्रह्म प्रजापति है। एव प्रजापति का "आत्म—प्राण—पशुसमष्टि—प्रजापतिः" यह लक्षण है। ऐसी स्थिति में इस विराट् प्रजापति में भी १४१ क्रम से आत्मा प्राण पशु इन तीन विभागों का योग मानना पड़ेगा। अव्यय अक्षर आत्मक्षर ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसृद्-पञ्चजन-पुरञ्जन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है एव पुर को पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विराड्ब्रह्म का जन्मदाता तत्व ही 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष चालीस कलाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्-
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः॥

"कायरहित, व्रणरहित, स्नायुरहित अतएव अकाय-अव्रण अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध अतएव शुद्ध, पाप्मा से अविद्ध शुक्र के चारों ओर यह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि—मनीषी—परिभू—स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व ने (शुक्र द्वारा) यथा यथारूप से सदा के लिए पदार्थों का निर्माण करदिया। अर्थात् वह तत्व पहिले शुक्र को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्र से विश्व का निर्माण

४० कलाएं होजाती हैं। इसी चत्वारिंशदक्षर छन्द को "परमाविराट्" कहा जाता है। विराट् छन्द के दशिनीविराट्, विंशिनीविराट् त्रिंशिनीविराट्, चत्वारिंशिनीविराट्-(१० २० ३० ४०) यह चार विवर्त हैं। इनमें चत्वारिंशिनी (चालीस अक्षर की) विराट् ही परमाविराट् कहलाती है। इससे बाहिर कुछ भी नहीं है। पुरुष, अव्यक्तप्रकृति, विकृति, विकारसर्ग (विश्व) सब कुछ इस परमाविराट् के गर्भ में निविष्ट है। पुरुषाभ्याधिकरण के उपक्रम में परमाविराट् का स्वरूप प्रकारान्तर से बतलाया गया है—(देखिए ई० वि०भा०पृ०सं० ७)। अनुगम सिद्धान्त के अनुसार विराट् का कई प्रकार से समन्वय होसकता है। अतएव—'एषा वै परमा विराड् यच्चत्वारिंशिनी' (तां० ब्रा० २४।१०।२) इस अनुगम* वचन के अनुसार इस का ब्रह्म की उक्त चालीस कलाओं के साथ भी समन्वय किया जासकता है। ब्रह्म ही 'सत्यम्' है। एवं 'सर्वं वै सहस्रम्' (शत० ४।६।८।१५), 'परमं सहस्रम्' (तां० ब्रा० १६।८।२) इत्यादि के अनुसार सर्वशब्द सहस्र एवं परम [अन्तिम सीमा] का वाचक है। अतएव इस परमब्रह्मरूपा सत्यरूपा परमाविराट् को आगे जाकर ताण्ड्यश्रुति ने 'सहस्राक्षरा वै परमा विराट्' (तां० ब्रा० २५।८।४।) इत्यादि रूप से सहस्राक्षरा बतलाया है। सहस्राक्षरा का अर्थ सर्वाक्षरा ही है। गायत्र्यादि इतर सारे छन्द इस के गर्भ में प्रविष्ट हैं। कोई भी छन्द इस का पर्याय (अतिक्रमण) करने में समर्थ

* किसी एक से सम्बन्ध रखने वाले वेदवचन निगम कहलाते हैं, एवं कई अनुरूप अर्थों का निरूपण करते हुए वचन अनुगम कहलाते हैं। उदाहरण के लिये 'इन्द्रो वै वामदेवो वसिष्ठ' यह वचन केवल इन्द्र का निरूपण करता हुआ निगमकोटि में प्रविष्ट है। एवं 'यानि पञ्चधा त्रीणि त्रीणि' इत्यादि वचन अनेक अर्थों से सम्बन्ध रखता हुआ अनुगम है। यहां ५ ३-का उल्लेख नहीं किया गया है। सामान्यरूप से 'पांच जगह तीन तीन' यह कह दिया गया है। सृष्टिविद्या में ऐसी स्थिति अनेक स्थलों में उपलब्ध है। उन सबका संग्रह करने के लिए, उन किसी का नाम न लेकर सामान्यरूप से इसी प्रकार 'पञ्चधा त्रीणि' यह कह दिया है। 'एषा वै परमा विराड् यच्चत्वारिंशिनी' यहां भी उन ४० अक्षरों का निर्देश नहीं है। अत एव इसे भी हम अनुगम ही कहेंगे। इसी लिए इस का अनेक स्थलों के साथ समन्वय होसकता है।

नहीं है यह सब से अति (अतिक्रान्त) है, अतएव इस के लिए "विराड्वा अनाप्तृष्ट छन्दः" (शत ८।१।१।४।-यजु सं १४।९) यह कहा गया है। यद्यपि अक्षररूप परमा विराट् की इन चालीसों कलाओं का पूर्व में व्यष्टिरूप से उल्लेख करदिया गया है, तथापि सम विज्ञान के लिए इन का यहां भी दिग्दर्शन करादेना असंगत न होगा। एक बात और ध्यान में रखिए। विराट्ब्रह्म प्रजापति है। एवं प्रजापति का "आत्म–प्राण–पशुसमष्टि –प्रजापतिः" यह लक्षण है। ऐसी स्थिति में इस विराट् प्रजापति में भी ३ ४ १-क्रम से आत्मा-प्राण पशु इन तीन विभागों का योग मानना पड़ेगा। अव्यय अक्षर-आत्मक्षर ब्रह्म के इन तीन अवयवों की समष्टि आत्मा है, विकार-विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन-इन चार अवयवों का संघात प्राण है एवं पुर को पशु कहा जाता है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

उक्त विराड्ब्रह्म का जन्मदाता तत्व ही 'शुक्र' नाम से प्रसिद्ध है। शुक्र के सम्बन्ध से ही विराट् पुरुष चालीस कलाओं में विभक्त होजाता है। इसी सर्वोपादनभूत शुक्रब्रह्म का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्
शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥

"कायरहित, व्रणरहित, स्नायुरहित, अतएव अकाय अव्रण अस्नाविर नाम से प्रसिद्ध अतएव शुद्ध,पाप्मा से अविद्ध शुक्र के चारों ओर वह व्याप्त होगया, दूसरे शब्दों में शुक्र को चारों ओर से घेर लिया। (इस प्रकार शुक्र को चारों ओर से वेष्टित कर) कवि–मनीषी–परिभू–स्वयम्भू इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध उस तत्व ने (शुक्र द्वारा) यथा यथारूप से सदा के लिए पदार्थों का निर्माण करदिया। अर्थात् वह तत्व पहिले शुक्र को वेष्टित करता है, एवं वेष्टित शुक्र से विश्व का निर्माण

किया करता है। उस का यह रचनाक्रम अनाद्यनन्त है, सदा एकसा है। "एक ही नियम से विश्व का निर्माण हुआ है, एवं इसी प्रकार भविष्य में भी निर्माण होता रहेगा" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। प्राचीन व्याख्याताओं ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है? एवं विज्ञानदृष्टि से वह कहां तक ठीक है? यह भी जान लेना आवश्यक होगा।

प्राचीनों के मतानुसार उक्त मन्त्र आत्मा के स्वरूपलक्षण का निरूपण करता है। वे कहते हैं कि-" पूर्व के मन्त्रों में जिस आत्मा का निरूपण हुआ है, वह स्वस्वरूप से कैसा है? उस का स्वरूपलक्षण क्या है? 'स पर्यगात्' इत्यादि मन्त्र इन्हीं प्रश्नों का समाधान करता है। उक्त लक्षण आत्मा परितः व्याप्त होरहा है, आकाशवत् वह सर्वव्यापी है, वह शुद्ध शुक्ररूप है, ज्योतिष्मान् है, दीप्तिस्वरूप है- (प्रकाश स्वरूप है), अकाय है (अशरीरी है), लिङ्गशरीर से वर्जित है, अव्रण है, शिराशून्य होने से अस्नाविर है। इस प्रकार अव्रण और अस्नाविर इन दो शब्दों से स्थूलशरीर का प्रतिषेध किया गया है। वह शुद्ध है, निर्मल है, अविद्यामल से रहित है, इस प्रकार 'शुद्ध' शब्द से कारण शरीर का प्रतिषेध किया गया है। धर्माधर्मादि पापों से विवर्जित होता हुआ वह अपापविद्ध है। मन्त्रगत शुक्र-अकायं-अव्रणं-अस्नाविरं-शुद्धं-अपापविद्ध इन वचनों को शुक्र -अकाय -अव्रण -अस्नाविर -शुद्ध -अपापविद्धः इस प्रकार पुंस्त्वभाव में परिणत कर लेना चाहिए। क्योंकि 'स पर्यगात्' इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव से उपक्रम कर 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभू' इत्यादि रूप से पुंस्त्वभाव पर ही उपसंहार किया गया है। (जब उपक्रम उपसंहार में पुंस्त्वभाव की प्रधानता है तो मध्यपतित 'शुक्रमकायमव्रणम स्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्' इत्यादि वाक्य की पुंस्त्वप्रधानता स्वतः सिद्ध होजाती है, यही तात्पर्य है)। वह क्रान्तिदर्शी है सर्वद्रष्टा है, जैसा कि 'नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा' इस श्रुतिप्रमाण से स्पष्ट है। वह सर्वज्ञ ईश्वर है। सब के ऊपर रहने वाला परिभू है।

५—"स्वर्णशुक्रमुपसो वि दिद्युत" (ऋक्सं० २।२।७)।
६—"मयस्तशीरीष्वे शुक्रमर्चि" (ऋक्सं०१।६।१)।
७—"इन्द्र शुक्र पिबा सोमम्" (ऋक्सं० १।१२।२)।
८—"मर्तामविरप्शुक्रमासाम" (ऋक्सं० १।१२।५)।
९—"यपोषा रुपा शुक्र दुदुहे" (ऋक्सं० ४।३।१०)।
१०—"अधिष्यानं मपसा शुक्रमन्धः (ऋक्सं० ४।२७।५)।
११—"शुक्रं तमन्त भारमः" (ऋक्सं० ४।४५।२)।
१२—"प्रयापमे मरत भारु शुक्रम्" (ऋक्सं० ५।४३।३)।
१३—'मासूर्यो मक्षरच्छुक्रम्" (ऋक्सं० ५।४५।१०)।
१४—'शुक्र तेऽन्यपजतं तेऽन्यत्" (ऋक्सं ६।५८।१)।
१५—"सक्षच्छुक्रं दुदुहे पृश्निरूपः" (ऋक्सं० ६।६६।१)।
१६—तयच्छुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्" (ऋक्सं० ७।६६।१६)।
१७—'प्रमुं दिवि शुक्रं ज्योतिरपारयः" (ऋक्सं० ८।३।२०)।
१८—"शुक्र हिरण्यमाददे" (ऋक्सं० ८।६५।११)।
१९—'पवमान ऋतं बृहच्छुक्रम्" (ऋक्सं० ९।६६।२४)।
२०—"दिवि शुक्र यजत सूर्यस्य" (ऋक्सं० १०।३।१)।
२१—"ज्योतिः शुक्रमसौ" (ऐब्रा० ७।१२)।
२२—"शुक्रं हिरण्यम्" (ऐब्रा० १७।६।१)
२३—'ज्योतिर्वै शुक्रं हिरण्यम्" (ऐब्रा० ७।१२)।
२४—"शुक्र मेतच्छुक्रेण क्रीणाति यत् सोम हिरण्येन' (शत ३।३।३।६)।
२५ "तेजोऽसि शुक्रमस्यमृतमसि [आज्य I]" (शत०१।३।१।२८।यजु ११।११)।
२६—"शुक्रा ह्यापः" (ऐ ब्रा० १।७।६।३)।
२७—"सर्व वै शुक्रम्" (शत ३।९।३।२५)

———o———

जिन जिन प्रकरणों में उक्त रूप से शुक्र शब्द प्रयुक्त हुआ है,उन उन प्रकरणोंको अपने सामने रख लीजिए, उपलभ्यमाष्यों को भी थोड़ी देर के लिए उपकारक समझिए, और फिर अर्थ कीजिए। आप को विदित होजायगा कि शुक्र शब्द का अमुक अर्थ ही ऐसा है, जो सब शुक्र शब्दों में समान रूप से व्याप्त होसकता है। आरम्भ से ही चलिए। जिस 'शुक्रम्' को उपक्रमोपसंहार के बल पर 'शुक्र' मानते हुए भाष्यकारनें प्रकृत में जिसे उस अचिन्त्य निर्गुण ब्रह्मपरक माना है, वे ही भाष्यकार इस उपनिषत् में ही 'ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीरा' इत्यादि रूप से पढ़े हुए 'शुक्रम्' को "शुक्रम्" ही रखते हुए कहते हैं—

> "ये ह्यकामा विमुक्तितृष्णाविनिर्मिता मुमुक्षवः सन्त उपासते, परमिव सेवन्ते, ते शुक्रं नृबीजं यदेतत् प्रसिद्ध शरीरोपादानकारणमतिवर्त्तन्ति धीराः, धीमन्तो न पुनर्योनिं प्रसर्पन्ति" (मुण्डक० शां० भा० ३।२।१)।

इस प्रकार यहां शुक्र शब्द से पुरुषोत्पादनभूत सुप्रसिद्ध शुक्र (वीर्य) का ग्रहण किया गया है। क्या सिद्धान्तवादी-'एकम निर्णीतः शास्त्रार्थोऽन्यत्रोपकारको भवति' इस न्याय को नहीं मानती! यदि मानती है तो क्यों नहीं मुण्डकोपात्त शुक्र शब्द को भी अचिन्त्य ब्रह्म परक माना जाय, अथवा ईशोपात्त शुक्र शब्द को भी क्यों न उपादानकारणपरक मान लिया जाय। सर्वश्री सायणाचार्यनें वेद पर भाष्य लिखा है। सभी विद्वान् इस भाष्य का आदर करते हैं। अब देखना यह है कि उक्त प्रकरणों में उपात्त शुक्र शब्द का उन्होंनें क्या अर्थ किया है।

२—"यह आदित्य अपनी रश्मियों द्वारा समस्त भूतों के सारभूत रस (शुक्र) को ऊर्ध्व (द्युलोक की ओर) लेजाता है"। (३)-"हे अग्ने! तुम्हारे (आग्नेय) शरीर का जो शुक्र (प्रज्वलित तेज) चमक रहा है"। (४)—"यह आदित्य शुक्ररूप (द्युलोक के) पय का दोहन करता है" (५)— 'हे अग्ने! आदित्य की तरह प्रकाशित शुक्ररूप आपको उषा प्रज्वलित कर रही है"। (६)—' हे अग्ने! हविष्मती प्रजा (होता लोग) आपकी शुक्र (दीप्ति) रूप ज्वालाओं की स्तुति करती है"। (७)—"हे इन्द्र! आप (गोदुग्ध से युक्त अन-

पन) शुक्ररूप सोम का पान कीजिए। अथवा शुक्रामन्थीग्रह में वर्तमान, अतएव शुक्ररूप सोम का पान कीजिए"। (८) 'इन उषाओं के शुभ्र (प्रकाश) रूप वर्णको (इन्द्र ने अपने तेज से) प्रकट कर दिया"। (९)-"पानी बरसाने वाले सूर्य (इन्द्र) ने अन्तरिक्षस्थ स्तन से शुक्ररूप पानी को दूह लिया"(१०)-' अथवा (द्युलोकस्थ सौर) इन्होंने आप्यायित शुक्ररूप सोम को" (११) "शुक्ररूप (दीप्तिरूप) रज को विस्तृत कर दिया"। (१२) "हे (अध्वर्यु ! आपने, वायु के लिए जिस वरणीय (शुक्र नाम के) दीप्त सोम का सम्पादन किया है'। (१३)- 'जिस दीप्त पानी (शुक्र) के प्रति सूर्य चारों ओर प्रकट होता है"। (१४) "हे पूषन्! तुम्हारा एक शुक्र [शुक्ल] वर्ण है, एक कृष्णवर्ण है"। (१५)-"(वर्षाऋतु में) शुक्लरूप (शुक्ररूप) उदक अन्तरिक्ष से झरता है"। (१६)-'देवताओं का हितैषी यह (सूर्य) निर्मल (शुक्र) चक्षु उदित हुआ है'। (१७ – 'हे इन्द्र! आपने जिस समय द्युलोक में निर्मल ज्योतिर्मय सूर्य को प्रतिष्ठित किया"। [१८]- "निर्मल हिरण्यरूप चन्द्रमा का आदान करता है" [१९]-"पवमानने द्युलोक में दीप्यमान श्वेतवर्ण [सूर्य] को उत्पन्न किया" । [२०]-"द्युलोक में पूजनीय सूर्यके शुक्र की [दीप्तिमत्मण्डल की] जैसे कोई आराधना करता है"। [२१]-"यह सूर्य ज्योतिर्मय शुक्र है"। [२२]-"यह शुक्र हिरण्य [ज्योति] है" । [२३]-"ज्योति ही शुक्ररूप हिरण्य है'। [२४]- 'सो जो कि हिरण्य सुवर्णखण्ड [अशर्फी] से सोम खरीदता है, वह शुक्र से ही शुक्र खरीदता है"। [२५]-"हे आज्य ! (घृत) आप तेजोमय हैं, शुक्र हैं, अमृत हैं"। [२६]-"पानी ही शुक्र है"। [२७]-"सत्य ही शुक्र है"। + + + + ।

उपर्युक्त प्रमाणों के अनुसार अब प्राचीनों के मतानुसार ही शुक्र शब्द पुरुषवीर्य, भुक्तरस अग्नितेज, पय प्रकाश, दीप्ति, सोम, ज्योति, आप, सोम दीप्तरज, दीप्तसोम, दीप्तपानी, शुक्लवर्ण शुक्लउदक, निर्मलसूर्य, निर्मलज्योति, निर्मलचन्द्रमा, श्वेतसूर्य, दीप्तिमत्मण्डल, सूर्य, हिरण्यज्योति, ज्योति, सोम, आज्य, पानी, सत्य–इन पदार्थों के लिए

प्रयुक्त हुआ है। इन सब का पर्यवसान हिरण्यगर्भित (मधुरश्मिगर्भित) पयस् (आप) में हो जाता है। अप्तत्त्व की अवस्था विशेष ही सोम है। सोम ही चन्द्रमा है। चन्द्रमा ही औषधि द्वारा वीर्यरूप में परिणत होता है। 'महत्तत् सोमो महिषश्चकार" (ऋक् सं० ६।६७।४१।) के अनुसार सोमाहुति से ही सूर्य में ज्योति का उदय होता है। सोममय सौर ज्योति ही हिरण्य है। पञ्चभूतों का मूल उपादान यही आप है, यही भूतों का रस है। यही गोपशु में प्रविष्ट होकर पयरूप में परिणत होता है। यह सब ऋत है, परन्तु इसके गर्भ में सत्य मधुरश्मि प्रतिष्ठित है, अत यह सत्य भी है। इन्हीं सब परिस्थितियों के आधार पर हम कह सकते हैं कि प्रकृत मन्त्र में प्राचीनोंने 'शुक्रम्' को 'शुक्र' परक मानते हुए जो इस का विशुद्ध आत्मपरक अर्थ किया है, वह दुराग्रहमात्र है। वैदिक साहित्य किसी सम्प्रदाय विशेष का अनुचर नहीं है। यद्यपि सभी सम्प्रदायों का मूल वेदशास्त्र ही है किसी भी सम्प्रदाय को अवैदिक नहीं कहा जा सकता, तथापि 'वेदशास्त्र में अमुक सम्प्रदाय का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है" यह मानना प्रौढिवादमात्र है। वैदिक पदार्थों के यथानुरूप समन्वय के लिए विशुद्धदृष्टि अपेक्षित है। यदि पहले से किसी मत पर आरूढ होकर आप वेद स्वाध्याय में प्रवृत्त होंगे तो सहस्र भाष्य भी आप को वेद के यथार्थ तात्पर्य से परिचित न कर सकेंगे। कुछ समय पूर्व वृन्दावन पाठशाला के प्रधान प० एम्बार कृष्णमाचार्य द्वारा सशोधित, एव श्रीगोपालानन्दस्वामीविरचित उपनिषद्भाष्य प्रकाशित हुआ है। कृष्णमाचार्य अपनी प्रस्तावना समाप्त करते हुए अन्त में लिखते हैं[1]—

'इद तु भाष्य सरलया शैल्या प्रवर्त्तमान सुखेनार्थमवगमयति। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तप्रवसम्भ्यमानानामुपकारकमेतत्। यद्यप्यस्ति नाम क्वचित् क्वचिद्वा-

१ "सरल शैली से लिखा गया यह भाष्य सरलता से अर्थ ज्ञान कराता है। विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का आश्रय लेने वालों के लिए बड़ा उपकारक है। यद्यपि कहीं कहीं शब्द योजनाओं शब्दों के अर्थों में प्राचीन व्याख्याओं से नाम मात्र को भेद है, तथापि विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का कहीं अणुमात्र भी उल्लंघन नहीं हुआ है.........। यह भाष्य सन् ११ में निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित हुआ है।.................।

कथयोमनायो ग्रन्थाशयु च मेन्" पूर्वम्यामपसानत, यद्यपि विशिष्टाद्वैतं तु न
सेगतोऽप्यभिमन्यते। तदिदं शुष्कदर्शिना विदुषाम्-अन्याय्यं स्यात्"।

क्या विशिष्टाद्वैत की पुष्टि करने के लिए ही उपनिषद् प्रकट हुए हैं? क्या इन साम्प्रदायिक ग्रन्थों से, जो केवल कल्पना का साम्राज्य निर्माण करने वाले चतुर शिल्पी हैं, आत्मतुष्टि हो सकती है? यदि नहीं तो किसी भी सम्प्रदाय का आश्रय न लेते हुए आप हमारे साथ चलिए। हम आपको शुक्रविभूति के दर्शन कराते हैं। मन्त्रारम्भ में कहा गया है कि विराड्ब्रह्म का जन्मदाता शुक्रतत्त्व है। इस शुक्रपदार्थ का सामान्य विवेचन पूर्व के शुक्राधिकार में विस्तार से किया जा चुका है। अतः यहाँ पिष्टपेषण की आवश्यकता नहीं है। केवल शुक्रसम्बन्धी विशेषताओं का ही दिग्दर्शन कराना पर्याप्त होगा।

शुक्र क्या पदार्थ है? इस का उत्तर है 'उपादानकारण'। विश्व का उपादानकारण कौन है? इस का उत्तर है -"षड्विंशात्मा अव्ययपुरुष अतएव बीजात्मापस प्रजापति गृहीत आत्मयाद"। अव्ययाधिकरण में हमने चतुर्भागभिन्न पद्ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, एवं यहाँ अव्ययादयपरिष्कृत आत्मक्षर को शुक्र बतलाया जारहा है, इस में विरोध नहीं समझना चाहिए, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट होजायगा। पञ्चाधिकपिणी परमाविराट् के पूर्वोक्त आठ अवयवों का स्मरण कीजिए। उन आठों अवयवों में सातवें 'पुरञ्जन' नाम के अवयव की पाँचों कलाएं वेद—लोक—प्रजा जीव—पशु इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन में वेद नाम का पहिला पुरञ्जन ही सृष्टि का आधार है। बिना वेद के न ईश्वरसृष्टि होती है, न जीवसृष्टि। अन्तर केवल इतना है कि ईश्वरसंस्था में पहिले पुरुष है, पुरुष से विश्व का मूल वेदतत्त्व प्रादुर्भूत होता है एवं जीवसृष्टि में पहिले वेद उत्पन्न होता है अनन्तर वेदद्वारा योगमाया का प्रादुर्भाव होता है। तदनन्तर पुरुष (जीवात्मा) का विकास होता है (देखिए ई. उ. वि. भा. पृ. सं. ४००) क्रमभाव में अन्तर है। परन्तु बिना वेद के प्रजापति का स्वरूप निष्पन्न नहीं होसकता, यह निश्चित है। जबतक प्रजा नहीं, तबतक प्रजापति नहीं। जब तक लोक नहीं, तब तक प्रजा

नहीं। जब तक आपोमय भृग्वेद नहीं, तब तक लोक नहीं। जब तक यजुर्वेद नहीं, तबतक सुवेद नहीं। इसप्रकार परम्परया वेद ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता हुआ 'प्रजापति' शब्द को अन्वर्थ बनाने में समर्थ होता है। तभी तो प्रजापति को वेदमूर्ति कहा जाता है। इस प्रजापति की ईश्वर-प्रतिमा-जीव-शिपिविष्ट भेद से चार संस्थाएं बतलाई गई हैं। इन चारों में ईश्वरप्रजापति विश्वकर्मा नाम से प्रसिद्ध है। इस विश्वकर्मा प्रजापति के समानशील-व्यसन चार अभिन्न सखा उत्पन्न होते हैं। चारों मित्र वरुण, इन्द्र अग्नि सोम इन नामों से प्रसिद्ध हैं। किसी समय यह पाँचों पृथक् पृथक् थे। जब तक यह पृथक् पृथक् रहे, तबतक इन की विश्वनिर्माणसम्बन्धिनी कामना पूरी न हुई। फलतः इन्होंने विचार किया कि ऐसे काम नहीं चल सकता। अपने को परस्पर में मिलकर सृष्टिनिर्माण करना चाहिए। ऐसा ही हुआ। पाँचों मिल गये। मिलने से कामना पूरी होगई। इन की समष्टि कर्मपूर्ति का हेतु बनी, अतएव यह यज्ञ 'काम्य' नाम से प्रसिद्ध हुआ। यही यज्ञ यज्ञविज्ञानपरिभाषा के अनुसार आगे जाकर 'दर्शपूर्णमास' नाम से व्यवहृत हुआ। अन्नरूप चन्द्रमा अग्निमयी पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस की यह परिक्रमा एक चान्द्रमास में पूरी होती है। इस परिक्रमा से चान्द्रमास के कृष्ण-शुक्ल दो पक्ष होगये। कृष्णपक्ष की अन्तिम विश्रामभूमि 'दर्श' कहलाने लगी, एवं शुक्लपक्ष की अवसान भूमि 'पूर्णिमा' कहलाने लगी। दर्शतिथि में चन्द्रमा की मृत्यु है, पूर्णिमा में युवावस्था है। शुक्लद्वितीया जन्मकाल है, शुक्लाष्टमी बचपन है, कृष्णाष्टमी वृद्धावस्था है। इन सब भावों की मूलाधारभूमि प्रतिपत् (पड़वा) है। यहीं से चन्द्रमा के ह्रास एवं वृद्धि की प्रपत्ति (उपक्रम) होती है, अतएव इसे 'प्रतिपत्' कहा जाता है। शेष सारे चान्द्र अहोरात्र प्रतिपत् का अनुसरण करते हैं, प्रतिपत् के अनुगामी हैं, अतएव उन्हें अनुचर कहा जाता है। प्रतिपत् अनुचर सांकेतिक शब्द हैं। मूलप्रतिष्ठा को प्रतिपत् कहा जाता है, मूलानुगत इतरभावों को अनुचर कहा जाता है। सूर्य प्रतिपत् है, रश्मिएं अनुचर हैं। चन्द्रमा प्रतिपत् है, नक्षत्र अनुचर हैं। आत्मा प्रतिपत् है, इन्द्रियप्राण अनुचर हैं। मस्तक प्रतिपत् है, इतर अङ्ग अनुचर हैं। गुरु प्रतिपत् है शिष्यवर्ग अनुचर है। सेनाध्यक्ष प्रतिपत् है, सेना अनुचर

है। हाथ प्रतिपत् है, कर्म अनुचर है। मुख प्रतिपत् है, अन्न अनुचर है। चक्षु प्रतिपत् है, रूप अनुचर है। शिश्न मात्र है। विश्व में सर्वत्र आप इसी प्रकार 'प्रतिपदनुचरौ' इन दो भावों का साक्षात्कार कर सकते हैं। प्रतिपत् एक होगा, अनुचर अनेक होंगे। कृष्ण अहोरात्र अनुचर हैं, कृष्णप्रतिपत् प्रतिपत् है। शुक्ल अहोरात्र अनुचर हैं, शुक्लप्रतिपत् प्रतिपत् है। कृष्णप्रतिपत् का शासन दर्शपर्यन्त है, शुक्लप्रतिपत् का शासन पूर्णिमा पर्यन्त है। दर्श-काल निग्राम (ह्रास) काल है, पूर्णिमाकाल उद्ग्राम (वृद्धि) काल है। दर्श में चान्द्र पदार्थ हम से वियुक्त होते रहते हैं। पूर्णिमा में चान्द्रपदार्थ हम से युक्त होते रहते हैं। दर्शोऽवसान की सूचिका है पौर्णमास्येष्टि पूर्वाभाव की प्रवर्तिका है। ऋतु के अनुसार प्रत्येक पदार्थ का दर्श-पूर्णमासकाल नियत है। उदाहरण के लिए घृत को लीजिए। आश्विनमास घृत का पौर्ण-मास है, शेषकाल दर्श है। आश्विनमास में आकाश से वायुद्वारा [प्राणरूप से] घृत की वृष्टि होती है अतएव आश्विन के पानी के लिए लोक भाषा में 'घी बरस रहा है' यह कहा जाता है। चैत्र-वैशाख मधु का पौर्णमास है। इनमें सूर्य से मधु [शहद] की वृष्टि होती है। सूर्य जिस समय मधुच्छत्र [मधुमक्खिका का छत्ता] नाम से प्रसिद्ध भरणी नक्षत्र पर आता है, उस समय से ही मधु का पौर्णमासकाल आरम्भ होजाता है। सर्वों मन शहद पृथिवी पर गिर जाता है। इसी मधुवृष्टि से वसन्त में प्रत्येक पदार्थ में नैसर्गिक माधुर्य विकसित होजाता है। मधु सम्बन्ध से चैत्र-वैशाख मधु-माधव मास नाम से प्रसिद्ध हैं। कहना यही है कि पदार्थ का आगमनकाल पौर्णमास है, वियोगकाल दर्श है। अहोरात्रपरिक्रमणवत् दोनों चक्रवत् परिभ्रमणशील हैं। परिभ्रमण से ही दर्श-पूर्णमास का उदय होता है। अतः इस परिक्रमारूप कर्म को ही 'दर्शपूर्णमासयज्ञ' कह दिया जाता है। चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह है, साथ ही में पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। अतएव पृथिवी को हम प्रतिपत् कह सकते हैं, एवं चन्द्रमा को अनुचर कह सकते हैं। इसी प्रकार चन्द्रमा को साथ लिए हुए पृथिवी अपने नियत स्थान पर (क्रान्तिवृत्त पर) सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है। इस परिक्रमा से पृथिवी में अदिति-दिति यह दो अवस्थाएं उत्पन्न होजाती हैं। यह अदिति-दिति अहोरात्र संवत्सर अयन

भेद से तीन भागों में विभक्त है । दिन में पृथिवी का जो भाग सौरप्रकाश से युक्त रहता है, वह अदिति है। रात्रिगत पार्थिवभाग सौरप्रकाश से वञ्चित होता हुआ दिति है। मध्याह्न पूर्णिमा है, मध्यरात्रि अमावास्या है, प्रातःकाल शुक्लाष्टमी है, सायंकाल कृष्णाष्टमी है । इसी प्रकार उत्तरायणमध्यकाल अदिति है, दक्षिणायनमध्यकाल दिति है। उत्तरायण उपक्रमकाल शुक्लाष्टमी है, मध्यकाल पूर्णिमा है, उपसंहारकाल कृष्णाष्टमी है, दक्षिणायन मध्यकाल दर्श है, विषुवकाल पूर्णिमा है । सारा सम्वत्सर पूर्णिमारूप है, प्रकाशरूप है, सम्वत्सर के पूर्व-पश्चिम सब ओर पूर्णिमा (प्रकाश) का साम्राज्य है । इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

> पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय ।
> तस्यां देवा अधि संवसन्त उत्तमे नाक इह मादयन्ताम् ॥
> (तै० ब्रा० ३।१।११) इति ।

पौर्णमासेष्टि का सम्बन्ध मध्य के विषुवकाल से ही है। यहीं सारे प्राणदेवता प्रतिष्ठित हैं, यही नाक स्थान है। इसी अभिप्राय से 'मध्यतः पौर्णमासी जिगाय०' इत्यादि कहा गया है। यही पृथिवी का दर्शपूर्णमास है। पृथिवी सूर्य का उपग्रह है, अतएव सूर्य प्रतिपत् है, पृथिवी अनुचर है।

चन्द्रयुक्त पृथिवी को साथ लिए हुए सूर्य परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है । यही सूर्य का दर्शपूर्णमास है । इसी सौरदर्शपूर्णमास से परमेष्ठी रूप महान् में त्रैगुण्य-भाव का उदय होता है। परमेष्ठी का वह भाग जो सौरप्रकाश से युक्त रहता है, पूर्णिमाकाल है, यही अदिति मण्डल है, यही अध्यात्मभावानुसार सत्त्वप्रधान महान् है । विरुद्ध तमोमय भाग दर्शकाल है, यही दिति मण्डल है, यही तमःप्रधान महान् है। सन्धिभाग रजोमहान् है। इसी सौर अदिति का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> या प्राणेन (सौरप्राणेन) सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।
> गुहां प्रविश्य तिष्ठन्ती या भूतेभिर्व्यजायत ॥ (कठ० ४।७) ।

सूर्य परमेष्ठी का उपग्रह है, अतएव परमेष्ठी प्रतिपद् है, सूर्य अनुचर है। चन्द्रमा-पृथिवी एवं सूर्य को अपने महिमामण्डल में प्रतिष्ठित रखता हुआ परमेष्ठी स्वयम्भू के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। इस परिक्रमा से ही विश्वका स्वरूप निर्माण होता है। विश्व एक प्रकार का प्रकाश है, यही पुण्याह (ब्रह्मा का दिन-सृष्टिकाल) है। यही सृष्टिकाल आदित्य मण्डल है, यही पूर्णिमा है। प्रलयावस्था विरलममात्मक तमोरूप रात्रिकाल है, यही दर्श है, यही परमेष्ठीरूप दर्शपूर्णमास है। स्वयं स्वयम्भू स्थिर है, अतएव इसे परोरजा कहा जाता है। पृथिवीरूप भूलोक, सूर्यरूप स्वर्लोक, पृथिवी और सूर्य के मध्य का भुवर्लोक परमेष्ठीरूप जनलोक, परमेष्ठी और सूर्य के मध्यका महर्लोक स्वयम्भू और परमेष्ठी के मध्यका तपोलोक यह ६ ओं रज (परिभ्रमणशील लोक) उस परोरजा सत्यलोकात्मक स्थिर स्वयम्भू के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। उसने अपनी प्राणशक्ति से [स्वयम्भू प्राण प्रधान है] ६ ओं का विधरण कर रक्खा है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर मन्त्रश्रुति कहती है।

अचिकित्वाश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मने न विद्वान्।
वियस्तस्तम्भ षळिमा रजांस्यजस्यरूपे किमपि स्विदेकम् ॥
(ऋक्सं० नासदीयसूक्त १।१६४।६।)

इस प्रकार प्राणप्रधान विश्वकर्मा स्वयम्भू (ईश्वर) प्रजापति अपनी वरुण [परमेष्ठी] इन्द्र [सूर्य] अग्नि [पृथिवी], सोम [चन्द्रमा] इन चार प्रतिमाओं से युक्त होकर दर्शपूर्णमास का प्रवर्तक बनता हुआ परमप्रजापति नाम से प्रसिद्ध होजाता है। इसी परमप्रजापति का निरूपण करती हुई यजुःश्रुति कहती है—

या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
[यजु सं १७।२१।]

● इस विषय का विशद विवेचन नासदीयसूक्तविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

सत्य, तप, जन, मह यह चार परमधाम हैं, स्वः मध्यमधाम है, भुवः भूः अवमधाम है। दूसरे शब्दों में स्वयम्भू परमेष्ठी परमधाम है, सूर्य मध्यमधाम है चन्द्रमा एवं पृथिवी अवमधाम है। परमेष्ठी-सूर्य चन्द्रमा-पृथिवी-यह चार उस के अभिन्न सखा हैं। इन्हें वह श्रेष्ठमित्र (स्वयम्भू) शिक्षा देता है। जैसा स्वरूप उस का है, जो संस्थाक्रम उस में है, ठीक वैसा ही स्वरूप, वही संस्थाक्रम उक्त चारों प्रतिमाप्रजापतियों में है। वह चतुष्क है, यह चारों भी चतुष्क हैं। वह आत्मा [हृदयभाव], पद [पिण्ड], पुनःपद [महिमा] भेद से त्रिपर्वा है, ये ही तीन तीन पर्व इन चारों में हैं। यही शिक्षण है। उक्त कामप्रपञ्च से परस्पर में मिलते हुए पांचों सर्वरूप बन रहे हैं। इसी आधारपर पूर्वप्रकरणों में हमने प्राणादि पांचों को 'साध्य' किंवा 'सर्व' नाम से व्यवहृत किया है [देखिए ई वि भा पृ सं— १२१]। विश्व में सर्वत्र इन्हीं सर्वप्राणादि का साम्राज्य है। प्रजापति की इन्हीं संस्थाओं का दिग्दर्शन कराती हुई वाग्विश्रुति कहती है—

"स ऐक्षत प्रजापति -इमं वा आत्मन प्रतिमामसृक्षि++++ ता वाऽएताः प्रजापतेरधिदेवता असृज्यन्त-अग्नि-रिन्द्र -सोम परमेष्ठी प्राजापत्य ++++ तत एवं परमेष्ठी प्राजापत्यो यज्ञमपश्यद्दर्शपूर्णमासौ, ताभ्यामयजत। ताभ्यामिष्ट्वाऽकामयत अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स आपोऽभवत "आपो वा इदं सर्वम्"। स परमेष्ठी प्रजापतिं पितरमब्रवीत्—कामप्रं वाऽइ यज्ञमदर्शं, तेन त्वा याजयानीति, तथेति। तमयाजत। स इष्ट्वा अकामयत - अहमेवेदं सर्वं स्यामिति, स प्राणो ऽभवत् "प्राणो वा इदं सर्वम्" स प्रजापतिरिन्द्रं पुत्रमब्रवीत् अनेन त्वा कामप्रेण० ++++ स वागभवत्, "वाग्वा इदं सर्वम्"। स इन्द्रोऽग्नीषोमौ भ्रातरौ-अब्रवीत्, अनेन वां कामप्रेण० ++++ अन्नाद एवान्यतरोऽभवत्, अन्नमन्यतरः। अन्नादएवाग्निरभवत्, अन्नं सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च। ता वा

एताः पञ्च देवता' (प्रजा (प्राण'), विष्णुः (आप'–परमेष्ठी), इन्द्रः (वाक्, अग्नि (अन्नाद')) सोम' (अन्नम्) एता' पञ्चदेवता') एतेन कामप्रेण यज्ञेना यजन्त। ता यत्कामा (सर्वभ्याप्ति–माप्तिकामा) अयजन्त, स आभ्यः काम समाप्यत। यत्कामो हवा एतेन यज्ञेन यजते, सोऽस्मै कामः समृध्यते" (शत० ब्रा० ११ कां। १ प्र०। ६ ब्रा०। १३ क०–२० क० पर्यन्त)।

उक्त श्रुति की तीन चार बातों पर पाठकों को विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि इन्हीं के आधार पर पुण्डीरविद्या का रहस्य अवलम्बित है, जो कि आगे जाकर स्पष्ट होगा। पहिली बात तो यह है कि प्रजापति शब्द से प्रकृत में व्यापक मायावच्छिन्न मायी महेश्वर अभिप्रेत है। इस प्रजापति से क्रमश परमेष्ठी, इन्द्र, अग्नि, सोम इन चार अधिदेवताओं का प्रादुर्भाव होता है। इनमें श्रुतिने परमेष्ठी को प्राजापत्य कहा है। दूसरी बात यह है कि परमेष्ठी ही सर्वप्रथम दर्शपूर्णमास यज्ञ करता है। परमेष्ठी आगे आकर उस पितर प्रजापति से कहता है कि मैंने दर्श पूर्णमास नाम का कामप्र यज्ञ देखा है, मेरी इच्छा है कि मैं इस यज्ञसे आप का यजन करूं। प्रजापति की 'तथास्तु' इस अनुमति से परमेष्ठी प्राजापत्य कामप्रयज्ञ से प्रजापति का यजन करता है। परमेष्ठी का स्वयम्भू प्रजापति के चारों ओर परिक्रमा लगाना ही कामप्रयज्ञ से इस प्रजापति का यजन करना है। तीसरी बात यह है कि इस परमेष्ठीकृत परिक्रमारूप यज्ञ से ही प्रजापति की नवीन प्राणसंस्था का उदय होता है। पहिले सर्वरूप आपोमय परमेष्ठी का उदय होता है, अनन्तर प्राणमय स्वयम्भू का उदय होता है। मायी स्वयम्भू पृथक् तत्त्व है एवं परमेष्ठी के सम्बन्ध से प्राणरूप से उदित होनेवाला योगमायावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू पृथक् है। मायी स्वयम्भू प्रथमज था, इससे परमेष्ठी उत्पन्न हुआ, परमेष्ठी से पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ। प्राजापत्य परमेष्ठी के द्वारा पुण्डीररूप में परिणत होनेवाले इस परिच्छिन्न स्वयम्भू के लिए आगे जाकर– 'स प्रजापतिरिन्द्र पुत्रमब्रवीत' कहा गया है। श्रुतिके आरम्भ का प्रजापति शब्द जहां व्यापक मायी स्वयम्भू (महेश्वर) का वाचक है, वहां यह आगे का प्रजापति शब्द महेश्वर सत्ता में मुक्त कर्मेश्वर पुण्डीर स्वयम्भूका वाचक है। मायी स्वयम्भूकी इच्छासे परमेष्ठीने दर्शपूर्णमास किया है,

है, एक पुण्डीर स्वयम्भू की इच्छा से इन्द्र (सूर्य) अग्नि (पृथिवी) सोम (चन्द्रमा) ने दर्शपूर्णमास किया है। पुण्डीर स्वयम्भू की अपेक्षा से ही परमेष्ठी—सूर्य आदि प्रतिमाप्रजापति नाम से व्यव हृत हुए हैं। एक एक वल्शामें पांच पांच पुण्डीर हैं। इन पांचों में स्वयम्भू परमप्रजापति है, शेष चारों प्रतिमाप्रजापति हैं। उस व्यापक मायी स्वयम्भू के उदर में ऐसी पञ्चपुण्डीरात्मिका सहस्र (१०००) प्राजापत्य वल्शाएं प्रतिष्ठित रहती हैं। मायावच्छेदेन स्वयम्भू एक है, पुण्डीरावच्छेदेन स्वयम्भू एक सहस्र हैं, यही वक्तव्य है।

पञ्चपुण्डीराप्राजापत्यवल्शा

१—"प्राणो वाइद सर्वम्" प्राणः—स्वयम्भू ब्रह्मा		परमप्रजापति १
२—"आपो वा इद सर्वम्" आपः परमेष्ठी विष्णु		
३—"वाग्वा इद सर्वम्" वाक्—सूर्यो इन्द्र		प्रतिमा-प्रजापतय ४
४—"अन्नादो वा इदं सर्वम्" अन्नाद—पृथिवी अग्नि		
५—"अन्न वा इद सर्वम्" अन्नम्—चन्द्रमा सोम		

ऐसी सहस्र वल्शाओं को (टहनियों को) अपने उदर में रखने वाला मायी महेश्वर ही अक्षावत्थ है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट होजाता है। अश्वत्थरूप इसी वेदमूर्ति महेश्वर के वेदभाग से सुब्रह्म रूप आपोमय ब्रह्म का जन्म होता है। वेद स्वयं द्विब्रह्म है, सुब्रह्म पद् ब्रह्म है। पहिले वाङ्मय सत्य ब्रह्माग्नि ही था। 'पतिश्च पत्नी च' इस इच्छा से आगे जाकर यही सत्य—ऋत यह दो रूप धारण करलेता है। सत्याबाक् पद्ब्रह्म है, ऋताबाक् सुब्रह्म है। इसी को ऋग्वेदनें 'आम्भृणीवाक्' (आपोमयीवाक्) नाम से व्यवहृत किया है। (देखिए ऋक् संहिता·····आम्भृणीसूक्त) यह अश्वत्थरूप ब्रह्म सुब्रह्म ही विश्वके आदि प्रवर्तक हैं, जैसा कि 'अनेजदेकम्' इत्यादि मन्त्रभाष्य में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अग्निमय ब्रह्म

पुरुष है, पति है पिता है । आपोमय सुब्रह्म स्त्री है, पत्नी है, माता है । ब्रह्म महेश्वर है, सुब्रह्म पार्वती है । यही जगत् के माता पिता हैं— "जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" । इन्हीं दोनों के सम्बन्ध से आगे की सृष्टिधारा चलती है ।

दो वस्तुओं का सम्बन्ध चार प्रकार से हुआ करता है । चार से अतिरिक्त कोई पांचवां प्रकार नहीं है । साथ ही में यह भी ध्यान रखिए कि जैसे सम्बन्ध संख्या निर्णीत है, एवमेव दो तत्त्व भी सर्वथा निश्चित हैं । इन दो के अतिरिक्त तीसरा तत्त्व आप को विश्व में नहीं मिल सकता । वे दोनों तत्त्व वे ही ब्रह्मरूप आग्नेयपुरुष, सुब्रह्मरूप सौम्या स्त्री हैं । सचमुच अग्नीषोमात्मक स्त्रीपुरुष के अतिरिक्त अन्य तीसरी वस्तु नहीं है । तभी तो "अग्नीषोमात्मकं जगत्" "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति शुष्कं चैवार्द्रं च । यच्छुष्कं तदाग्नेयं, यदार्द्रं तत् सौम्यम्" इत्यादि श्रौतवचन चरितार्थ होते हैं । यह दोनों ही तत्त्व विजातीय हैं । एक भोक्ता है, दूसरा भोग्य है । अग्नि भोक्ता है, अतएव यह अन्नाद नाम से, सोम भोग्य है, अतएव यह अन्न नाम से प्रसिद्ध है । दोनों का यह अन्नान्नादलक्षण भोक्तृभोग्यभाव समुदाय और अवयव भेद से दो भागों में विभक्त है । ब्रह्म (अग्नि) सुब्रह्म (सोम) रूप स्त्रीपुरुष का यदि अवयव सम्बन्ध होता है तो ऐसी अवस्था में आग्नेयब्रह्म "पुरुष' कहलाता है, सौम्यसुब्रह्म 'स्त्री कहलाता है । यदि समुदाय सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में सारा सोम सर्वात्मना यदि अग्निब्रह्म के उदर में चलाजाता है तो उस समय यह दोनों तत्त्व स्त्री-पुरुष न कहलाकर अन्न अन्नाद नाम से व्यवहृत होते हैं । अन्न जब अन्नाद के (सुब्रह्म जब ब्रह्म के) उदर में चला जाता है तो उस समय आहुत होने वाले अन्न की स्वतन्त्रता नष्ट होजाती है । परन्तु ऐसा होता तभी है जब कि सारा अन्न अन्नाद में आहुत होजाता है । जब आप अन्न खाते हैं तो वह आप के शारीराग्नि में जाकर अग्निस्वरूप में परिणत होता हुआ अपना प्रातिस्विक स्वरूप खो बैठता है । अब यदि उस भुक्त अन्न को आप उसी स्वरूपमें प्राप्त करना चाहें तो यह असम्भव है । क्योंकि वह अन्न सर्वात्मना अग्नि में आहुत होचुका है । बस ऐसे समुदायाहुतिसम्बन्ध में ही उन ब्रह्म सुब्रह्मों को अन्नाद-अन्न कहा जाता है । इस सम्बन्ध से कोई नई वस्तु [अपूर्वभाव] उत्पन्न नहीं होती, अपि तु केवल ब्रह्म का आप्यायन मात्र होता है, यही वृत्ति 'पुष्टि' कहलाती है ।

यदि समुदाय का सम्बन्ध नहीं है, अपितु अवयव का सम्बन्ध है तो पुष्टि नहीं सृष्टि है। इस सम्बन्ध में अवयवी निर्विकार है, केवल अवयव की चिति है। यही चितिलक्षण अवयव सम्बन्ध (संसृष्टिलक्षण सृष्टिसम्बन्ध) सृष्टि (अपूर्वभावोत्पत्ति) का कारण है। इस सृष्टिमूलक अवयव सम्बन्ध में ही अन्न एवं अन्नाद स्त्री-पुरुष नाम से व्यवहृत होते हैं। समुदायरूप अन्न अन्नाद के सम्बन्ध में-"यदा वर्मो समागच्छत -अन्नैवाभ्यायेत, नाग्नम्" इत्यादि रूप से श्रुति अन्नसत्ता का उच्छेद बतलाती है, एवं अवयव सम्बन्ध में अन्नमात्र का उच्छेद है। उच्छेद नहीं, अपूर्वभाव में परिणति है। अतएव इस सम्बन्ध में अन्न-अन्नाद का प्रयोग न होकर स्त्री पुरुषशब्दों का प्रयोग होता है। इन दोनों का (स्त्री-एवं पुरुष का) अवयव सम्बन्ध तीन प्रकार से सम्भव है। स्त्री-स्त्री का सम्बन्ध भी संभव है। इस अवयव सम्बन्ध से न क्षोभ होता, न सृष्टि होती। क्योंकि सृष्टि विजातीय वस्तुद्वय के समन्वय से ही होती है। स्त्री-स्त्री सजातीय पदार्थ हैं। साथ ही में सौम्य होने से दोनों अवयव आर्द्र हैं। अतएव यह मिथुनभाव सर्वथा निरर्थक है। एवमेव पुरुष पुरुष (के अवयवों) का सम्बन्ध सम्भव है। यदि दो पुरुषों का समन्वय है तो सर्वनाश है। दोनों ही अग्नि हैं। समान बल वाले दो आग्नेय ग्रह टकरा कर जैसे महाविस्फोटन [जोकि विस्फोटन ऐन्द्रमूकम्प नाम से प्रसिद्ध है।] के जनक बनजाते हैं अथवा समान गति रखनें वाली दो पवमान ट्रेनों के सम्बन्ध से [भिड़जानें से] जैसे महाविस्फोटन होजाता है, एवमेव आग्नेय पुरुषावयवों का सघर्ष विस्फोटन का जनक बनजाता है। इस सम्बन्ध में भी सृष्टि का अभाव है, क्यों कि दोनों ही सजातीय हैं। इस सम्बन्ध में सृष्टि तो नहीं है परन्तु क्षोभ अवश्य है। तीसरा है स्त्री पुरुष के शुक्र-शोणितरूप अवयवों का सम्बन्ध। इस विजातीय अवयव सम्बन्ध से ही अपूर्वभाव का उदय होता है। यही सम्बन्ध 'समन्वय' नाम से प्रसिद्ध है। इसी से सृष्टि होती है- 'तत्तु समन्वयात्"। इस सम्बन्ध में अवयव की हानि होती है, अवयवी ज्यों के त्यों सुरक्षित रहते हैं। पुरुष अग्नि है, स्त्री आप (सोम) है। अग्नि के उदर में पानी चला जाय, अग्नि अग्नि मिलजाय, पानी पानी मिलजाय, आग पानी मिलजाय, इस प्रकार दोनों के सम्बन्ध के चार ही द्वार हैं। यदि अग्नि के उदर में पानी (सोम) चला गया

तो पुष्टि है यदि अग्नि अग्नि (ब्रह्म–ब्रह्म) का सम्बन्ध होगया तो विस्फोटन है यदि पानी पानी (सुब्रह्म-सुब्रह्म) मिल गए तो निरर्थक है, यदि आग पानी का (ब्रह्मरूप पुरुषके शुक्र, सुब्रह्म रूप स्त्री के शोणित का) समन्वय है तो सृष्टि है।

(अवयव सम्बन्ध) (१ख०ग०)

- १—स्त्रीपुरुषका समुदाय सम्बन्ध(अग्नि सोम का समुदाय सम्बन्ध)——→पुष्टिकर
- २—स्त्री स्त्री का सम्बन्ध............(सोम सोम का अवयव सम्बन्ध)←——→निरर्थक
- ३—पुरुष पुरुष का सम्बन्ध (अग्नि अग्नि का अवयव सम्बन्ध)←——→विस्फोटक
- ४—स्त्री पुरुष का अवयव सम्बन्ध (अग्नि सोम का अवयव सम्बन्ध) —→सृष्टिकर

स्त्री पुरुष के जो अवयव सृष्टि के उपादान बनते हैं उन्हीं को विज्ञानभाषा में योषा वृषा कहा जाता है। योषा वृषा शब्द सांकेतिक हैं । प्रश्नोपनिषत् में इन्हीं के लिए 'रयि प्राण' शब्द प्रयुक्त हुए हैं, एवं वहां रयि प्राण के मिथुनभाव से ही सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है–(देखिए प्रश्नोपनिषत् १ प्रश्न)। योषा यदि सर्वात्मना वृषाके गर्भमें है तो अवश्य अभ्यादभाव है, अवयव सम्बन्ध में स्त्रीपुरुषभाव है । योषा–वृषा के सृष्टिप्रवर्त्तक अवयव विज्ञानभाषा में रेत योनिनाम से प्रसिद्ध हैं। रेत सुब्रह्म नाम के योषा का अंश है योनि ब्रह्म नाम के वृषा का अंश है। आग्नेय भाग योनि है सौम्य भाग रेत है। दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्निरूप यज्ञब्रह्म योनि है, सुब्रह्मरूप यज्ञब्रह्म (आप) भाग रेत है । दिखती है कुछ और दिखलाई पड़ता है कुछ अन्य। इसी आधार पर 'परोक्षप्रिया इव हि देवाः प्रत्यक्षद्विषः' यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है । प्रकृति का प्रत्येक कार्य परोक्ष (पर्दे) में होता है । सुब्रह्म की ब्रह्म में आहुति होती है। अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है। यह स्त्रीरूप सुब्रह्म पुरुष में प्रतिष्ठित होरहा है, उधर पुरुषरूप ब्रह्म स्त्री में प्रतिष्ठित है। स्त्री में पुरुष बैठा है, पुरुष में स्त्री बैठी है, जैसा कि पूर्व के प्रत्यगात्मा विवरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

विश्वस्वरूपसम्पादिका महामाया की जहांतक व्याप्ति है, वहां तक वेदघन वेदमूर्ति ईश्वर की व्याप्ति है। यदवच्छेदेन ईश्वर (महेश्वर) व्याप्त है, तदवच्छेदेनैव ब्रह्म (वेद) सुब्रह्म (सुवेद) व्याप्त हैं, एक बिन्दु भी दोनों से शून्य नहीं है। दोनों में एक प्रकार से ब्रह्म-अभावभाव सम्बन्ध है। अतएव यह आहुतिसम्बन्ध सृष्टि के लिए अनुपयुक्त है। सृष्टि तभी हो सकती है, जब कि उस व्यापक ब्रह्म के किसी एक प्रदेश में व्यापक सुब्रह्म के किसी एक अवयव की आहुति हो। योनिभाग वृषारूप ब्रह्मका अवयव है, रेतोभाग योषारूप सुब्रह्म का अवयव है। इन दोनों अवयवों में *मायावच्छिन्न सर्वव्यापक चराचर (प्रतिसिपरिमित) का एक अवयवविशेष विशेष है,* इसमें मातरिश्वा नाम से प्रसिद्ध भार्गववायु द्वारा उस ब्रह्म पर सर्वत्र व्याप्त सुब्रह्म नामसे प्रसिद्ध यद् ब्रह्म (आप) के एक अवयवविशेष की आहुति होती है, यही अवयव रेत है। इन अवयवों के समन्वय से सारा विश्व बना है। आगे की सारी सृष्टियों में इस अवयव सम्बन्ध की ही व्याप्ति समझनी चाहिए। ईश्वरसृष्टि हो, अथवा जीवसृष्टि, सर्वत्र योषावृषारूप ब्रह्म-सुब्रह्म के अवयव सम्बन्ध की ही प्रधानता है। उदाहरणके लिए पुरुष को लीजिए। पुरुषके सर्वाङ्ग शरीरमें रेत व्याप्त है, उधर स्त्री के सर्वाङ्ग शरीर में योनिरूप आर्तव (रक्त) व्याप्त है। परन्तु सभी रेत अथवा सभी आर्तव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनता। यदि ऐसा हो तो स्त्री पुरुषका स्वरूप ही नष्ट हो जाय। स्त्री पुरुष का आंशिक रेत-आर्तव ही प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। सृष्टि किस सम्बन्ध से होती है? यह बतला दिया गया। अब प्रकरणसमाप्ति के लिए एकबार आपका ध्यान 'अनेजदेकम्०' इस मन्त्रार्थ की ओर आकर्षित करते हैं।

यहां बतलाया गया है कि मायावच्छिन्न चराचर सर्वव्यापक यजुर्ब्रह्मरूप ब्रह्माग्नि में मातरिश्वावायु यद्ब्रह्मरूप आपोमय (भृग्वङ्गिरोमय) सुब्रह्म की आहुति देता है। इस प्रकार 'अनेजदेकम् ' इत्यादि मन्त्र सामान्यरूप से व्यापक ब्रह्म में व्यापक सुब्रह्म की आहुति बतलाता है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। पूर्वकथनानुसार सर्वाहुति में अभावाभावमात्र है,एवं ऐसा सम्बन्ध युक्तिकर बनता हुआ भी सृष्टिमर्यादा से बहिर्गत है। सृष्टि अवयव सम्बन्ध पर ही निर्भर है। अतएव "मातरिश्वा एजदनेजद् ब्रह्म में आप की आहुति देता है" इस वाक्य

का "अक्षर के एक योनिरूप प्रदेश में मातरिश्वावायु आपोमयअक्षर के रेतोरूप एक प्रदेश की आहुति देता है" यही अर्थ समझना चाहिए। यही कारण है कि श्रुतिने "तस्मिन्नपो मातरिश्वा जुहोति" यह न कहकर "तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति" यह कहा है। आहुति सम्बन्ध समुच्चयसम्बन्धात्मक अन्नान्नादभाव पर निर्भर है, आधानसम्बन्ध अवयवसम्बन्धात्मक स्त्री-पुरुषभाव पर निर्भर है। लोकव्यवहार में भी "योनि में रेत की आहुति होती है" यह नहीं कहा जाता, अपि तु "योनि में रेत का आधान होता है" यही कहा जाता है। अत एव वायु को होता (आहुति देने वाला) नहीं कहा जाता अपि तु रेतोधा (रेत का आधान करने वाला) कहा जाता है। प्रश्न होता है कि 'अनेजदेकम्॰' इत्यादि मन्त्र से प्रतिपादित सामान्य अर्थ की उपेक्षा कर—"अव्यय की अक्षर में आहुति होती है" यह विशेष अर्थ किस आधार पर प्रमाणिक माना गया? इसी प्रश्न का समाधान करने के लिए 'स पर्यगाच्छुक्रम्' इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। मन्त्र में पढ़ा हुआ शुक्र शब्द ही उक्त प्रश्न का समाधान करता है। कैसे? इस जिज्ञासा को शान्त करने से पहिले शुक्रपदार्थ का स्वरूप परिचय करा देना आवश्यक होगा।

पदार्थनिरुक्तिरूपविज्ञान के विलुप्तप्राय हो जाने के कारण विद्वानों की दृष्टि में आजदिन शुक्र—रेत—वीर्य तीनों अभिन्न पदार्थ हैं तीनों पर्याय हैं। परन्तु यथार्थ में शुक्र भिन्न वस्तु है, रेत अन्य वस्तु का वाचक है, वीर्य शब्द किसी अन्य ही पदार्थ का बोधक है। वीर्य और शुक्र रेत में प्रतिष्ठित हैं इसीलिए 'तात्स्थ्यात्ताच्छब्द्यम्' न्याय से रेत को शुक्र वीर्य शब्दों से व्यवहृत कर दिया जाता है। ऐसा होने पर भी तीनों को एक ही वस्तु मान बैठना सर्वथा भ्रम है। संस्कृत साहित्य पर आज एक बड़ा भारी कलङ्क लगाया जाता है। सर्वसाधारण का यह विश्वास है कि संस्कृत भाषा में एक एक शब्द के अनेक पर्याय होते हैं। फलतः जो जैसा चाहता है, स्वार्थानुसार वैसा ही अर्थ करलेता है। परन्तु आज हम अपने पाठकों को यह विश्वास दिलाते हैं कि संस्कृत साहित्य में एक अर्थ के लिए एक ही शब्द प्रयुक्त हुआ है। पर्यायों की समानता को लेकर व्यवहार गौणरूप प्रचलित होगया है। यथार्थदृष्टि से सब शब्द नियत अर्थों के ही प्रतिपादक हैं।

विष्णु-नारायण-वामन सब मिन्नार्थ के वाचक हैं। महेश्वर-ईश्वर-परमेश्वर आत्मा-ब्रह्म सब शब्द पृथगर्थों के द्योतक हैं। मघवा-पाकशासन-शक्र-त्वष्टा-शुनाशीर-पुरंदर सब अपनें अपनें अर्थों में नियत हैं। बुद्धि-मनीषा धिषणा प्रज्ञा-मति सब मिन्नार्थ के परिचायक हैं। जिसके लिए जो शब्द नियत है, वह उसी का बोधक है। पट और वस्त्र कभी पर्याय नहीं हैं। आदित्य और सूर्य कभी पर्याय नहीं है। वायु और वात, हिरण्यगर्भ और पद्मभू, कभी पर्याय नहीं हैं। इसीप्रकार शुक्र-वीर्य-रेत कभी परस्पर में एक दूसरे के पर्याय नहीं हैं।

तीनों में से पहिले वीर्यशब्द को ही लीजिए। रेत में रहनें वाला, आत्मबल को बढ़ानें वाला तत्त्वविशेष ही 'वीर्य' कहलाता है। बल-वीर्य-पराक्रम तीनों में भी भेद है। शरीरशक्ति बल है, प्राणशक्ति वीर्य है, मन की शक्ति पराक्रम है। हाथी में बल की प्रधानता है। हाथी अपनें भार से एक सिंह को कुचल सकता है। सिंह में वीर्य की प्रधानता है। शरीरशक्ति से प्राणशक्ति बलवती है, अतएव प्राणप्रधान (वीर्यप्रधान) सिंह हाथी को परास्त कर देता है। मन की साहस पराक्रम है। दूसरे पर आक्रमण कर उसे अपनें वश में करलेना ही 'पराक्रम' है। यह मनो बल है। पुरुष में इस की प्रधानता है। यह बल वीर्य से भी प्रबल है, अतएव पराक्रमी मनुष्य वीर्यशाली सिंह को भी एक पञ्जर (पींजरे) में बंद कर देता है। इस प्रकार बल-वीर्य पराक्रम तीनों शब्द नियत अर्थों के वाचक हैं। आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय माना जाता है। मन ज्ञानप्रधान, प्राण कर्मप्रधान, एवं वाक् अर्थप्रधान है। आत्मा की इन तीनों कलाओं के उपकारक क्रमशः ब्रह्म-क्षत्र-विट् नाम के तीन वीर्य हैं। ब्रह्मवीर्य ज्ञान का अनुयायी है, क्षत्रवीर्य कर्म का प्रेरक है, एवं विड्वीर्य अर्थशक्ति का संचालक है। ब्रह्मवीर्य का अग्नि से सम्बन्ध है, क्षत्रवीर्य का इन्द्र से, विड्वीर्य का विश्वेदेवों से सम्बन्ध है। जिस के रेतमें ब्रह्मवीर्य की प्रधानता है, उसकी सन्तान ब्राह्मण कहलाती है। क्षत्रवीर्य प्रधान रेत क्षत्रियवर्ण का, विड्वीर्य प्रधान रेत वैश्यवर्ण का प्रवर्तक है। जिस के रेत में अवीर्यरूप, किन्तु सामान्यतः वीर्यरूप पूषा नाम से प्रसिद्ध पार्थिव तमोमय प्राणदेवता की प्रधानता रहती है, उस की सन्तान सच्छूद्र कहलाती है, इसी के लिए—'शूद्राश्चावरवर्णाश्च' यह कहा जाता है। इन चारों वीर्यों के विरोधी

चार ही मलभाग हैं। इन देवविरोधी मलभागों की क्रमशः जिनके रेत में प्रधानता होती है, उन से क्रमशः अन्त्यज, अन्त्यावसायी, दस्यु, म्लेच्छ इन चार असत्शूद्रों की उत्पत्ति होती है। यह चारों ही अवर वर्ण हैं। यही असत्शूद्र निरवसित कहलाते हैं।

देवभाग → मलभाग

(दैवीसंपत्) (आसुरीसंपत्)




१—ब्राह्मणवर्ण (अग्नि) → अन्त्यज
२—क्षत्रियवर्ण (इन्द्र) → अन्त्यावसायी
३—वैश्यवर्ण (विश्वेदेवा) → दस्यु
४—अवरवर्ण (पूषा) → म्लेच्छ

वर्णसृष्टि → अवर्णसृष्टि



स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः

१—मन (ज्ञानशक्ति) ज्ञानोदयौपयिक-ब्रह्मवीर्यम् → तत्प्रधाना — ब्राह्मणाः
२—प्राण (क्रियाशक्ति) कर्मोदयौपयिक-क्षत्रवीर्यम् → तत्प्रधाना — क्षत्रियाः
३—वाक् (अर्थशक्ति) अर्थोदयौपयिक-विड्वीर्यम् → तत्प्रधाना — वैश्याः



उक्त निदर्शन से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि वीर्यतत्त्व शुक्र और रेत से सर्वथा पृथक् तत्त्व है। रेत में प्रतिष्ठित रहने वाला शक्तिरूप वीर्य है। रेत के क्षय से वीर्य का भी क्षय होजाता है। अतएव 'ब्रह्मचर्य' का अर्थ शुक्ररक्षापरक मान लिया जाता है।

अब चलिए शुक्र-रेत की ओर । पुरुष के रेत का नाम शुक्र नहीं है, अपि तु अग्नि का नाम शुक्र है । शुक्राग्नि स्त्री में रहता है, रेत रूप सोम पुरुष में रहता है । शुक्र का प्रधान आयतन स्त्री का रज है, रेत का प्रधान आयतन पुरुष का सोमभाग है। पुरुष के रेत में जैसे उक्त वीर्य रहते हैं, एवमेव स्त्री के रज में भी वीर्य प्रतिष्ठित रहते हैं । दोनों के वीर्य शुद्ध रहते हैं, तभी वर्णानुरूपा सृष्टि (सन्तान) होती है । अतएव वर्णरक्षा के लिए वीर्य रक्षा आवश्यक है । वर्णवीर्य के यथार्थ स्वरूप को यत्किञ्चित् भी न जानता हुआ, परन्तु जानने का अभिमान करता हुआ एक वैश्यवर्ग का महान् नेता नेतृत्व के अभिमान में पड़कर अपने पुत्र का यदि एक ब्राह्मण वर्ग के नेता की कन्या के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं समझता तो यह उसका, एवं उसके देश का दुर्भाग्य है । हाँ यदि वह अपनी लड़की किसी ब्राह्मण पुत्र को देदे तो शास्त्र दृष्टया उसका यह कार्य अनुचित न होगा, कारण ब्राह्मण इतरवर्ण की कन्या के साथ पाणि ग्रहण कर सकता है । वीर्यरक्षा के लिए शास्त्रसिद्ध वैवाहिक मर्यादा आवश्यक है । इस मर्यादा का पालन न हुआ तो क्या होगा ? इसका उत्तर है भारतवर्ष की अधोगति । अस्तु प्रकृत में यही कहना है कि प्रजा की अवयवभूता योनि (अग्नि) शुक्र है, इस की प्रधान प्रतिष्ठा स्त्री है । दूसरा का अवयव भूत रेत (सोम) रेत है, इसकी प्रधान प्रतिष्ठा पुरुष है । योनि में रेत का आधान होता है, इसका 'शुक्र में रेत का आधान होता है' यही तात्पर्य है । इसप्रकार वीर्यवत् रेत एवं शुक्र का पार्थक्य भी भलीभाँति सिद्ध होजाता है ।

रेत शब्द पुरुष के सौम्यभाग के लिए ही नियत हो यह बात नहीं है । वस्तुतः रेतत्व का अवच्छेदक उपादानद्रव्यत्व ही समझना चाहिए । प्रजा का उपादानद्रव्य न केवल पुरुष का सौम्यभाग है, न केवल स्त्री का आग्नेय शोणित भाग है, अपि तु दोनों का समन्वित रूप ही उपादान है । ऐसी अवस्था में हम दोनों को 'रेत' कह सकते हैं । स्त्री का आग्नेय भाग भी उपादान होने से रेत है, पुरुष का सौम्य भाग भी उपादान होने से रेत है । परन्तु एक आग्नेयरेत है, दूसरा सौम्यरेत है । इसी भेद को समझाने के लिए वैज्ञानिकोंने आग्नेयरेत को 'शुक्र' शब्द से व्यवहृत किया है, एवं सौम्यरेत को पारिशेष्यात् रेत शब्द से प्रसिद्ध किया है ।

अन्तरेत शुक्र है, सरल रेत रेत है। अनता [परिपाक] अग्नि का धर्म है, तरलता पानी का धर्म है। अग्नि सप्ताग्नि है, सुब्रह्म भूत भाग है। वह घन है, यह तरल है। यह शुक्र-रेत दोनों ही क्रमशः वृषा-योषाप्राण से अनुगृहीत रहते हैं। इसमें शुक्र-रेत रूप योनि-रेत के समन्वय से प्रजोत्पत्ति बतलाई है। परन्तु वस्तुतः सृष्टि के मूलाधार हैं–योषा-वृषाप्राण। शुक्ररूप स्त्री के आग्नेय भाग में रहने वाला पितृप्राण वृषा कहलाता है, पुरुष के सौम्यरेत में रहने वाला पितृप्राण योषा नामसे प्रसिद्ध है। इसी प्राण को भिषक् परिभाषा में 'भ्रूण' कहा जाता है। यदि शुक्रशोणित के भ्रूण जीवित हैं, तभी दोनों के समन्वय से प्रजोत्पत्ति होसकती है। यदि भ्रूण निर्बल हैं मूर्च्छित हैं, नष्ट हैं तो ऐसी दशा में निरन्तर होने वाला भी शुक्रशोणित का मिथुनभाव प्रजोत्पत्ति का कारण नहीं बनसकता। इन भ्रूणों की निर्बलता के, एवं विनाश के मातृदोष, पितृदोष, कर्मदोष, नाड़ीदोष, ग्रहदोष, आदि आठ दोष हैं। इन आठों की चिकित्सा धर्मशास्त्र में प्रतिपादित है। सुप्रसिद्ध श्राद्धकर्म पितृदोष का निवर्त्तक माना जाता है। अतएव नित्यकोटि में प्रविष्ट रहते हुए भी श्राद्ध को धर्मशास्त्र में काम्यकर्म (पुत्रकामनासाधक) माना है। निष्कर्ष यही हुआ कि सारभूत शुक्र है प्रवाहित रस रेत है। दोनों में प्राण प्रतिष्ठित हैं, प्राणानुगृहीत यही दोनों जीवन के कारण हैं। इसी शुक्र-रेत-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं–

> "शुक्रं तु सारभूतेनो, रसो रेतः प्रवाहि यत्।
> प्राणेनानुगृहीतें ते (शुक्ररेतसी) प्राणिनां जीवनं विदुः॥"

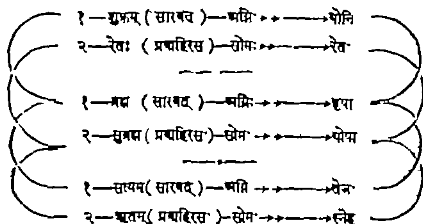
शुक्र आग्नेय पदार्थ है इसके लिए प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। 'सप्ताग्निदयुना शुक्र' से कोशकार स्वयं ही शुक्र को अग्नि बतला रहे हैं। 'अग्निः शोचति, रेतो रसति' से ही दोनों क्रमशः शुक्र-रेत नाम से प्रसिद्ध हुए हैं। शुक्र ही शोक है, शोक संताप है, संताप ताप है, ताप अग्नि का धर्म है। तापरूप से शुक् (अग्नि) ही 'शुक्र' बना है। शुक्र साक्षात् अग्नि

१ इस विषय का विस्तृत विवेचन "श्राद्धविज्ञान" में देखना चाहिए।

है, अतएव मह्यश में व्याप्त होनें वाले ४० महपात्रों में से अग्निमय सौरमह पात्र को 'शुक्र' कहा गया है। इसी आधार पर निम्नलिखित वचन प्रसिद्ध हैं—

१—"प्रजा वै शुक्रः" (शत० ५।४।२०।)—"रेतो वा प्रजा" (गो० ब्रा० पू० ३।१३)
२—"अग्निः शुचि (शुक्र)" (तै० ब्रा० ११।८।१)—"रेतो वै सोमः" (शत. १।८।५।२)

इसी शुक्र को हम आग्नेय होनें से 'तेज' कह सकते हैं—"तेजो वा अग्निः" (शत. २।-५।४।८।), एवं रेत को सौम्य होनें से 'स्नेह' कहा जासकता है। एक बात और—शुक्र में रेत, रेत में शुक्र अनुस्यूत है। शुक्र में अग्नि प्रधान है सरस सोम गौण है। रेत में सोम प्रधान है, एवं अग्नि गौण है। इसीलिए कहीं कहीं आप रेत को शुक्र कह दिया जाता है, जैसा कि प्रकरण के आरम्भ में शुक्र शब्द की व्याप्ति बतलाते हुए कहा गया है। एवमेव कहीं कहीं अग्निमय शुक्र को रेत बतला दिया जाता है। इन्हीं दोनों तत्वों के समन्वय से सृष्टि होती है, यह प्रत्येक दशा में निर्विवाद है।



दोनों के समन्वय से कैसे संसार बना है ? इस प्रश्नसमाधि के लीए निम्नलिखित प्रकरण पर दृष्टि डालिए। सृष्टि का मूलप्रवर्तकतत्व अमृत-ब्रह्म-शुक्र इन तीन भागों में विभक्त है।

इन में अमृत आत्मयोनि है, ब्रह्म प्रकृतियोनि है, एवं शुक्र विकृतियोनि है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि आत्मसृष्टि अमृत से होती है, प्रकृतिसृष्टि ब्रह्म से होती है, एवं विकृतिरूपा विश्वसृष्टि शुक्र से होती है। सृष्टि के यही तीन विवर्त हैं। इन में अमृततत्त्व अव्यय-अक्षर आत्मक्षर भेद से त्रिकल है, ब्रह्मतत्त्व प्राणादि भेद से पञ्चकल है, शुक्रतत्त्व वाग्-अन्न भेद से द्विकल है। त्रिवृत् अमृत (३), पञ्चकल ब्रह्म (५), द्विकलशुक्र (२) की समष्टि ही दशविराट् (दशाक्षरविराट्) है, यही 'सर्वम्' है। इसमें को अमृत-ब्रह्म-शुक्र तीन पदार्थ हैं। वस्तुतः अमृत ही ब्रह्म है, ब्रह्म ही शुक्र है। सृष्टि से अभिभूत रहता हुआ यही तत्त्व अमृत कहलाता है, सृष्ट्युन्मुख बनकर यही 'ब्रह्म' कहलाने लगता है, एवं सृष्टि का उपादान बनकर यही शुक्र कहलाने लगता है। मूलावस्थापन्न यही तत्त्व अमृत है, तूलावस्थापन्न यही तत्त्व शुक्र है, मूल को तूलरूप में परिणत करने के समय यही ब्रह्म नाम से व्यवहृत होने लगता है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि अमृत एवं ब्रह्म यह दो आत्मविवर्त सृष्टि के मूल हैं, एवं शुक्र-विवर्त सृष्टि का 'बीज' है। जब तक अमृत एवं ब्रह्म सृष्टि के बीज नहीं बन जाते, तबतक ये दोनों अमृत ब्रह्म इन्हीं नामों से व्यवहृत होते हैं परन्तु बीजावस्था में आकर इन्हीं दोनों की समष्टि वाग्रूप में परिणत होती हुई (वेदात्मिका बनती हुई) 'शुक्र' नाम धारण करलेती है।

पिछले प्रकरण में हमने कहा था कि सृष्टिसाक्षी अव्ययपुरुष, अतएव बीजावस्थापन्न अव्ययानुगृहीत आत्मक्षर को ही शुक्र कहा जाता है—(देखिए ई. वि. भा. पृ. सं. १०)। यही पञ्चब्रह्म को शुक्र बतलाते हुए विरोध का उत्थापन करते हुए इस के समाधान की प्रतिज्ञा की गई थी। अवसरप्राप्त उक्त विरोध का भी परिहार करलेना चाहिए। बीजावस्थापन्न अक्षर भी शुक्र है, एवं बीजावस्थापन्न अक्षर पर ही यजुर्ब्रह्म है। सारी सृष्टि मूर्तिप्रधान है। मूर्ति ही विश्व का स्वरूप है। सारा विश्व मूर्त है। मूर्ति पुर है। इस पुररूप विश्व के मूल वेद लोक-प्रजा आदि नामों से प्रसिद्ध पुरञ्जन ही हैं। यद्यपि इन पांचों पुरञ्जनों को ही हम विश्व के बीजभूत होने से 'शुक्र' कह सकते हैं, तथापि पांचों में प्रथम एवं प्रतिष्ठारूप पहिला वेदनाम का ही

पुरातन है, अत इसी को शुक्र कह दिया गया है। यह वेदतत्त्व आत्मक्षर की सर्वप्रधाना एव सर्व प्रथम प्राणकला का विकार है, दूसरे शब्दों में वेदतत्त्व की उपादानभूमि आत्मक्षर है, एव 'वाचारम्भण विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' के अनुसार कार्यरूप वेद कारणरूप आत्मक्षर से अभिन्न है। ऐसी स्थिति में शुक्ररूप वेद को आत्मक्षर कहा जासकता है। आत्मक्षर प्रकृति का मर्त्यभाग है, अक्षर अमृत भाग है। अक्षर और आत्मक्षर दोनों एक ही अमृतमृत्युमूर्त्ति प्रजापति के दो अवयव हैं, दोनों मिलकर एक वस्तु है। ऐसी दशा में यदि विकारक्षररूप वेदाभिन्न आत्मक्षर शुक्र है तो आत्मक्षराभिन्न अक्षर भी अवश्य ही शुक्र है। साथ ही में बिना अव्ययालम्बन के अक्षर क्षर भी बीजावस्था में परिणत नहीं होसकते, अत अक्षर-क्षरवत् स्वयं अव्यय भी शुक्रकोटि में विनिविष्ट होजाता है। तभी तो-"वही अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है" यह कहने का साहस किया जाता है। अव्यय ही अक्षर बनता है, वही क्षर बनता है, वही वेदरूप में परिणत होता है। अक्षरतत्त्व अव्यय के विद्याभाग का विकास है, क्षरतत्त्व उसी के कर्मभाग का विकास है। वही अपने विद्या-कर्म भाग से वेदरूप से प्रकट होता है। वेद का यत्-(गतितत्त्व) भाव उसके कर्मभाग का विकास है, जू--(स्थितितत्त्व) भाव उसी के विद्याभाग का विकास है। कहीं विद्यारूप (अक्षररूप) से, कहीं कर्मरूप (क्षररूप) से, कहीं उभयरूप (वेदरूप) से वही सर्वत्र व्याप्त होरहा है। उससे अन्य कुछ नहीं है, सबकुछ वही है, सब कुछ उसी में है।

उपर्युक्त कथन से यह कहने में कोई आपत्ति नहीं की जासकती कि यजुर्ब्रह्मावच्छिन्न षोडशी पुरुष ही शुक्र है। विश्वसृट्-पञ्चजन-पुरञ्जन आदि बहिरङ्ग अव्यक्तप्रकृति षोडशी के बिना नहीं रह सकती। अव्ययावच्छिन्न अक्षर क्षर ही तो यजुरूप में परिणत होकर बहिरङ्गप्रकृतिरूप में परिणत होते हैं। इस परमार्थपद्धति से विचार करने पर-"सृष्टिसाक्षी अव्यययुक्त, अतएव सृष्ट्युन्मुख बीजावस्थापन्न अक्षरक्षर शुक्र है" "एमत् अनेजत् तत्त्व शुक्र है" इन दोनों वाक्यों में कोई विरोध नहीं रहता। यही अक्षरावच्छिन्न यजुरूप शुक्र मातरिश्वा द्वारा होने वाले व्याप के आधान से विश्वरूप में परिणत होता है। विद्यावस्थापन्न यही शुक्रतत्त्व "अन्नात्य"

नाम धारण कर लेता है। इस अश्वत्थ के अव्यय के विद्या-कर्मरूप ब्रह्म-कर्म के अनुग्रह से ब्रह्माश्वत्थ कर्माश्वत्थ यह दो भेद होजाते हैं। इनमें ब्रह्माश्वत्थ का निरूपण कठ एवं मुण्डक-भाष्य में द्रष्टव्य है, एवं कर्माश्वत्थ का निरूपण श्राद्धविज्ञान के कर्मगति प्रकरण में हुआ है। शुक्र की आहुति से ही (पञ्चपुण्डीर प्राजापत्यस्वरूप) का जन्म होता है। शुक्र की सहस्राहुतियों से सहस्रवल्श शुक्र अश्वत्थ का स्वरूप सम्पन्न होता है। अश्वत्थ संसार है, इस संसारमहीरुह का बीज शुक्र-तत्त्व है। शुक्र का अतिक्रमण करना ही मायोपाधिशून्या परामुक्ति है। निष्कामभाव से जो इस अश्वत्थ की उपासना करते हैं, वे ही धीर बुद्धियोगी चिरकाल के उपासनायोग (बुद्धियोग) से मुक्तयोगी बनते हुए शुक्ररूप विषसीमा (मायासीमा) से बाहर निकलने में समर्थ होते हैं-"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"। इसी रहस्य का स्पष्टीकरण करती हुई श्रुति कहती है—

स वेदैतत्परमं ब्रह्मधाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम्।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः ॥
(मुण्डकोपनिषत् ३।२।१)।

अश्वत्थरूप महेश्वर को आप अध्यात्मपर दृष्टि से अमृत कह सकते हैं, आधिदैविकपरदृष्टि से ब्रह्म कह सकते हैं, आधिभौतिकपरदृष्टि से शुक्र कह सकते हैं। वही अश्वत्थ अमृत है, वही ब्रह्म है, वही शुक्र है। कुछ भी कहिए—परन्तु उसे महामाया की अन्तिम परिधि तक व्याप्त समझिए। आप को विश्वास करना चाहिए कि शुक्र-ब्रह्म-अमृत इन तीन नामों से प्रसिद्ध होनेवाला यह तत्त्व (मायी महेश्वर) अपने उदर में अनन्त (सहस्र) प्राजापत्य अश्वत्थ प्रतिष्ठित रखता हुआ एकमेवाद्वितीय रूप से भरा हुआ है। इसी 'तत्त्व' विज्ञान का स्पष्टीकरण करते हुए ऋषि कहते हैं—

"ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते। तदु नात्येति कश्चन।
एतद्वै तत्" [कठ० २।३।१]।

उक्त वचन बीजरूप उसी यजुर्ब्रह्म का निरूपण करता है। वेद को हमनें सृष्टि का मूलाधार बतलाया है, एवं साथ ही में इसे उभयात्मक भी कहा है। यद्यपि विश्व में अविद्यारूप (आवरणरूप) कर्मभाग की ही प्रधानता है, परन्तु विश्वनिर्माण बिना विद्या की सहायता के सर्वथा अनुपपन्न है बिना ज्ञानरूप विद्याके कर्म संभव ही नहीं है। आनन्द-विज्ञान-मय विद्याभाग है, मन-प्राण-वाक् कर्मभाग है। आनन्द विज्ञान के बिना साधारण मनुष्य भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। आनन्द ही कर्मप्रवृत्ति का मूलस्तम्भ है। यह विद्यारूप ज्ञान अक्षर है, अविद्यारूप कर्म क्षर है। दूसरे शब्दों में अव्यय के विद्याभाग का अनुग्रह अक्षर पर है, एवं कर्मभाग का अनुग्रह क्षर पर है। अतएव उपनिषदोंने अक्षर को विद्या शब्द से, क्षर को अविद्या शब्द से व्यवहृत किया है। दोनों का ईश अव्यय अपने दोनों भावों से दोनों पर शासन करता है। इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है–

> द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे।
> क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥
>
> (श्वेता० उ० ५। १।)।

विद्यारूप अक्षर का विकास 'जू' है, कर्मरूप क्षर का विकास 'यत्' है। जूरूप विद्यातत्व अनेजत् है, यत्रूप कर्मतत्व एजत् है। एजत् अनेजत् की समष्टिरूप यजुर्ब्रह्म ही शुक्र है। सृष्टिकर्त्ता इस वेदमूर्ति शुक्र को सृष्टि के प्रधान अनुबन्ध का सहारा लेना पड़ता है। वह अनुबन्ध है 'चितिसम्बन्ध'। योग विभूति, सहचर आदि ११ प्रकार के सम्बन्धों में से ग्रन्थिबन्धन नाम से प्रसिद्ध चितिसम्बन्ध ही सृष्टि का प्रधान अनुबन्ध है। एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का बिनाव (लोकप्रसिद्ध'चेजा') ही चिति है। ईंट पर ईंट पर रखने से जैसे एक दुर्ग का स्वरूप बनता है, एवमेव उसी षोडशीरूप आत्मप्रजातन्तु पर इष्टक (ईंट) रूप भौतिक विकारक्षरों की चिति से विश्वदुर्ग का निर्माण हुआ है। विश्वभूता यह शुक्रचिति– बीज, देव, भूत, भेद से तीन भागों में विभक्त है। षोडशी आत्मा पर पहिली बीजचिति है,

बीजचिति पर देवचिति है, देवचिति पर भूतचिति है। तीनों चितियों की समष्टि विश्व है, विश्व चिति का आलम्बन षोडशी विश्वात्मा है, आत्मा और विश्व की समष्टि आत्मन्वी ईश्वर है, इन्हीं दो भावों की समष्टि प्रतिमाप्रजापति है। दोनों की समष्टि ही जीवप्रजापति है, एवं दोनों की समष्टि ही शिपिविष्टप्रजापति है, सर्वत्र प्रजापति का ही साम्राज्य है— 'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किंच'। "त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी" के अनुसार अव्यय (ज्ञानज्योति) अक्षर (कर्मज्योति) क्षर (भूतज्योति) इन तीनों ज्योतियों से यह षोडशी प्रजापति चितित्रयरूप विश्वप्रजा के साथ संयुक्त हो रहा है। महाविश्व ईश्वर का शरीर है हमारा (जीवात्मा) पाञ्चभौतिक शरीर हमारा विश्व है। विश्व सूत्ररूप है, आत्मा मणिरूप है। दोनों में सूत्रब्रह्म विश्वब्रह्म (मर्त्यब्रह्म) है, मणि ब्रह्म चितेनिधेयब्रह्म (अमृतब्रह्म) है। जिसप्रकार मणि ब्रह्म अव्यय-अक्षर-क्षरभेद से त्रिकल है, एवमेव विश्वसूत्रब्रह्म भी बीज-देव-भूत भेद से त्रिकल ही है। षट्कल की समष्टि ही ईश्वर है, षट्कल की समष्टि ही जीव है—"षाट्कौशिकमिदं सर्वम्"। बीजचिति पर अव्यय का अनुग्रह है, देवचिति पर अक्षर का अनुग्रह है, एवं भूतचिति पर क्षर का अनुग्रह है। बीजचिति ज्ञानज्योति है, देवचिति कर्मज्योति है, भूतचिति भूतज्योति है। इन विश्वरूप तीन चित्य ज्योतियों से यह विश्वात्मारूप षोडशी अपनी अव्यय-अक्षर-क्षररूप पूर्वोक्त तीनों ज्योतियों से युक्त होरहा है। यह षोडशी विश्वरूप तीनों ज्योतियों का आधार है, अतएव इसे—'ज्योतिषां ज्योति' (विश्व की बीज-देव-भूतरूप तीनों ज्योतियों की ज्योति) कहा जाता है।

ज्योतिषां ज्योति षोडशी विश्वात्मा ⟶ विश्वम्

१—अव्ययः (ज्ञानज्योति) ⟶ १—बीजचितिः (ज्ञानज्योति)
२—अक्षरः (कर्मज्योति) ⟶ २—देवचितिः (कर्मज्योतिः)
३—क्षरः (भूतज्योति) ⟶ ३—भूतचितिः (भूतज्योति)
} षाट्कौशिकमिदं सर्वम्

(आत्मा) ⟶ (शरीरम्)

ईश्वर की अपेक्षा जीवसंस्था हमारे समीप है, अतः प्रथम उसी की ओर व्यापकका ध्यान आकर्षित किया जाता है। अध्यात्मसंस्था में आत्मा और शरीर यह दो विभाग हैं। इनमें आत्मा कौन है? इसका उत्तर है 'षोडशीपुरुष'। शरीर कौन है? इसका उत्तर है—'बीज देव–भूत समष्टि'। भूतग्राम, देवग्राम, बीजग्राम की समष्टि ही शरीर है। बीजग्राम को आत्म ग्राम कहा जाता है। यह आत्मग्राम उस प्रधान आत्मा से भिन्न है। वह एक है, यह अनेक हैं। यही आत्मग्राम कारणशरीर है, देवग्राम सूक्ष्मशरीर है, भूतग्राम स्थूलशरीर है। कारण शरीर पर सूक्ष्मशरीर, सूक्ष्मशरीर पर स्थूल शरीर प्रतिष्ठित है। तीनों शरीर षोडशी आत्मा पर प्रतिष्ठित हैं। अनेक वस्तुओं के संघ को 'ग्राम' कहा जाता है। आर्हतिकदर्शनानुयायी जिसे 'आत्मपरिग्रह' कहते हैं, गीताशास्त्र जिसे 'कूट' कहता है, श्रमणक जिसे 'पुद्गल' कहते हैं, बौद्ध जिसे 'स्तूप' कहते हैं, ज्योतिषी जिसे 'राशि' कहते हैं, लोकव्यवहार में जो 'ढेर' 'थोक'—आदि नामों से प्रसिद्ध है, वही विज्ञानभाषा में 'ग्राम' एवं 'पुर' नाम से व्यवहृत किया जाता है। सिंहादि वन्यपशु समुदाय बनाकर नहीं रहते, अपि तु एकाकी विचरण करते हैं, अत एव इन्हें 'अरण्यपशु' कहा जाता है। अरण्य शब्द जंगलका वाचक नहीं है, अपि तु एकाकी भाव का समर्थक है। इसीलिए एकाकीभाव से सम्बन्ध रखने वाले उपासना प्रतिपादक वेद भाग को 'आरण्यक' कहा जाता है। उपासना 'अरतिर्जनसंसदि' पर ही निर्भर है। जंगल में शहर की तरह समुदाय नहीं रहता, अतएव जंगल को भी अरण्य कह दिया जाता है। वस्तुतः अरण्य एकत्वभाव का सूचक है। मृग आदि वन्य पशु समुदाय बनाकर रहते हैं, इसी समुदायरूप ग्रामभाव के कारण मृगादि को 'ग्राम्यपशु' कहा जाता है। बस्ती में समुदाय की प्रधानता रहती है, अत एव बस्ती को भी ग्राम कह दिया जाता है। वस्तुतः ग्राम 'संघ' का वाचक है। "पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये" (यजु स ३१ अ। ६ मं।) में आरण्य–ग्राम्यपशु का यदि कोई "जंगल में रहने वाले पशु एवं ग्राम में रहने वाले पशु" यह अर्थ करें तो विज्ञानदृष्टि से उक्त अर्थ सर्वथा अनर्थकोटि में गिना जायगा। "सिंहादि आरण्यपशु हैं, मृगादि ग्राम्यपशु हैं" यही अर्थ समीचीन होगा। बतलाना यही है कि

आध्यात्मिकसंस्था के लिए 'ग्राम' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं आधिदैविकसंस्था के लिए 'पुर' शब्द प्रयुक्त हुआ है। महाविश्वरूप ईश्वर का शरीर 'पुर' कहलाता है। पुर के सम्बन्ध से ही वह 'पुरुष' कहलाता है। एवं क्षुद्रशरीररूप जीव का विश्व 'ग्राम' कहलाता है। इसी ग्राम के सम्बन्ध से इसे 'निकाय' किंवा 'काय' कहा जाता है। अनेक वस्तुओं की समष्टि 'ग्राम' है, एवं अनेक ग्रामों की समष्टि 'निकाय' है। भूत पांच हैं, अतएव इन भूतों की समष्टि को हम 'ग्राम' कह सकते हैं। इसी प्रकार पांच देवताओं की समष्टिरूप देवग्राम भी ग्राम है, आत्मग्राम भी ग्राम है। शरीर में तीन ग्राम हैं, अत एव इसे 'निकाय' कहा जासकता है। यही 'निकायच्छन्द' है-(देखिए शत० ब्रा० ८।५।१।४।)। निकाय ही काय है, काय ही शरीर है। पृथिवी जल-तेज-वायु-आकाश यह सुप्रसिद्ध पांचों भूत ही भूतग्राम है, यही स्थूलशरीर है। इसी का दिग्दर्शन कराते हुए ऋषि कहते हैं—

"पञ्चात्मकमिति कस्मात्? पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशमिति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे का पृथिवी? का आपः? को वायुः? किमाकाशम्? इति। अस्मिन् पञ्चात्मके शरीरे तत्र यत् कठिनं सा पृथिवी, यद् द्रवं ता आपः यदुष्णं तत्तेजः, यत् संचरति स वायुः, यत् सुषिरं तदाकाशम्-इत्युच्यते"

(गर्भोपनिषत्)

अस्थि-मांसादि घन धातु पृथिवी है, कफ-लाला-स्वेद-मूत्र-रुधिर-रस आदि तरल धातु पानी है, शरीर को छूने से जिस ऊष्मा (गरमी) का अनुभव होता है वह तेज है। श्वास प्रश्वास वायु है, शरीर में जितना रिक्त (पोल) भाग है वह सब आकाश है यही तात्पर्य है। इसी आकाशने एक दूसरे भूतों को पृथक् बना रक्खा है। यदि व्यवधान (अन्तर) न होता तो सारे धातु मिलकर एकरूप होजाते। यह हड्डी है, यह मांस है, यह त्वचा है, यह भिन्न भिन्न नाम-रूप-व्यवहार नष्ट होजाते। इसी अभिप्राय से—'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता' यह कहा जाता है। वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन-इन पांचों इन्द्रियों की समष्टि ही देवग्राम

है । दार्शनिक ११ इन्द्रियों का इन्हीं वैदिक पांच इन्द्रियों में अन्तर्भाव[1] है । वाक् अग्निदेवता है, प्राण वायुदेवता है, चक्षु आदित्य है, श्रोत्र दिक्सोम है, मन भास्वरसोम है–(देखिए ९० उ० १ स०)। इन देवताओं के सम्बन्ध से ही इन्द्रियग्राम देवग्राम कहलाता है, इसी को सूक्ष्मशरीर कहते हैं । तीसरा है बीजग्राम । यह सब में प्रधान है, यही हमारा सुपरिचित 'शुक्र' है, । इस शुक्रग्राम किंवा बीजग्राम में विद्या–प्रज्ञा–कर्म यह तीन तत्व प्रतिष्ठित रहते हैं । ज्ञानजनित भावना संस्कार विद्या है, कर्मजनित वासना संस्कार कर्म है , चिदाधार तत्व प्रज्ञा है । यह भावना वासना संस्कार ही जन्म का हेतु है । अतएव एतद्रूप ग्राम को बीज–शुक्र आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है । यही जन्म स्थिति भंग का कारण है अतएव शुक्ररूप इस बीजचिति को कारणशरीर कहा जाता है । इसी विद्याकर्मरूप शुक्र को जन्म का आरम्भक माना जाता है । इसी अभिप्राय से "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" (शत० १४ कां० ७।२।३।) यह कहा जाता है । शुक्रगत प्रज्ञाभाग पर ही चिदंश का प्रतिबिम्ब पड़ता है । दूसरे शब्दों में चिदाभास (चित् का प्रतिबिम्ब) नाम से प्रसिद्ध जीवात्मा का जन्मदाता यही शुक्रगत प्रज्ञा (सोम) भाग है इसीलिए प्रज्ञामूर्ति इस शुक्र को आत्मग्राम कहा जाता है । पांच भूतों के सम्बन्ध से एक ही प्रज्ञा पांच भागों में विभक्त होजाती है । इस प्रकार ५ भूतमात्रा, ५ प्राणमात्रा, (इन्द्रिए), ५ प्रज्ञामात्रा – विद्या और कर्म–इन १७ वस्तुओं की राशि से यह आत्मा नित्य युक्त रहता है , जैसा कि अभियुक्त कहते हैं ।

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धैः स युज्यते ।
स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः ॥

(म० शान्ति० मो० २११ अ० १६ श्लो०)

बीज-देव-भूत की समष्टि आत्मप्रगति का कारण बनती हुई 'पद्म'[2] नाम से प्रसिद्ध है ।

१ इस विषय का विशद विवेचन शतपथब्राह्मणभाष्य में देखना चाहिए ।

२ 'यत्र आत्मा प्रपन्नो भवति तत् पद्मम्' इस निर्वचन के अनुसार आत्माओं का प्रपत्तिस्थान (निवासस्थान) ही 'पद्म' नाम से व्यवहृत हुआ है ।

इस पद से अतिरिक्त एक पुनःपद् और होता है इसे ही महिमा मण्डल कहा जाता है । उसमें भी वाक्—वेद—लोक भेद से तीन साहस्रियें होती हैं । वाक्साहस्री का सम्बन्ध शुक्रचिति से है, वेदसाहस्री का सम्बन्ध देवचिति से है, एवं लोकसाहस्री का सम्बन्ध भूतचिति से है । अव्यक्तात्मविवरणान्तर्गत शुक्रनिरुक्ति का पाठकों को स्मरण होगा । वहां हमनें वाक्—आप—अग्नि—की समष्टि को शुक्र बतलाया था—(देखिए ई० वि०भा० पृ० २४१) । इनमें वाक् का विकास स्वयं शुक्र है, आप का विकास भूतचिति है, एवं अग्नि का विकास देवचिति है । वाक्प्रधाना शुक्रचिति वाक्साहस्री की, अप्प्रधाना भूतचिति लोकसाहस्री की, एवं अग्निप्रधाना देवचिति लोकसाहस्री की जननी है । शुक्र ही वाक् भाग से शुक्र बनता है, आपभाग से भूत बनता है अग्निभाग से देवता बनता है । तीनों चितिएं, एवं एवं तीनों साहस्रिएं एकमात्र शुक्र का ही विवर्त है । तभी तो शुक्र को बीज—कारण—आर म्भक आदि नामों से व्यवहृत करना चरितार्थ होता है । इसप्रकार त्रिकल आत्मा, त्रिकल चिति, त्रिकल साहस्री भेद से 'पूर्णविराट् का स्वरूप सम्पन्न होजाता है । "न वै एकेनाक्षरेण छन्दांसि वियन्ति न द्वाभ्याम्" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार एक अक्षर अथवा दो अक्षर के कम अथवा अधिक होनें पर भी छन्द का स्वरूप नहीं बिगड़ता । यद्यपि दशाक्षर छन्द का नाम विराट् है तथापि एक अक्षर कम होनें पर भी विराट् का स्वरूप अक्षुण्ण रहता है । इसी नवाक्षर न्यून विराट् को 'निचृद् विराट्' कहा जाता है । "न्यूनाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते' (शत० ४।१।२०) के अनुसार नवाक्षर न्यून विराट् ही प्रजा की जननी है । सृष्टि साक्षी स्वयं अव्यय मन—प्राण—वाक् के त्रिवृद्भाव से नवकल है । अतएव उक्त क्रमानुसार इस का सप्तपद भी त्रिवृत् (नवकल) बनजाता है । त्रिकल आत्मा है, त्रिकल पद (पिण्ड) है, त्रिकल पुनःपद [महिमा] है । महिमा में पिण्ड है, पिण्ड के हृदय में आत्मा है, तीनों की समष्टि प्रजापति है ।

न्यूनविराट् प्रजापतिः (नवाक्षरविराट्)

१—१—अव्यय (मनः)
२—२—अक्षर (प्राण)
३—३—आत्मक्षर (वाक्)
} ————————— आत्मा हृदयस्य १

—•—

४—१—बीजचिति (वाक्—मन)—कारणशरीरम्
५—२—भूतचिति (आप प्राण)—स्थूलशरीरम्
६—३—देवचिति (अग्नि—वाक्)—सूक्ष्मशरीरम्
} —— शरीरं पद्म २

— —

७—१—वाक्साहस्री(अक्षर—मन) ९ १५ २१-३३
८—२—लोकसाहस्री(लोका—प्राण) पृ अ द्यौ आ
९—३—वेदसाहस्री (वेदा—वाक्) ऋ यजु सा अथ
} ——महिमा पुनःपदम् ३

} प्रजापतिः (जीवः)

——— ———

१—विद्या—१
२—कर्म—१
३—पूर्वप्रज्ञा—५
} ७—प्रज्ञामात्रा } बीजचितिः (शुक्रम्)

——o——

१—पृथिवी—१
२—जल—१
३—तेज—१
४—वायु—१
५—आकाश १
} ५—भूतमात्रा } भूतचितिः

——o——

१—वाक्—१
२—प्राण—१
३—चक्षु—१
४—श्रोत्र—१
५—मन—१
} ५—प्राणमात्रा (१७) } देवचितिः

——o——

} शरीरम्

रथिना——दृश्यक——सम

मुक्ति

१—अव्यय
२—अक्षर
३—आत्मक्षर

आत्मा

———o———

महिमारूप पुनःपद को महतोमहीयान् कहा जाता है, एवं सर्वान्तरतम सूक्ष्मतम आत्मतत्त्व के लिए 'अणोरणीयान्' कहा जाता है। महिमयुक्त शरीरत्रयी कर्मप्रधान है, आत्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान शान्त है, निष्क्रिय है। इस ज्ञानप्रधान आत्मा के लिए उपनिषदों में 'अकृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है, एवं कर्मप्रधान शरीर के लिए 'कृत' शब्द प्रयुक्त हुआ है। जब तक कृत का (शरीर का) आश्रय है, तब तक अकृत (आत्मा) बन्धन में है। कृत अकृत को कभी उपकृत नहीं कर सकता, जैसा कि—'नास्त्यकृतः कृतेन' इत्यादि उपनिषद्वचनों से स्पष्ट है।

उक्त तीनों चितियों में से बीजचिति ही जीवसृष्टि का कारण है, एवं यही ईश्वरसृष्टि का कारण है, यह कहा जाचुका है। इसी कारणता को बतलाने के लिए ऋषिने इस का नाम कारणशरीर रक्खा है। जबतक शुक्ररूप कारणशरीर है, तब तक न जीव की मुक्ति है, एवं न (मायाविमोकलक्षणा) ईश्वर की मुक्ति है। दूसरे शब्दों में शुक्र का अविवर्तन ही मुक्ति का कारण है। विज्ञानदृष्टि से शुक्र का स्वरूप देखिए। कारण ही बीज है। इसे शुक्र, काम, कर्म इन तीन शब्दों से पुकारा जासकता है। क्योंकि काम-कर्म-शुक्र तीनों की समष्टि ही बीजचिति है। यह तीनों सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं। दूसरे शब्दों में त्रिकल बीजचिति के बिना कोई भी सृष्टिकर्म संभव नहीं है। प्रत्येक सृष्टि में तीनों नित्य अपेक्षित हैं। सृष्टिकर्म का अव्यय के सृष्टिसाक्षी मन-प्राण-वाक् भाग से सम्बन्ध है। जब तक इन तीनों कलाओं का समन्वय नहीं होजाता, तबतक सृष्टि ही क्या, संसार का कोई भी कर्म नहीं होसकता। मन से काम का, प्राण से कर्म का, एवं वाक् से शुक्र का उदय होता है। इन तीनों में सृष्टि का पहिला बीज काम है, कर्म दूसरा बीज है, शुक्र तीसरा बीज है। ईश्वर जैसा चाहता है वैसा कर्म करता है, एवं उस कर्म से वैसी ही वस्तु उत्पन्न हो जाती है। "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा[१] यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहां हमें कर्मावस्थिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बन्धन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्याख्य है। काम कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (देखिए श्वे० उ० ५।१)। क्षर की प्रथम कला ही वस्तुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का वस्त्वाग्निरूप वसुभाव पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चितिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विकार बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१—मन —काममयम् (इच्छाशक्ति)—कामः (इच्छा)
२—प्राण —कर्ममयः (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तप)
३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आवरणम् (श्रम)
} अविद्यात्मक शुक्रम्

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के अपापोह्यपरूप धारा वश से जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है। ऐसे ही जीव—प्रात्यस्विक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग 'आधिकारिकजीव' का है। इसके प्राज्ञात्यस्विक-नियतकर्मात्यस्विक भेद से दो भेद हैं। प्राज्ञात्ययिक जीव जड़ हैं। सूर्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वरप्रभूत जड़ आधिकारिक जीव 'प्राज्ञात्यस्विक' हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्मात्ययिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विवर्त हैं। ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार-'आत्माभिमानीदेवता' नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्मात्ययिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियत कर्मात्यस्विकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं इसी अभिप्राय से नारायणावतार भगवान् व्यास कहते हैं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (शा॰ सू॰ ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रज्ञापराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से तत्सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग अवतीर्ण बनकर क्षुब्ध वातावरण को शान्त करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति देवभेद से विभक्त है। यद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

१ "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्", (शा॰ सू॰ २।१।५)। इस विषय का विस्तृत विवेचन शतपथ वि॰ भा॰ में देखना चाहिये।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

> यदा[1] यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत !
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्रकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मानुबन्धिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बन्धन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यामय है। काम कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है–(देखिए श्वे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अतएव शुक्रतत्व का वागग्निरूप यजुर्ब्रह्म पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चितिप्रकरण में हमनें वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विकास बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१–मन –काममयम् (इच्छाशक्ति)–काम (इच्छा)
२–प्राण –कर्ममय (क्रियाशक्ति)–क्रिया (तप)
३–वाक्–शुक्रमयी (अर्थशक्ति)–आवरणम्(श्रम)
} अविद्यात्मकं शुक्रम्

1. इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के आप्यायनरूप पाशबल से जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है। ऐसे ही जीव—आभ्यस्थिक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग 'आधिकारिकजीव' का है। इनके ब्रह्माभ्यास्थिक-नियतकर्माभ्यस्थिक भेद से दो भेद हैं। ब्रह्माभ्यस्थिक जीव जड़ हैं। सूर्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वराङ्गभूत जड़ आधिकारिक जीव 'ब्रह्माभ्यस्थिक' हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्माभ्यस्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विभाग हैं। ब्रह्म-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार-आत्माभिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्माभ्यस्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियतकर्माभ्यस्थिक जीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं इसी अभिप्राय से नारायणावतार भगवान् व्यास कहते हैं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रज्ञापराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से उस व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रकम्पित बनकर क्षुब्ध वातावरण को शान्त करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति देवभेद से विभक्त है। यद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

---

१ "अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (शा० सू० २।१।५)। इस विषय का विशद विवेचन ब्रह्मविज्ञान में देखना चाहिये।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंग ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्रासङ्गिक विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहां हमें कर्माकर्षिक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म विना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बंधन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यामय है। काम कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है—(देखिए श्वे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्व का प्रसाधिरूप यजुर्भाग पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के विनिमकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विश्व बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१—मन —काममय् (इच्छाशक्ति)—काम (इच्छा)		अविद्यात्मकं शुक्रम्
२—प्राण —कर्ममय (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तप)		
३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आवरणम्(श्रम)		

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रकारों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसंस्कार के आवापोद्वापरूप धारा बल से जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है। ऐसे ही जीव—प्रत्यवस्थित जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग 'आधिकारिकजीव' का है। इनके प्रत्याश्वस्थिक-नियतकर्माश्वस्थिक भेद से दो भेद हैं। प्रत्याश्वस्थिक जीव जड़ हैं। सूर्य-परमेष्ठी-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र आदि ईश्वराङ्गभूत जड़ आधिकारिक जीव 'प्रत्याश्वस्थिक' हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्माश्वस्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विभाग हैं। ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र-इन्द्र-वरुण-कुबेर-अग्नि-वायु-सोम-गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार-आत्माभिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं) नित्य नियतकर्माश्वस्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम-कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियतकर्माश्वस्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं, इसी अभिप्राय से नारायणावतार भगवान् व्यास कहते हैं—"यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के प्रज्ञापराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से तत्सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रवर्ग्य बनकर क्षुब्ध वातावरण को शान्त करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति त्रयभेद से त्रिभक्त है। तद्विषयक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

१ ' अभिमानि व्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्, (शा सु २।१।५)। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ हि भा. में देखना चाहिये।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को लक्ष्य में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।[1]
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्रासङ्गिक विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहाँ हमें कर्मात्मक चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बन्धन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यामय है। काम कर्म-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमय विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है— (देखिए श्वे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही यजुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का प्राणाग्निरूप यजुर्भाव पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के चितिप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही अग्नि आकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विश्व बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१—मन —काममयम् (इच्छाशक्ति)—काम (इच्छा)	अविद्यात्मक शुक्रम्
२—प्राण —कर्ममयः (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तप)	
३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आवरणम्(श्रम)	

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

व्यूह' (कर्मव्यूह) नाम से प्रसिद्ध है। अनेक प्रक्रमों से एक अभिक्रम का, अनेक अभिक्रमों से एक व्यूह का स्वरूप बनता है। यह कर्मव्यूह संस्काररूप से आत्मा में प्रतिष्ठित रहता है। निवृत्तिक्रम से प्रारब्ध अभिक्रम कर्म को छोड़कर शेष सारा कर्मव्यूह निवृत्त होजाता है। प्रारब्धकर्मरूप अभिक्रम कर्म की भोग से ही निवृत्ति होती है—"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति"। कहना यही है कि कर्मासक्त मनुष्य कर्मव्यूह से उत्पन्न कर्मसन्तान के व्यापपोहरूप भार वश से जन्म मरण के चक्र में फंसा रहता है। ऐसे ही जीव—प्रात्यस्थिक जीव कहलाते हैं। दूसरा विभाग 'आधिकारिकजीव' का है। इनके प्रज्ञानात्यस्थिक-नियतकर्मात्यस्थिक भेद से दो भेद हैं। प्रज्ञानात्यस्थिक जीव जड़ हैं। सूर्य-परमेष्ठी—चन्द्रमा-पृथिवी—नक्षत्र आदि ईश्वरांशभूत जड़ आधिकारिक जीव 'प्रज्ञानात्यस्थिक' हैं। यह अपने अपने नियत अधिकार से अधिकृत हैं। नियतकर्मात्यस्थिक जीव चेतन हैं। इन के भी नित्य-सामयिक भेद से दो विभाग हैं। ब्रह्म—विष्णु-रुद्र-इन्द्र—वरुण—कुबेर—अग्नि—वायु—सोम—गन्धर्व आदि चेतन देवता (जो कि देवताविज्ञान के अनुसार—आत्माभिमानीदेवता नाम से प्रसिद्ध हैं)[1] नित्य नियतकर्मात्यस्थिक जीव हैं। इन देवताओं के अवतार, एवं राम—कृष्ण आदि अवतार सामयिक नियत-कर्मात्यस्थिकजीव हैं। जिस उद्देश्य से अवतार होता है, उद्देश्य समाप्ति के अनन्तर अवतार पुरुष लीलासंवरण कर जाते हैं इसी अभिप्राय से भारायणावतार भगवान् व्यास कहते हैं— "यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम्" (शा० सू० ३।३।३२।)।

प्राकृतिक नियमों में मनुष्यसमाज के अपराध से जब परिवर्तन होने लगता है तो प्रकृति क्षुब्ध हो पड़ती है। इस क्षोभ के आघात से तत्सम्बद्ध व्यापक चिदात्मा का एक भाग प्रकम्पित बनकर क्षुब्ध वातावरण को शान्त करने के लिए जीव बनजाता है। यही आधिकारिकजीव अवतार कहलाता है। प्रकृति देशभेद से विभक्त है। यद्भूमिपरक क्षोभ होता है, तत्प्रधान ही

---

१ "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" (शा० सू० २।१।५)। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ वि० भा० में देखना चाहिये।

अवतार होता है। प्राकृतिक नियमसंघ ही धर्म है, धर्मविप्लव ही अवतार का कारण है। इसी अवतारविज्ञान को हृदय में रखकर पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध अव्ययपुरुष के अवतारभूत अत एव पुरुषोत्तम नाम से ही उपगीत, अतएव पूर्णावतार भगवान् कृष्ण कहते हैं—

> यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
> परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
> धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥ (गीता० ४।७-८)।

अस्तु इस अप्राकृत विषय को हम अधिक बढ़ाना नहीं चाहते। यहां हमें कर्माधिकृत चेतन जीवों के विषय में कहना है। संस्कार कर्मरूप हैं, कर्म बिना कामना के असंभव हैं। कामना से कर्म होता है, तज्जनित संस्कारपुञ्ज ही शुक्र है, यही बीज है। पूर्वसंचितशुक्र [कर्म] का भोग होता रहता है, आगे आगे नवीन नवीन संचय होता रहता है। आसक्तिभावना से जीव बन्धन में आजाता है, अनासक्तयोगी ईश्वर 'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। मनप्राणवाक् की समष्टि अविद्यामय है। काम-तप-शुक्र कहो अथवा अविद्या कहो, एक ही बात है। इसी आधार पर काम-कर्म-शुक्रमूल विश्व को अविद्यामूल कहा जाता है। अक्षर विद्या है, क्षर अविद्या है—(देखिए श्वे० उ० ५।१)। क्षर की प्राण कला ही वायुरूप में परिणत होती है, ऐसी स्थिति में अन्ततोगत्वा शुक्रतत्त्व का अग्निरूप वायुतत्त्व पर ही पर्यवसान मानना पड़ता है। शुक्र को पूर्व के त्रिविधप्रकरण में हमने वाक्प्रधान बतलाया है। यह वाक् ही आगे जाकर आप-अग्निरूप में परिणत होती हुई विश्व बनजाती है। इसी आधार पर पूर्व की शुक्र निरुक्ति में शुक्र शब्द से वाक्-आप-अग्नि तीनों का ग्रहण किया है।

१—मन —काममयम् (इच्छाशक्ति)—कामः (इच्छा) २—प्राण —तपमय (क्रियाशक्ति)—क्रिया (तपः) ३—वाक्—शुक्रमयी (अर्थशक्ति)—आवरणम् (श्रमः)	अविद्यात्मक शुक्रम्

१ इस विषय का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के आचार्य रहस्य में देखना चाहिए।

आप के समान शरीर में काम है, कर्म भी है, शुक्र भी है। परन्तु इन तीनों के अव यव ही कार्यरूप में परिणत होते हैं, इच्छा—कर्म—शुक्र तीनों का नियत भाग ही उपादान बनता है। यही परिस्थिति मायावच्छिन्न महेश्वर के शरीर में समझिए। ईश्वर के किसी नियत प्रदेश में ही सृष्टिमूला कामना का उदय होता है, उसी प्रदेश में कर्म का उदय होता है, एवं वही शुक्र विश्व का उपादान बनता है। ईश्वर का शरीर गोलाकार है, वह सर्वतः पाणिपाद, सर्वतोऽक्षिशिरोमुख है। जहां तक महेश्वर व्याप्त है वहीं तक ब्रह्मरूप शुक्र, एवं सुब्रह्मरूप रेत व्याप्त है। वह कामनाओं का समुद्र है। कामभेद से कर्म कर्मभेद से शुक्रभेद होजाता है। नियतकाम-कर्मावच्छिन्न नियतशुक्र नियतविश्व का उपादान बनता है। उस में कामनाभेद से अनन्त शुक्र हैं। जितने शुक्र हैं उतने ही विश्व हैं। एक एक विश्व का उत्पादक एक एक शुक्र है। अनन्त ब्रह्माधिष्ठाता महेश्वर अरबत्थ प्रजापति है। उसका पत्रपत्र एक एक विश्व एक एक पद्मपुण्डरीक ब्रह्माण्ड बनता है। व्यापक अमायी परात्पर में माया के उदय से महेश्वर का उदय होता है। माया अनन्त हैं, अतएव मायीमहेश्वर भी अनन्त हैं। प्रत्येक मायी महेश्वर (अश्वत्थ) के उदर में अनन्त ब्रह्माण्ड हैं। परात्पर एक है, आगे का सारा प्रपञ्च अनन्त है। यद्यपि परात्पर भी अनन्त है परन्तु इस की अनन्तता दिग्देशकालावच्छेद से सम्बन्ध रखती है, महेश्वरादि की अनन्तता संख्या से सम्बन्ध रखती है। इस प्रकार वह सर्व विभूति अनन्त है, सत्य है, ज्ञानमूर्ति है— 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म"। परात्पर असीम है। इसी असीमभाव को सूचित करने के लिए उसे परात्पर (ससीम पर नामक अव्यय से भी पर—असीम) नाम से व्यवहृत किया जाता है। जिस प्रकार एक पट (वस्त्र) में ससीम अनन्त गोलाकार बिन्दुएं प्रतिष्ठित रहती हैं, एवमेव उस असीम परात्पर पटतल में गोलाकार अनन्त मायी महेश्वर प्रतिष्ठित हैं। इस विषय का विशद विवेचन ईशभाष्य प्रथम खण्ड में विस्तार से किया जाचुका है—(देखिए ई भा प्र २६२ से २६४)। प्रत्येक मायी महेश्वर अश्वत्थमूर्ति है। अश्वत्थ ऊर्ध्वमूल माना जाता है। वर्तुलवृत्त का केन्द्र ग्रंथि (परिधि) से ऊर्ध्व माना जाता है। उस ऊर्ध्वमूलरूप केन्द्र बिन्दु से चारों ओर ग्रंथि पर्यन्त सहस्र शाखाएं निकली

हैं। प्रत्येक शाखा में स्वयम्भु, परमेष्ठी, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा यह पांच पांच पुण्डीर (पव-पोर) हैं। उपक्रम में पुण्डीर स्वयम्भू है, उपसंहार में चन्द्रमा है, अतएव चान्द्रमसा को 'निधन' (अवसानस्थानीय) कहा जाता है। यही सब भाव मायी महेश्वर के स्वरूप परिचायक हैं। यही परिस्थिति इतर महेश्वरों की समझनी चाहिए। तीसरा विवर्त मध्येश्वर का है। स्वयम्भू की महिमा में समष्टिम परमेष्ठी परमेष्ठी की महिमा में समष्टिम सूर्य, सूर्य की महिमा में समष्टिम पृथिवी, एवं पृथिवी की महिमा में समष्टिम चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। यही स्वयम्भू सप्तलोकाधिष्ठाता ईश्वर प्रजापति है—(देखिए ई वि प्र १७८)।

अब तक के सन्दर्भ से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि मायी महेश्वर में सर्वत्र एकरूप से यजुब्रह्म भरा हुआ है। महेश्वर का कोई भी प्रदेश इस से शून्य नहीं है। एवमेव उसी प्रदेश में सुब्रह्म आप (सोम) भरा हुआ है, इससे भी कोई स्थान रिक्त नहीं है। दोनों ही मायावच्छेदेन महेश्वर की तरह व्यापक हैं। इस व्यापक महेश्वर के धरातल पर प्रतिष्ठित व्यापक ब्रह्म-सुब्रह्म के जिस प्रदेश में कामना का उदय होता है उतने प्रदेश में कर्मजनित क्षोभ से एक नया सीमाभाव उत्पन्न होता है। महामाया के उदर में उत्पन्न होने वाले इसी सीमाभाव को 'योगमाया' कहा जाता है। इसकी जननी महामाया (पुरुषा) है। महामाया के अधिष्ठाता विष्णु हैं, अतएव तन्मूर्छित योगमाया को—"योगमाया इदं वैष्णवं तया संमोहितं जगत्" इत्यादि रूपसे विष्णुमाया कहा जाता है। कामजनित सीमापरिच्छिन्न (योगमायावच्छिन्न) उस नियत प्रदेश से परिच्छिन्न वह यजुब्रह्म (यजुब्रह्म का अंश) ही सृष्टि की योनि बनता हुआ शुक्र नाम धारण करलेता है, एवं उसी सीमित प्रदेश का सुब्रह्म (आप) भाग रेत नाम धारण करलेता है। ब्रह्मात्मकशुक्र में इसी सुब्रह्मात्मकरेत का रेतोधा मातरिश्वा द्वारा आधान होता है।

'अनेजदेकम्०' का अर्थ करते समय हमने सुब्रह्म (आप) शुक्र ब्रह्म को शुक्र बतलाया था, यहां केवल यजुर्ब्रह्म को तो शुक्र, एवं सुब्रह्म को रेत बतलाया जारहा है। वहां शुक्र-रेतरूप ब्रह्म में सुब्रह्म की समष्टि को शुक्र बतलाने का कारण यह था कि साधारण मनुष्य शुक्र

यों की उत्पत्ति का कारण समझते हैं। इन की दृष्टि में शुक्र शब्द का अर्थ उपादानकारण है, एवं यह दृष्टि किसी सीमा तक ठीक भी कही जासकती है। उपादान न केवल रस है न केवल शुक्र। अपि तु दोनों की समष्टि उपादान है। इसी साधारण दृष्टि का आश्रय करते हुए, शुक्र का उपादान अर्थ मानते हुए हमनें दोनों के समुच्चय को यहां शुक्रशब्द से व्यवहृत करदिया था। वस्तुतः विज्ञानभाषा शुक्र केवल अग्नि का वाचक है, एवं रेत केवल सोम का वाचक है। इस रेत का आधान हुआ, इससे स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न हुआ। यही शुक्रमूला सृष्टि का पहिला रूप है। यह व्योमावच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू है, 'अनेजदेकम्०' वाला महाव्योमावच्छिन्न, महेश्वर के रूप से समतुलित व्यापक स्वयम्भू था। वह एक है, पुण्डीर स्वयम्भू अनन्त (सहस्र) हैं। इस व्योममायावच्छिन्न ससीम पुण्डीर स्वयम्भू से ही परमेष्ठी का उदय होता है। यही शुक्रमूला सृष्टि का दूसरा रूप है। स्वयम्भू में यद्यपि आप भी है, परन्तु वहां प्रधानता प्राण की ही है। प्राण असंगतत्त्व है, असङ्गप्राण मैथुनीसृष्टि का कारण नहीं बनता। ऐसी परिस्थिति में प्राणमय स्वयम्भू को भी वास्तविक उपादान नहीं माना जासकता। सृष्टि का वास्तविक उपादान तो संसर्गधर्मा आपोमय परमेष्ठी ही है। अतएव शुक्र (उपादान कारण सूचक) शब्द का पर्यवसान परमेष्ठी पर ही मानना पड़ता है। यही इस शुक्रमूर्ति परमेष्ठी की महत्ता है। इसे 'महान्' कहा जाता है। यदि सृष्टि पर्वों की महत्ता का विचार किया जाता है तो सामान्य दृष्टि से अव्यक्त स्वयम्भू को ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् (सबसे बड़ा) मानना युक्तिसंगत होता है। परन्तु वैज्ञानिकों ने अव्यक्त को महान् न कहकर परमेष्ठी को महान् कहा है। सचमुच परमेष्ठी ही सब पर्वों की अपेक्षा महान् है। प्राणमूर्त्ति स्वयम्भू प्रजापति प्राण की सर्वता-महत्ता इसी आपोमय परमेष्ठी पर निर्भर है। परमेष्ठी के दर्शपूर्णमास से ही पुण्डीर स्वयम्भू का स्वरूप निष्पन्न होता है। यहीं से व्यापकत्व सर्व बनता है, तदनन्तर प्राण को सर्वता का अवसर मिलता है। पानी ही प्राण की प्रतिष्ठा है— 'आपोमयः प्राणः'। अध्यात्मसंस्था में जबतक शरीर में अप्तत्त्व प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक प्राण समरूप से प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि—''यावद्ध्यस्मिन्नापो भवन्ति तावद्प्राणा,

वदति" (शत० ५।३।५।१६) इत्यादि श्रौतवचन से स्पष्ट है । प्राणापेक्षया पानी की यही महत्ता है । पानी के गर्भ में प्राण प्रतिष्ठित रहता है, पहिले "आपो वा इदं सर्वम्" है, अनन्तर 'प्राणो वा इदं सर्वम्' है,-(देखिए ई० मि० मा० पृ० १५)। मातरिश्वा वायु के वेष्टन से ही अव्यक्त स्वयम्भू का उदय हुआ है । यह मातरिश्वा वायु-आप का ही एक अंश है । इसलिए भी प्राणमय स्वयम्भू की अपेक्षा आपोमय परमेष्ठी को महान् कहा जासकता है । वैकारिक विश्व का उपादान भी यही है, इसलिए विश्वापेक्षया भी यही महान् है । अव्यक्त अमूर्त था, यह मूर्त है (मूर्तिरेव रयि -प्रश्नो. १) । सारी मूर्तिएं, दूसरे शब्दों में मूर्त जगत् इसी रयिप्रधान परमेष्ठी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है । आप कहेंगे मायी महेश्वर सब की अपेक्षा महान् है ऐसी अवस्था में विश्वसीमा में महेश्वर को छोड़कर परमेष्ठी आदि को कैसे महान् कहा जा सकता है ! हम कहेंगे आप भूलते हैं । केवल माया से ही महेश्वर (अव्यक्त) का विकास नहीं होता, सृष्टिधारा में आते समय उसे भी इसी का आश्रय लेना पड़ता है । आत्मपुरुष इसी में गर्भधारण करता है, इसी से आगे की मूर्तिसृष्टि होती है । आप के आप-वायु-सोम यह तीन विवर्त हैं । चेतना आगमन के यही तीन द्वार हैं । अतएव विश्व में आप्य-वायव्य-सौम्य तीन ही प्रकार की जीवसृष्टि उपलब्ध होती है। इस जीवसृष्टि का अधिष्ठाता भी आपोमय परमेष्ठी ही है । इसप्रकार ईश्वर-जीव-विश्व सब कुछ इसी के आश्रित हैं-'सर्वमापोमयं जगत्'। परमेष्ठी के इसी महत्त्व को लक्ष्य में रखकर ऋषियों ने इसे 'महानात्मा' नाम से व्यवहृत किया है । इसी महद्ब्रह्म की महत्ता का निरूपण करती हुई स्मृति कहती है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥ (गीता१४।३-४)।

पञ्चपर्वा विश्व के अमृत–मृत्यु भेद से दो विभाग हैं । सूर्य से ऊपर का प्रपञ्च अमृत विभाग है, सूर्य से नीचे का प्रपञ्च मृत्यु विभाग है । अव्ययपुरुष सर्व अमृतरूप है । इस का विकास सूर्य पर्यन्त रहता है । दूसरे शब्दों में अक्षर की प्रधानता सूर्य तक (सूर्य के अमृताग्नि नामक प्राणाग्नि तक) है । सूर्यबिम्ब से आरम्भ कर नीचे के सारे मर्त्य विश्व में क्षर का साम्राज्य है । क्षर को 'ब्रह्म' कहा जाता है । यह अक्षर अनेकधा विभक्त है विविध भावों से आक्रान्त है । इस बहुरूप क्षरकूट पर एक अक्षर प्रतिष्ठित है । विशुद्ध अक्षर नहीं, अपि तु महद्ब्रह्म युक्त अक्षर । क्योंकि क्षरसृष्टि का उपादान शुक्ररूप परमेष्ठी नामक महद्ब्रह्म ही है । यह सूर्य से ऊपर रहता हुआ अमृत प्रधान बनकर अमृताक्षर कोटि में प्रविष्ट मान लिया जाता है । इस विभाग के अनुसार षोडशीपुरुष, अव्यक्त (स्वयम्भू) महान् (परमेष्ठी) इन तीन का एक स्वतन्त्र अमृत विभाग होजाता है। एवं सूर्यपिण्ड चन्द्रपिण्ड-पृथिवीपिण्ड इन तीन का एक स्वतन्त्र मर्त्य विभाग होजाता है । । इस प्रकार एक ही शुक्र तत्त्व अमृत मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त होजाता है, जैसा कि पूर्व की शुक्रनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है । इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर—"भूतं भविष्यत् प्रस्तौमि बहुब्रह्मैकमक्षरं, महद्ब्रह्मैकमक्षरम्" यह कहा जाता है ।

१—षोडशीपुरुष २—अव्यक्त स्वयम्भू ३—परमेष्ठी महान्	अमृतम्—१	प्रजापति
—०—		
१—सूर्यपिण्डम् २—चन्द्रपिण्डम् ३—भूपिण्डम्	मर्त्यम्—२	

हमारा 'स पर्यगात्०' मन्त्र शुक्ररूप इसी महद्ब्रह्म का निरूपण करता है । शुक्रपदार्थ बड़ा जटिल है, यह पूर्व के शुक्रनिरूपण से विदित हुआ होगा । इस की यह जटिलता यहीं

समाप्त नहीं होजाती । अभी इस संबन्ध में और भी कुछ वक्तव्य है। यजुर्ब्रह्म शुक्र है, यह पहिला पक्ष है । काम-कर्म-शुक्ररूप अविद्यावत्व शुक्र है, यह दूसरा पक्ष है । ब्रह्म-सुब्रह्म की समष्टिरूप महद्ब्रह्म शुक्र है, यह तीसरा पक्ष है । वाक् आप अग्नि-अग्नि-आप-वाक् मेद से शुक्र ६ हैं, यह चौथा पक्ष है । अपेक्षा भेद से चारों भिन्न भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु परमार्थत सब समानार्थक हैं । पूर्व की शुक्रनिरुक्ति में हमनें चौथे पक्ष को ही प्रधानता दी है, एव इस प्रकरण में शेष तीनों पक्षों को प्रधान माना गया है । अब इन चारों का समन्वय कर इस अधिकरण को समाप्त करना है ।

सब का मूल विद्या-कर्ममय अव्ययपुरुष है, यह निर्विवाद है । आनन्द-विज्ञान-मन का समुच्चय विद्याभाग है, यही अमृत है । मन प्राण-वाक् का समन्वितरूप कर्मभाग है, यही अविद्या है, यही मृत्यु है । दोनों की समष्टि विश्व है । विश्व का मूल शुक्र (उपादान) विद्याकर्म ही है, यही अविद्यारूप पहिला शुक्र है । परन्तु कैसा विद्याकर्म ? विशुद्ध नहीं, अपितु वेदरूपतया-वच्छिन्न विद्याकर्म । यत् रूप मृत्यु, जू रूप अमृत ही (यजुर्ब्रह्म) ही संसार का शुक्र है । यह शुक्र पूर्वकथनानुसार मन प्राण-वाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय के वाक् भाग का ही विकास है । अव्ययवाक् ही वेदरूप में परिणत होती है । महासत्यापन्न वाक् वाक् है, सत्यासत्यापन्न वाक् वेद है, अतएव अन्यस्ताधिकरण में इस वेद को 'ब्रह्मनिःश्वसित' कहा है । निष्कर्ष यही हुआ कि अव्ययवाक् का विकासरूप, अतएव वाक् नाम से प्रसिद्ध अमृत-मृत्युरूप स्वयम्भुव ब्रह्म नि श्वसित वेद ही (जिसे कि इस शुक्रप्रकरण में 'वाक्शुक्र' कहा गया है) प्रथमज एव प्रतिष्ठारूप शुक्र है । यही इस की दूसरी अवस्था है। इसी पर प्रतिष्ठित होकर ब्रह्म (वेद) वेद आदर सृष्टि के अधिष्ठाता बनने में समर्थ होते हैं, जैसा कि मुण्डकोपनिषत् के—"ब्रह्मा देवा नां प्रथमः सम्बभूव" इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट किया गया है । यह रूपा वाक् पहिला शुक्र है । "एकाकी न रमते सद् द्वितीयमैच्छत्,पतिश्च पत्नीच" के अनुसार वाक् का (वद् का) ही पुरुष भाग पानी बन जाता है । यही आप (जिस में कि आप-वायु आदि परमेष्ठ

है) पत्नी है। वह सत्य था, यह ऋत है। इन दोनों की समष्टि ही शुक्र की तीसरी अवस्था है। 'तद् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' के अनुसार ब्र. नि वेद अपूर्व को उत्पन्न कर इस के भीतर प्रविष्ट हो जाता है। इसी से पुरुषीरसमम्भू का जन्म होता है। चारों ओर आपोमय परमेष्ठी व्याप्त है, बीच में वेदत्रयी प्रतिष्ठित है। जाप में जो अङ्गिरामाग है उस की अग्नि-वायु आदित्य यह तीन अवस्थाएं बतलाई गई हैं। यह अङ्गिरात्रयी आगे जाकर "गायत्रीमात्रिकवेद"रूप में परिणत होती है। अङ्गिराग्नि गायत्र नाम से प्रसिद्ध है, अतएव तद्रूप वेद को 'गायत्रीमा०' कहना न्यायप्राप्त है। सृष्टि यज्ञमूला है। यज्ञ की प्रथम विकास भूमि आप शुक्र है। अपने ही अङ्गिरा भाग से यह आपउत्पन्न उक्त वेदरूप से प्रादुर्भूत होता है। अङ्गिरात्रयी अग्नि है, भृग्वत्रयी सोम है। दोनों का सम्मिलित रूप यज्ञ है—"दुग्ध्र ह वा असि दुर्धरमग्नमद्ध साम महद्यज्ञम्" । यही यज्ञात्मक चौथा शुक्र है।

प्रकारान्तर से देखिए। स्वायम्भुवी वाक् पहिला शुक्र है, पारमेष्ठ्य आप दूसरा शुक्र है, सौर अग्नि तीसरा शुक्र है। तीनों ही अमृत मृत्यु भेद से दो दो मार्गों में विभक्त होते हुए षट्शुक्र संपत्ति के सम्पादक बनजाते हैं। उत्तर उत्तर की सृष्टि में पूर्व पूर्व के शुक्र अनुस्यूत रहते हैं। ऐसी अवस्था में सर्वत्र छः शुक्रों की सूक्ष्मावस्था मानने पर भी विकास क्रमिक ही माना जायगा। स्वयम्भू केवल वाङ्मय है। परमेष्ठी स्वयम्भू के उदर में है, इसलिए यह सत्यरूप से से आपोमय बनता हुआ वाक् के आगमन से वाङ्मय भी है। सूर्य में अमृताग्नि—मर्त्याग्नि के साथ साथ म.क्—आप का भी सम्बन्ध है, क्योंकि सूर्य परमेष्ठी के गर्भ है। इधि क्रमानुसार पृथिवी और सूर्य के गर्भ में प्रतिष्ठित अन्तरिक्षस्थानीय चन्द्रमा में पांच शुक्र हैं। एवं इधि क्रमानुसार (साथ ही में इस पार्थिव प्राणियों की अपेक्षा से स्थिति क्रमानुसार भी) सबसे अन्त में मानी जाने वाली पृथिवी में ६ वों शुक्रों का योग होरहा है, जैसा कि आगे के परिलेखों से स्पष्ट होजाता है।

१–स्वयम्भू –वाङ्मय ।–वाक् १

२–परमेष्ठी–वाङ्मय (1), आपोमय (2) ।–आप २

३–अमृतसूर्य –वाङ्मय (1), आपोमय (2), अमृताग्निमय (3) –अग्नि ३

४–मर्त्यसूर्य –वाङ्मय (1), आपोमय (2), अमृताग्निमय (3) मर्त्याग्निमय (4), –अग्नि ४

५–चन्द्रमा –वाङ्मय (1), आपोमय (2), अमृताग्निमय (3), मर्त्याग्निमय (4), मर्त्यापोमय (5) –आप ५

६–पृथिवी–वाङ्मयी (1) आपोमयी (2), अमृताग्निमयी (3), मर्त्याग्निमयी (4), मर्त्यापोमयी (5),

मर्त्यवाङ्मयी (6)–वाक् ६

शुक्र में आप का भाग है, अन्तर्गर्भित अग्नि का भाग है, समष्टि महद्ब्रह्म है। महद्ब्रह्म में अव्यक्त स्वयम्भू प्रतिष्ठारूप से प्रतिष्ठित है। मातरिश्वा वायु इस शुक्र के चारों ओर व्याप्त है। अभी सृष्टि निष्पन्न नहीं हुआ है। केवल मातरिश्वा द्वारा सृष्टि के बीजभूत महद्ब्रह्मरूप शुक्र का आविर्भाव हुआ है। यही आगे विश्व बनने वाला है। हमारा औपनिषद मन्त्र इसी विशुद्ध शुक्र का निरूपण करता है। मन्त्रार्थ सम्बन्धी उपकरणों का निरूपण समाप्त हुआ। अब मन्त्रार्थ की ओर प्रिय पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

मन्त्रार्थप्रकरण



म सुब्रह्म की समष्टिरूप उस शुक्र को (सर्वव्यापक आदित्यरूप शुक्र को) मातरिश्वा वायुने चारों ओर से घेर लिया। इस परिच्छेद से ही यह शुक्र (जिसे कि अर्णव वायु रूप, अतएव आपोमय महद्ब्रह्म के अन्तर्भूत होने से हम 'पाद्ब्रह्म' नाम से व्यवहृत करेंगे) सृष्टि का कारण बनता है। शुक्र एक विजातीय धर्म, एक शुक्र सजातीय धर्मा के

सम्मिश्रण से ही शुक्र सृष्टि का कारण बनता है। क्योंकि इन्हीं धर्मों के संसर्ग से शुक्र में आपस्त्व, मर्त्यत्व, स्नाविरत्व अणुद्रव, पाप्मविद्धत्व आदि भावों का उदय होता है। सजातीय पदार्थों का समान आपमात्र है, विजातीय पदार्थों का योग होजाना ही मर्त्यत्व है, इन धर्मों का सम्बन्ध कराने वाला सूत्र स्नायु है। इन तीनों भावों से युक्त अपने शुद्धरूप से विशुद्धावस्था में आया हुआ पाप्मविद्ध बनजाता है। जबतक शुक्र में उक्त चारों भावों का उदय नहीं होता, तबतक वह सृष्टिमर्यादा से बाहर की वस्तु है। अध्यात्मसंस्था में आप शुक्र के उक्त चारों धर्मों का साक्षात्कार कर सकते हैं। पार्थिव–आन्तरिक्ष्य–सौर तीनों सजातीय अग्नियों की (शुक्र अग्निरूप है, इसलिए अग्नि सजातीय है) इसी शुक्र पर चिति हो रही है। यह अग्निचिति ही 'काय' (शरीर) है। काय की मूलभित्ति शुक्र ही है। शुक्र ही आधान के अनन्तर गर्भरूप में परिणत होकर क्रमशः वर्द्धित होकर शरीररूप में परिणत होता है। इसलिए हम शुक्र को 'अकाय' कहने के लिए तय्यार हैं। विजातीय सोम का भी इस अग्निरूप शुक्र के साथ सम्बन्ध हो रहा है। सोम सम्बन्ध से ही तो योनि में आहुत शुक्र 'पुत्र' रूप में परिणत होता है। सोम से ही पुत्र 'सून' कहलाता है। यह विजातीयभाव ही शुक्र का मर्त्यत्व है। सोम स्नेह तत्व है। स्नेह द्रव्य में दूसरे के साथ चिपकने का स्वाभाविक धर्म है। जो सूत्र यह काम करता है (सोम में प्रतिष्ठित) वही सूत्र विज्ञानभाषा में–'श्रद्धा' नाम से प्रसिद्ध है। इसी तन्तुभाव के कारण भाषा में 'तनय' 'सन्तान' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। इसी सूत्र के आधार पर पुत्रात्मा के शुक्ररूप महानात्मा के साथ अपने पुत्र-पौत्रादि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। इसी के द्वारा पुत्र पितृलोकस्थ पितर को पिण्डदान द्वारा तृप्त किया करता है। "सापिण्ड्यं साप्तपौरुषम्" 'सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते'[1] के अनुसार सातों भावों पर यह सूत्र विभक्त होजाता है। इसी सम्बन्ध के सम्बन्ध से यह शुक्र स्नायुयुक्त बनता हुआ 'स्नाविर' कहलाने लगता है। चौथी है

१ इस विषय का विशद विवेचन [illegible] देखना चाहिए।

संस्काररूपा अविद्या। इसी को 'पूर्वप्रज्ञा' भी कह सकते हैं। इससे यह शुक्र विद्ध रहता है। अविद्या पाप्मा (मल) है। इस अविद्यारूप पाप्मा से विद्ध होकर ही यह शुक्र प्रजोत्पत्ति का कारण बना है। जबतक कामना पूर्वक कर्म किया जाता है, तब तक यह वासनारूप अविद्यासंस्कार से युक्त रहता है, एवं तभीतक प्राणी शुक्र के चक्र से विमुक्त नहीं होता। ऋषि कहते हैं कि यद्यपि शुक्र कायत्वादि धर्मों से युक्त है, शुक्र का शुक्रपना कायत्वादि आगन्तुक धर्मों से ही परिताप होता है तथापि इसकी जो मौलिक-प्रारम्भिक प्रातिस्विक अवस्था है, वह कायत्वादि चारों धर्मों से रहित है। जिस समय सृष्टिकामुक प्रजापति की (सप्तपुरुषपुरुषात्मक प्रजापति की) कामना से उस शुद्ध शुक्र को मातरिश्वा चारों ओर से घेरता है, उस समय वह अपने शुद्धरूप में है। अभी न उसमें सजातीय समूह है, न विजातीयभाव का सम्बन्ध है, न स्नायुभाव का उदय है, न अविद्यारूप पाप्मा का ही वेध है। यद्यपि मातरिश्वा की कृपा से आगे चलकर ही यह उक्त चारों सजातीय-विजातीय धर्मों से अवश्य ही युक्त होने वाला है, परन्तु आरम्भदशा में तो यह सर्वथा अकाय-अव्रण-अस्नाविर-अपापविद्ध-अतएव सर्वथा शुद्ध ही है। मातरिश्वा के सम्बन्ध से कायत्वादि धर्मों से क्यों युक्त होजाता है? इसका उत्तर मातरिश्वा से पूछिए। मातरिश्वा कवि है, परिभू है, स्वयम्भू है। मातरिश्वा वायु को हमने मार्गव (भृगु) वायु कहा है। भृगु कवि है, अतएव मार्गव मातरिश्वा को कवि कहा गया है। जन्ममरण धर्म से आक्रान्त विविधभावमय विश्व इसी मातरिश्वा का काव्य (कृति) है। यदि रेतोधा मातरिश्वा ब्रह्म में (योनि में) आप (रेत) का आधान न करता तो विश्व का निर्माण असम्भव था। कवि मातरिश्वा के द्वारा होने वाले रेत के आधान से ही मर्त्य विश्व की उत्पत्ति हुई है। कल तक जो मनुष्य हसता खेलता था, वह आज मरगया। अब त्रैलोक्य में उस स्वरूप का पता नहीं है। यही उस कवि का महाकाव्य है। वही सञ्चर काल में उत्पत्ति का अभिधाता बनता है, प्रतिसञ्चरकाल में वही विनाश का अभिधाता बन जाता है। मातरिश्वा कवि के इसी काव्य का निरूपण करते हुए महर्षि कहते हैं—

निधु दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार ।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान' ॥

(ऋक्सं० १० । ५५ । ५ ।) ।

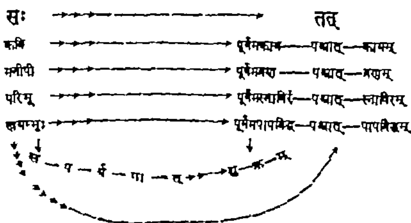
मृगुतत्त्व स्नेहधर्मा है । स्नेह ही संकुचितदशा सृष्टि का कारण है । यह स्नेहधर्म ही मार्गवमातरिश्वा अग्नि की अग्नित्वशक्ति है । इसी स्नेहधर्म से चितिभाव का उदय होता है । चितिसमष्टि ही 'काम' है । शुक्र का चितिलक्षण भावरूप में परिणत होजाना, मातरिश्वा की अग्नित्वशक्ति (स्नेहगुण) की ही महिमा है । 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह कामना ही विजातीय-भाव के आगमन का कारण है । इस कामना का उदय मन से होता है । मन की कामना ही 'मनीषा' है । मनीषाभाव से विजातीय परिग्रहों का संग्रह होता है । विजातीय परिग्रह ही 'प्रवृ' है । मार्गव मातरिश्वा यद्यपि वायुरूप होने से स्वयं क्रियाप्रधान है, परन्तु क्रिया बिना मन की कामना के सम्भव नहीं है । सुतरां मातरिश्वा में अव्यय मन का अनुग्रह सिद्ध हो जाता है । इसी से यह 'मनीषी' बना हुआ है । यह मनीषीभाव ही कामनाओं का प्रवर्तक बनता हुआ, विजातीयधर्मों के आगमन का द्वार बनता हुआ शुक्र के मयभाव का कारण बनता है । अग्नि—मातरिश्वा का सारा ज्ञान एक ज्ञानमयी कृति है । बड़े नियम से सृष्टियों का निर्माण हुआ है । सृष्टि मनमानी नहीं है । अपि तु जैसे एक बुद्धिमान शिल्पी बुद्धिपूर्वक मूर्तियों का निर्माण करता है, एवमेव यह भी अव्यय मन से युक्त बनता हुआ बुद्धिपूर्वक ही मूर्तिरूप (मूर्तरूप) विश्व का निर्माण करता है । जहां मातरिश्वा कवि (सृष्टिकर्ता) है, वहां यह बुद्धिमान् भी है । 'वायुर्वै गौतमसूत्रम्' (शत० १४ । ६ । ७ । ६ के अनुसार मातरिश्वा सूत्रभाव का भी प्रवर्तक है । इसी सूत्रसम्बन्ध से यह उस शुक्र के चारों ओर व्याप्त होता हुआ शुक्र में सूत्रभाव के उदय का कारण बनता है । सूत्रसम्बन्ध से यह चारों ओर व्याप्त होता हुआ 'परिभू' (परि—चारों ओर—भू—व्याप्त रहनेवाला) है । इस का यह परिभूभाव ही शुक्र के स्वामित्व का कारण है । व्यापक वस्तु में केन्द्र नहीं होता, बिना केन्द्र कामभव

मन का उदय नहीं होता, बिना कामभय मन के अशनाया का उदय नहीं होता, बिना अशनाया के विषय का आगमन नहीं होता, बिना विषय के लेप नहीं होता। लेप का कारण अशनाया है। अतएव अशनाया (भूख) को 'पाप्मा' कहा जाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"नैवेह किञ्चनाग्र आसीत्-मृत्युनैवेदमावृतमासीत्-अशनायया। अशनाया हि मृत्युः। तन्मनोऽकुरुत-आत्मन्वी स्याम्" इति
(शत० १०।६।५।१।)

इस अशनाया का प्रभव मन है। मन की प्रतिष्ठा हृदय है। हृदय सीमाभाव पर निर्भर है। यह सीमाभाव मातरिश्वा पर निर्भर है। मातरिश्वा ही उस शुक्र को स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध प्रथम पुण्डीररूप में परिणत करता है। इसी सीमा से स्वयम्भू 'पृश्नीभा' (गोलाकार) बनता है—देखिए मनु० १ अ०। ९ श्लो०) "स एष वायुः प्रजापतिः (मातरिश्वास्यो वराह प्रजापतिः) अस्मिंस्त्वैपुमेऽन्तरिक्षे समन्त पर्यैत्" (शत ८।३।४।१।२।) के अनुसार यह मातरिश्वा ही मायासीमातक व्याप्त शुक्र के एक प्रदेश को चारों ओर से घेर कर इसे पुण्डीर-स्वयम्भूरूप में परिणत करता है, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है। यही स्वयम्भूभाव सीमाभाव से सकेन्द्र, अतएव समनस्क बनता हुआ अशनायारूप पाप्मा के उदय का कारण बनता है। एवं इस स्वयम्भूभाव के उदय का कारण मातरिश्वा है, अत प्राधान्यन्याय से हम इसे भी स्वयम्भू शब्द से व्यवहृत कर सकते हैं। इस प्रकार अपने कवि-मनीषी-परिभू स्वयम्भू इन चार स्वरूपधर्मों से युक्त यह मातरिश्वा, प्रथमावस्थापन्न अतएव अकाय-अव्रण अस्नाविर-अपापविद्ध, अतएव विशुद्ध शुक्र को क्रमशः काय-व्रण-स्नाविर-पापविद्ध बना डालता है। कविधर्म काय का, मनीषीधर्म व्रण का, परिभूधर्म स्नाविर का, एवं स्वयम्भूभाव पाप्मा का प्रवर्तक है। चतुर्धर्ममूर्त्ति मातरिश्वा शुक्र को उक्त चारों धर्मों से युक्त करने के पश्चात् ही, दूसरे शब्दों में कायभावादि से युक्त शुक्र से ही यह वैकारिक पिण्डनिर्माण में समर्थ होता है।

सृष्टि एक प्रकार का व्यापार है, व्यापार क्रिया है। अर्थरूप शुक्र विश्व का उपादान बनता हुआ भी अक्र है, क्रियारूप है। क्रिया सदागति मातरिश्वा वायु का ही धर्म है। अतः 'याथातथ्यतो०' इत्यादि रूप से श्रुतिने मातरिश्वा को ही सृष्टिकर्ता बतलाया है। मातरिश्वा वायु ही अपने स्नेहरूप कविभाव से शुक्ररूप अर्थ को कार्यरूप में परिणत करता हुआ, मन से ज्ञानयुक्त बनकर कामना का अधिष्ठाता बनता हुआ, शुक्र को व्रणरूप में परिणत करता हुआ, परिभूभाव से शुक्र को स्नायुरूप में परिणत करता हुआ, स्वयम्भूभाव से आत्माया द्वारा शुक्र को पापविद्ध बनाता हुआ उक्त चतुरूप 'अमूर्त्ति शुक्र से सदा के लिए अर्थों का (विकारधर्मों का) यथापूर्व निर्माण कर रहा है— 'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्य"



जैसा (यथा) आज आप देख रहे हैं, सृष्टि के प्रारम्भ में मातरिश्वा ने वैसा (यथा) ही बनाया था, एवं 'यथापूर्वमकल्पयत्' इस सिद्धान्त के अनुसार सदा के लिये (शाश्वतीभ्य—समाभ्यः) वह ऐसा ही बनाता रहेगा। उस मनीषी मातरिश्वा की निर्माण पद्धति सदा के लिए नियत है। अग्नि का ऊर्ध्वगमन, पानी का अधोगमन, वायु का तिर्यग्गमन, सूर्य्य का

क्रान्तिवृत्त पर नियत परिभ्रमण, आदि आदि पदार्थों के जो नियत भाव पहिले थे वे ही आज हैं, एवं भविष्य में भी ऐसे ही रहेंगे। जिस परिस्थिति के लिए लोकव्यवहार में—"यह क्रम तो सालों साल ऐसा ही होता रहता है—सदा एकसार होता रहता है" यह कहा जाता है, ठीक इसी व्यवहार को सूचित करने के लिए 'याथातथ्यतो०' इत्यादि कहा गया है। हम सृष्टिप्रक्रिया का प्रकरण कर रहे हैं। श्रुति को सृष्टिप्रक्रिया का स्वरूप बतलाना है। इसीलिए स्थूलारुन्धति न्याय से 'तथा यथा' यह क्रम न रखकर 'यथा तथा' यह क्रम रक्खा गया है। श्रुति कहती है कि जैसा तुम आज देख रहे हो, सदा के लिए मातरिश्वा ने वैसा ही बनाया है, वर्तमान में वैसा ही बना रहा है, एवं भविष्य में वैसा ही बनाता रहेगा। वर्तमान परिस्थिति तुम्हारे सामने है, इसी से तुम भूत—भविष्यत्—स्थिति का अनुमान लगा सकते हो।[1]

मातरिश्वावच्छिन्न शुक्र अधिदैवत में 'परमेष्ठी' कहलाता है, अध्यात्म में यही 'महानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृतिरूप सत्त्व अक्षर की अपूर्णता की प्रधानता है। अक्षरसत्त्व के सम्बन्ध से ही हमने इसे प्रकरण विभाग में 'अक्षरसत्त्वाक्षर महान्' नाम से व्यवहृत किया है। भूपिण्ड के दर्शपूर्णमास से इस महान् में आकृतिभाव का उदय होता है, चान्द्र दर्शपूर्ण से प्रकृतिभाव का, सौर दर्शपूर्णमास से अहंकृतिभाव का उदय होता है। पार्थिवभाग महान् के तमोगुण का प्रवर्तक है, सौरभाग रजोगुण का प्रवर्तक है, एवं स्वायम्भुवभाग सत्त्वगुण का प्रवर्तक है। ज्ञानप्रधान स्वयम्भू ब्रह्मा सत्त्वमूर्ति है, क्रियाप्रधान सौरविष्णु रजोमूर्ति है, अर्थप्रधान पार्थिव भूतेश्वरशिव तमोमूर्ति है। इस त्रिमूर्ति के सम्बन्ध से महदक्षर त्रैगुण्य से युक्त होजाता है, जैसा कि 'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' के 'क्या उपनिषत् वेद है'

[1] यही महान् … वेदनेता का प्रवर्तक है। यही आज का एकमात्र अन्यतम अधिकारी है। अभी इस विषय में बहुत कुछ वक्तव्य है। परन्तु विस्तारभय से उपेक्षा की जाती है। आगे की उपनिषदों में, एवं विशेषतः आत्मविज्ञान में इस विषयों का विशद विवेचन हुआ है।

इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। महान् को हमने आपोमय कहा है। यह आपतत्व–आप–वायु–सोम–अग्नि–वायु–आदित्य भेद से षट्कल है। इनमें आप के साथ आकृतिभाव का, वायु (मार्गवायु) के साथ प्रकृतिभाव का, सोम के साथ अहंकृतिभाव का, अग्नि के साथ तमोगुण का, वायु (रुद्रवायु) के साथ रजोगुण का, एवं आदित्य के साथ सत्वगुण का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह षट्कल महान्–षड्गुण बनकर पाञ्चभौतिक विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा परायण बनरहा है।

१–१–पार्थिवदर्शपूर्णमासाभ्यां —— आकृतिभावोदयः		षड्गुणको महान्
२–२–चान्द्रदर्शपूर्णमासाभ्यां —— प्रकृतिभावोदय		
३–३–सौरदर्शपूर्णमासाभ्यां —— अहंकृतिभावोदय		
——०——		
४–१–आपमृत्युपमर्त्यमूर्तिभक्षणा —— सत्वगुणोदय		
५–२–सौरकिरणमूर्तिविम्पुला —— रजोगुणोदयः		
६–३–पार्थिवार्थमूर्तिसम्पुपहिता —— तमोगुणोदयः		

——०——

आपोमयो महानात्मा

भृगुः	१—१—आप. —— आकृतिमय	"आपो भृग्वङ्गिरोरूपमापो भृग्वङ्गिरोमयम्"
	२—२—वायु —— प्रकृतिमय।	
	३—३—सोमः —— अहंकृतिमय	
	——०——	
अङ्गिराः	४—१—अग्नि —— तमोमयः	
	५—२—वायु —— रजोमयः	
	६—३—आदित्य —— सत्वमयः	

प्रत्येक सृष्टि में योनि–रेत–रेतोधा तीन भावों का सम्बन्ध नित्य अपेक्षित है । प्रथम सिद्ध आत्म आप-वाक्-अन्न अन्नाद्-इन पाँचों प्रकृतियों का स्मरण कीजिए । यही पाँचों क्रमशः स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी इन पाँचों पर्वों के 'रेत' हैं । व्यापक आत्म योनि था, व्यापक आत्म रेत था, व्यापक मातरिश्वा रेतोधा था, इससे व्यापक स्वयम्भू का उदय हुआ । परिच्छिन्नमात्रा योनि था, परिच्छिन्नप्रमाण रेत था, परिच्छिन्न मातरिश्वा रेतोधा था, इससे परिच्छिन्न पुण्डीर स्वयम्भू का जन्म हुआ । प्राणमय पुण्डीर स्वयम्भू योनि बना, आपस्तत्त्व रेत बना, मातरिश्वा रेतोधा बना, इससे परमेष्ठी का उदय हुआ । अब आपोमय परमेष्ठी योनि बनेगा, तीसरा वाक्तत्त्व रेत बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा, इससे सूर्य उत्पन्न होगा । वाङ्मय सूर्य योनि बनेगा, मातरिश्वा रेतोधा रहेगा इससे भूपिण्ड उत्पन्न होगा । अन्नादमय भूपिण्ड योनि बनेगा, अन्न रेत बनेगा, एवं वही मातरिश्वा रेतोधा बनेगा । इस से चन्द्रमा उत्पन्न होगा । यहाँ आकर सृष्टिक्रम समाप्त होजायगा । इस प्रकार सृष्टिक्रम में रेतोधा सर्वत्र मातरिश्वा ही रहता है । हाँ सृष्टिपर्वभेद से उसके नाम रूप अवश्य ही बदल जाते हैं, जैसा कि पूर्वाधिकरण में पराहत्स्वरूपनिर्वचन में बतलाया जाचुका है । पूर्व पूर्व प्रकृति (प्राणादि) उत्तर उत्तर की प्रकृति (अन्नादि) की योनि बनती है, उत्तर—उत्तर की प्रकृतिएं (अन्नादि) पूर्व पूर्व प्रकृतियों (प्राणादि) के रेत बनते हैं । अव्यक्तात्माधिकरण में व्यापक स्वयम्भू का निरूपण हुआ, इस प्रकृत महदात्माधिकरण में पुण्डीरस्वयम्भू, एवं परमेष्ठी की उत्पत्ति बतलाई गई है । इस आपोमय महान् को योनि (मम योनिर्महद्ब्रह्म) समझिए, तीसरे वाक्तत्त्व को रेत समझिए, पवमान इति मातरिश्वा को रेतोधा समझिए । इस वाग्रेत के महद्योनि में आधान होने से विज्ञानघन, अतएव विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सहस्रांशु भगवान् सूर्यनारायण का जन्म होगा । आगे का अधिकरण इसी जन्मोत्सव के लिए हमारे विज्ञानात्मा (बुद्धि) को प्रेरित कर रहा है ।

इति–प्राकृतात्माधिकरणे

शुक्रात्मनिरूपणम्

२

—०—

प्राकृतात्माधिकरणे—

महदात्माधिकरणं समाप्तम्

२

पूर्णमदः →→——— पूर्णमिदम्
३–सूर्यः →→—— विज्ञानवैभव १–विज्ञानात्मा
अधिदैवतम् →→——— अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्याक्षर —

विद्या-अविद्यामयः प्राकृतात्मा सूर्य्यः

विज्ञानात्मा

३

सूर्यः ←———←←← प्राकृ →→→——— विज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे *विज्ञानात्माधिकरण तृतीयम्*)

गायत्रीमात्रिकवेदावच्छिन्न –विद्या अविद्यामयात्मा

विश्वात्मा

१—अन्धं तम प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥
२—अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदेवाहुरविद्यया ।
इति शुश्रुम धीराणा ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
३—विद्या चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥
(ईशोपनिषत् ९, १०, ११, मन्त्र)

—◦○◦—



विज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

१— एको हंसो भुवनस्यास्य मध्ये स एवाग्निः सलिले संनिविष्टः ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ (श्वे० ६।१५) ।

२— स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥ (श्वेता० ६।१६) ।

३— स तन्मयो ह्यमृत ईशसंस्थो ज्ञः सर्वगो भुवनस्यास्य गोप्ता ।
य ईशेऽस्य जगतो नित्यमेव नान्यो हेतुर्विद्यत ईशनाय ॥ (श्वेता० ६।१७) ।

४— यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिर्न सन्न चासच्छिव एव केवलः ।
तदक्षरं तत्सवितुर्वरेण्यं प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी ॥ (श्वेता० ४।१८) ।

५— हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु) ।

६— यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि ।
आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥ (ऋक् १।८३।५) ।
("तत् सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्")

७— यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत् परम् ।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतं शकेमहि ॥ (कठ० १।३।२) ।

८— विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि सम्प्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेश ॥ (प्र० ४।११) ।

९— एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥ (मुण्ड० १।२।५) ।

१०— मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं संनिधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥ (मु० २।२।७) ।
हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः ॥ (मु० २।२।९) ।

११— हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ (क० २।५।२) ।

———०———

॥ श्री ॥

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः ।
नानुध्यायाद्बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत् ॥
नीहारहारघनसारसुधाकराभां कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् ।
उत्तुङ्गपीनकुचकुम्भमनोहराङ्गीं वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै ॥



अव्यक्त ब्रह्म से स्वयम्भू प्रकट हुए, स्वयम्भूब्रह्मरूप योनि में सुब्रह्म रूप आप् रेत का आदिवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान होने से प्राजापत्य परमेष्ठी उत्पन्न हुए। अव्यक्त स्वयम्भू वेदाग्नि प्रधान होने से सत्य था, व्यक्त परमेष्ठी अप्प्रधान होने से ऋत है—"ऋतमेव परमेष्ठी"। ऋत रूप यही महद्ब्रह्म 'अहं' भाव की प्रतिष्ठा है, इसी आधार पर—'अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्यः' यह कहा जाता है। इस ऋतरूप महद्योनि में तीसरे वाक् नाम के रेत का यज्ञवराहमातरिश्वा नाम के रेतोधा द्वारा आधान हुआ। इस वाक् रेत के आधान से संवत्सर का जन्म हुआ। यही संवत्सराग्नि आगे जाकर 'सूर्य' रूप में परिणत हुआ। संवत्सरात्मक सूर्य आपोमय परमेष्ठी समुद्र में (जो कि पारमेष्ठ्य समुद्र 'सरस्वान्' नाम से प्रसिद्ध है) विचरण करने वाला एक सुपर्ण (सुनहरे पंखवाला पक्षी) है। दक्षिणायन इस का दक्षिणपक्ष है, उत्तरायण इसका उत्तरपक्ष है, विषुवद्वृत्त इसका आत्मा है। चन्द्रमा, पृथिवी, चान्द्रजीव, पार्थिवजीव यह चारों सुपर्ण इस संवत्सर सुपर्ण के उदर में प्रतिष्ठित रहते हैं, अतएव इसे 'महासुपर्ण' कहा जाता है। निखिल संवत्सरात्मक इसी महासुपर्ण का निरूपण करते हुए वेदपुरुष कहते हैं—

"अथ ह वाऽएष महासुपर्ण एव यत् संवत्सरः। तस्य यान्पुरस्ताद्विषुवतः षण्मासानुपयन्ति—सोऽन्यतरः पक्षः, अथ यान् षडुपरिष्टात् सोऽन्यतरः, आत्मा विषुवान्" (शत० ब्रा० १२।२।३।७)।

महासुपर्णात्मक (संवत्सरात्मक) वाग्रेतोमय यह सूर्य पञ्चपर्वा विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित है। मध्यभाग 'हृदय' (केन्द्र) कहलाता है। जिस प्रकार सर्वाङ्गशरीर की प्रतिष्ठा 'हृदय' है, एवमेव पञ्चपर्वा विश्वशरीरात्मक ईश्वर के इस महाशरीर की प्रतिष्ठा हृदयरूप सूर्य ही है— "आदित्यो वै विश्वस्य हृदयम्"। यह सूर्य सावित्राग्निमय है, अग्नि को हिरण्यरेता कहा जाता है। अतएव इस सूर्यप्रजापति को 'हिरण्यगर्भप्रजापति' कहा जाता है। यही सौर पुरुष उपनिषदों में 'हिरण्मयपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है। जिस महर्षि ने सब से पहिले इस हिरण्यगर्भविज्ञान को पहिचाना, वह द्रष्टा महर्षि भी हिरण्यगर्भप्रजापति नाम से प्रसिद्ध हुए। हिरण्यगर्भ ऋषि का मत है कि सम्पूर्ण विश्व की मूल प्रतिष्ठा हिरण्यगर्भ (सूर्य) ही है। विश्व में सब से पहिले हिरण्यगर्भ का ही विकास होता है। स्वयम्भू, परमेष्ठी, चन्द्रमा, पृथिवी यह चारों पर्व हिरण्यगर्भ के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन की आश्रयभूमि, स्वरूप संपादक एकमात्र विधाधिष्ठाता हिरण्यगर्भ प्रजापति ही है। उधर विश्वकर्मा स्वयम्भू के द्रष्टा, अतएव विश्वकर्मा नाम से ही प्रसिद्ध महर्षि का कहना है कि सर्वप्रथम विश्व में स्वयम्भू स्वयम्भू ही सब को व्यक्त करता हुआ प्रकट होता है—"तत स्वदम्भूर्मगधानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम्"। परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी चारों पर्व स्वयम्भू के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रय भूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विधाधिष्ठाता स्वयम्भू प्रजापति ही है। प्रथमविद्या के प्रथम द्रष्टा महर्षियों का कहना है कि पृथिवी ही सब की मूल प्रतिष्ठा है। सब प्रथम विश्व में पृथिवी ही प्रकट हुई है। पहिले भूः है, अनन्तर भुवः-स्वः (सूर्य) आदि लोकों का विकास हुआ है। स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा यह चारों पर्व पृथिवी के पश्चात् प्रकट हुए हैं। इन चारों की आश्रयभूमि स्वरूप संपादक एकमात्र विधाधिष्ठाता पार्थिवप्रजापति ही है। इस प्रकार श्रुतियों में सृष्टिविद्या के सम्बन्ध में परस्पर में सर्वथा विरुद्ध तीन मत उपलब्ध होते हैं। स्वयम्भूमूलासृष्टि प्रथम मत है, सूर्यमूलासृष्टि द्वितीय मत है, पृथिवीमूलासृष्टि तृतीय मत है। स्वयं ईशोपनिषद् में स्वयम्भूमूलासृष्टि को ही प्रधानता दी है। संहिता में तीनों ही सृष्टियों के समर्थक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट होजाता है।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टि प्रथमा

१—य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यषीदत् पिता नः ।
स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवराँ आविवेश ॥
२—किंस्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित् कथासीत् ।
यतो भूमिं जनयन् विश्वकर्मा विद्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः ॥
३—विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात् ।
सं बाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावा भूमिं जनयन् देव एकः ॥
४—या ते धामानि परमाणि यावमा या मध्यमा विश्वकर्मन्नुतेमा ।
शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधावः स्वयं यजस्व तन्वं वृधानः ॥
(यजु सं० १७अ० । १७-१८ १९ २० २१ २२ २३ २४—मन्त्र) ।

२—सूर्य्यमूलासृष्टिर्द्वितीया

१—हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ (यजु १३।४)।
२—चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ (यजु॥१३।४६)।
३—येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
४—प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥
(ऋक् सं० १० मं । १२१ सू०) ।

३—पृथिवीमूलासृष्टिस्तृतीया

१—सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वत स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजुः ३१।१) ।

२—अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः ।
विश्वे देवा अदितिः पञ्चजना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ (ऋक् १।८९।१०)

३—"इयं वै देव्यदितिर्विश्वरूपी" (तै० ब्रा० १।७।६।७) ।

४—"इयं वा आऽएषां लोकानां प्रथमाऽसृज्यत" (शत० ६।५।३।१) ।

५—"इयं वै जगती अस्यां हीद सर्वं जगत्" (शत० ६।२।१।२९)।

६—"पृथिव्यामिमे लोकाः (प्रतिष्ठिताः)" (अ० उ० ११२० २) ।



इन तीनों सृष्टिविद्याओं का उपनिषदों में क्रमशः ओङ्कारविद्या (स्व० विद्या), उद्गीथविद्या (सूर्यविद्या), प्रणवविद्या (पृ० विद्या) इन नामों से निरूपण हुआ है । स्वयम्भू से आरम्भ मानकर पृथिवी पर अवसान मानना ओङ्कारविद्या है, सूर्य को आरम्भ स्थान मानकर उधर परमेष्ठी स्वयम्भू पर, इधर चन्द्रमा एवं पृथिवी पर पर्यवसान मानना उद्गीथविद्या है, पृथिवी को मूल मानकर स्वयम्भू पर अवसान मानना प्रणवविद्या है । स्वयम्भू विराट्पुरुष का मस्तक है, अतएव इस विद्या को 'शिरोमूलाविद्या' कहना चाहिए । सूर्य विराट्पुरुष का हृदय है, अतः इसे 'हृदयमूलाविद्या' समझना चाहिए। एवं पृथिवी पाद स्थानीय है, अतः इसे पादमूलासृष्टिविद्या' कहना चाहिए ।

पुराणों ने भी इसी तरह का आधार मान कर तीन प्रकार से सृष्टिविद्या का उपबृंहण किया है । "ब्रह्मा से सारे विश्व का आरम्भ हुआ है, सारा विश्व ब्राह्म है" यह पुराण

• [illegible] के [illegible] में पृथिवी से ही सृष्टि का आरम्भ माना गया है—(देखिए—शत० ब्रा १।७ ११।१ १।३) ।

का एक मत है। "विष्णु से सारे विश्व का निर्माण हुआ है, सम्पूर्ण विश्व वैष्णव है" यह दूसरा मत है। एवं–"महेश्वर (महादेव) से ही विश्व का जन्म स्थिति भंग हुआ है, सारा विश्व माहेश्वर है" यह तीसरा मत है। आप ब्रह्मपुराण को आद्य से इति तक देख जाइए, वहां विष्णु महेश्वर आदि इतर सम्पूर्ण देवताओं को गौण बतलाया गया है, ब्रह्मा को सब का आदिप्रवर्त्तक बतलाया गया है। इसी प्रकार विष्णुपुराण में आद्य से इति तक सब देवताओं की अपेक्षा विष्णु की प्रधानता का ही निरूपण किया है। शिवपुराण एकमात्र महेश्वर को प्रधान देवता मान रहा है। बुद्धिवाद के रहस्य को न समझने के कारण ही आज तक भिन्न भिन्न पुराणों के प्रमाणों को उपन्यस्त करते हुए शैव-वैष्णव मुक्तामुक्ति को ही परम पुरुषार्थ समझ रहे हैं। स्वायम्भुव ब्रह्मा ज्ञानमूर्त्ति है, सौर विष्णु क्रियामूर्त्ति है, पार्थिव शिव अर्थमूर्त्ति है। एक ही विराट् पुरुष के तीन अवयव हैं। त्रिमूर्त्ति की समष्टि ही प्रधान है।

इस सम्बन्ध में प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों मतों में से किसे सत्य कहा जाय? सत्य एक हो सकता है। उधर तीनों ही मत वेदाभिमत होने से मान्य हैं। परन्तु मान्य होते हुए भी सदेह के जनक अवश्य हैं। इस सदेह की निवृत्ति के लिए आपको उपवेदभूत आयुर्वेद की शरण में जाना चाहिए। सदेहरूप मायान्तकज्वर[1] को निवृत्त करना चिकित्सा शास्त्र का ही कार्य है।

रज-शुक्र के मिथुनभाव से गर्भस्थिति होती है। आगे जाकर गर्भ क्रमशः पुष्ट होता हुआ १० मास में सर्वावयव सम्पन्न बन जाता है। गर्भ के सम्बन्ध में प्रश्न उठाया जासकता है कि गर्भ में पहिले मस्तक बनता है? अथवा पहिले हृदय का विकास होता है? अथवा पहिले नाभि का उदय होता है? किंवा पहिले पक्वाशयगुद का आविर्भाव होता है? इन प्रश्नों के सम्बन्ध में भिषग्वरों के भिन्न भिन्न मत हैं। कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले बुद्धिरूप गर्भ का शिर बनता है, अनन्तर अन्य अवयवों का विकास होता है। "हृदय ही (हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही) सब इन्द्रियों का आलम्बन है। जब तक हृदय का विकास नहीं होता,

१— 'संशयात्मा विनश्यति' (गीता)।

तब तक चक्षु, श्रोत्र, घ्राणादि इन्द्रियों का विकास कथमपि सम्भव नहीं है" इस कारण को आगे रखते हुए कांकायन बाह्लीक नाम के वैद्य गर्भ में सर्वप्रथम हृदय का विकास मानते हैं। भद्रकाप्य के मतानुसार नाभि पहिला भाग है। नाभि द्वारा ही मातृमुक्त रस से गर्भ की पुष्टि होती है। भद्रशौनक के मतानुसार आहार के आगमन का साधन बनता हुआ पक्वाशयगुद ही पहिले विकसित होता है। वडिश के मतानुसार पहिले हाथ पैरों का विकास होता है। वैदेह जनक के मतानुसार पहिले इन्द्रियों का विकास होता है। मरीचि महर्षि के पुत्र अतएव मारीचि किंवा मारीच नाम से प्रसिद्ध महर्षि कश्यप का कहना है कि यह सब परोक्ष विषय है। गर्भ का कौनसा अङ्ग पहिले बनता है? यह इन्द्रियातीत विषय है, अतः इसके सम्बन्ध में-"इदमित्थमेव" इस प्रकार निश्चयरूप से कुछ नहीं कहा जासता। इस प्रकार इनके मतानुसार यह विषय ही अचिन्त्य है। भगवान् धन्वन्तरि कहते हैं—सारे अङ्ग एक साथ बनते हैं। सभी अवयव परस्पर में अन्योऽन्याश्रित हैं। अतः इनका युगपत् ही सम्भव (उत्पत्ति) मानना ठीक होता है। इसी मत को सिद्धान्त पक्ष मानती हुई चरकसंहिता कहती है—

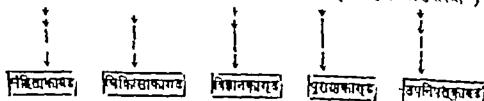
> "सर्वाङ्गनिर्वृत्तिर्युगपत्—इति धन्वन्तरिः। तदुपपन्नं—सिद्धत्वात्। न च तस्मात् पूर्वाभिनिर्वृत्तिरपाम्। तस्माद्धृदयपूर्वाणां सर्वाङ्गानां तुल्यकालाभिनिर्वृत्तिः। सर्वभावा ह्यन्योऽन्यप्रतिबद्धाः, तस्माद्यथाभूतं दर्शनं साधु" (चरक सं॰ शारीर स्थान ६ शरीरविचयाध्याय–११ श्लो)

इस प्रकार आयुर्वेद के मतानुसार आध्यात्मिकपुरुषोत्पत्ति में सभी अवयव एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि सूक्ष्मक्रमानुसार कुमारशिराभरद्वाज के मतानुसार पहिले मस्तक का ही विकास मानना पड़ता है। बीजरूप से सभी अवयव समानकालीन होते हुए भी अङ्कुरदशा में पहिले मस्तक की ही प्रधानता है। इसी प्रकार शौर्कराक्ष्य महर्षि पहिले उदर का अरुण के पुत्र पहिले हृदय का विकास मानते हैं (ऐ॰ आ॰ २।१।४)। इस प्रकार श्रुतियों में भी मतभेद है। तथापि यहां सृष्टिविकासक्रममूलक मस्तकोत्पत्ति के प्राथम्य को ही प्रधान माना गया है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"शिरो वा अग्रे सम्भवतः सम्भवति । चतुर्धा विहितं
वै शिरः—प्राणश्चक्षुः श्रोत्रं वाक्" (तां० ब्रा० २२।६।४) ।
"शिरो हि प्रथमं जायमानस्य जायते" (शत० ८।२।४।१८) ।

विकास भी सबसे पहिले मस्तक का ही होता है, एवं "शीर्षतो ह्यग्रे जायमानो जायते" (शत० ३।४।१।१६) के अनुसार प्रसवकाल में भी पहिले मस्तक ही अगाड़ी अनता है। शिर सप्तमुख सृष्टिक्रम में अगाड़ी है। तभी तो जरा का प्रकोप सबसे पहिले मस्तक पर ही होता है—"यस्माच्छीर्षतएवाग्रे पलितो भवति" (शत ११।४।१।६)। इसी प्रथमभाव के कारण प्रथमश्रेणि के उत्कृष्ट मनुष्य को शिरस्थानीय (मुख्य) माना जाता है। गर्भ की स्थिति हृदय से ही रहती है, हृदय ही जीवन की प्रतिष्ठा है। ध्वंसक्रम में पैरों की प्रधानता है। यही क्रम अधिदैवत में समझिए। बीजरूप से प्राण-आप वागादि पाँचों प्रकृतिएं समकालीन हैं। परन्तु सृष्टि (उत्पत्ति) क्रमानुसार पहिले शिरस्थानीय स्वयम्भू का विकास होता है। इस सृष्टिक्रम की अपेक्षा से स्वायम्भुव ब्रह्मा का ही सर्वप्रधानत्व है। ब्रह्मा ज्ञानप्रधान है। ज्ञान-क्रिया-अर्थ तीनों अन्योऽन्याश्रित हैं, तथापि प्राधान्य ज्ञान का ही मानना पड़ता है। विश्व की स्थिति सूर्य पर निर्भर है। सूर्य से ही महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य भाव का उदय होता है। त्रिगुणभावापन्न महत् जबतक है, तबतक सृष्टि है, जब तक सूर्य है, तभी तक गुणोदय है। फलतः सूर्य का विश्वस्थितिस्थापकत्व भलीभांति सिद्ध होजाता है। इस स्थितिक्रम के अनुसार सारे विश्व में सौर विष्णु का ही साम्राज्य है। हमारी दृष्टि पहिले पृथिवी पर पड़ती है, अनन्तर सूर्य-चन्द्रमा-परमेष्ठी की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है। इस दृष्टिक्रम के अनुसार सारे विश्व में पार्थिव महेश्वर का ही साम्राज्य है। ज्ञानप्रधान सृष्टिक्रम, कर्मप्रधान स्थितिक्रम, अर्थप्रधान दृष्टिक्रम की अपेक्षा से उक्त तीनों सृष्टिविधाओं में कोई विरोध नहीं है।

१—स्वयम्भूमूलासृष्टि —शिरोमूला——सृष्टिक्रमप्रधाना ब्रह्मविद्या (उत्पत्तिमूला ओङ्कारविद्या)
२—सूर्यमूलासृष्टि ——हृदयमूला——स्थितिक्रमप्रधाना विष्णुविद्या (स्थितिमूला—उद्गीथविद्या)
३—पृथिवीमूलासृष्टि —पादमूला——दृष्टिक्रमप्रधाना महेशविद्या (नाशमूला—प्रणवविद्या)



प्रकृत प्रकरण उक्त तीनों सुविभागों में से हिरण्यगर्भ विद्या नाम से व्यवहृत विद्या यानें येनय सूर्यविद्या का ही निरूपण करता है। उसी का उपबृंहण करना प्रकृत प्रकरणार्थ है। विद्याकर्ममय अव्यय पुरुष विश्व के पांचों पर्वों में व्याप्त है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि विश्व के सभी पदार्थों में ज्ञान एवं क्रिया (कर्म) की उपलब्धि होती है, जैसा कि पूर्व के प्रकरणों में विस्तार से बतलाया जाचुका है। अव्यय का विद्याभाग पदार्थों में ज्ञानरूप से प्रतिष्ठित है, कर्मभाग क्रियारूप से प्रतिष्ठित है। निरुपाधिक विद्या-कर्मभाग को 'ब्रह्म' 'कर्म' शब्दों से व्यवहृत किया जाता है, यही इसके दिव्यरूप हैं—'ब्रह्म कर्म च मे दिव्यम्'। सोपाधिक वही ब्रह्म-कर्म ज्ञान-क्रिया नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार यद्यपि स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी विश्व के इन पांचों पर्वों में (प्रत्येक में) ज्ञान-क्रियारूप से अव्यय के विद्या-कर्म-दोनों भाग प्रतिष्ठित हैं, तथापि इन दोनों की पूर्ण विकासभूमि मध्यस्थ सूर्य ही माना जाता है। सूर्य विश्व का केन्द्र है, इतर पर्व परिधिस्थानीय हैं। केन्द्र में सब शक्तियों का पूर्ण विकास रहता है। सुतरां केन्द्रस्थानीय सूर्य में अव्यय के ज्ञानरूप विद्याभाग का, एवं कर्मरूप अविद्याभाग का पूर्ण विकास सिद्ध होजाता है। यही कारण है कि विश्व के और किसी पर्व के लिए 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह' यह न कह कर केवल सूर्य को ही विद्या-अविद्यात्मक माना गया है।

अपि च 'सहयज्ञाः प्रजाःसृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः' (गीता ३।१०) इस सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही विश्वप्रजा का निर्माण होता है। यह यज्ञ 'सुम्ना' 'विम्ना' भेद से दो भागों में विभक्त है। यही दोनों यज्ञ सवन-चयन नामों से प्रसिद्ध हैं। सुम्नायज्ञ सोमप्रधान है, सोम का ही सवन होता है। विम्नायज्ञ अग्निप्रधान है, अग्नि का ही चयन होता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से अहोरात्ररूप अग्निहोत्र, कृष्ण-शुक्लपक्षरूप दर्शपौर्णमास, ग्रीष्म-वर्षा-शीतऋतुरूप चातुर्मास्य, उत्तरायण-दक्षिणायनरूप पशुबन्ध, संवत्सररूप ज्योतिष्टोम (सोमयाग-क्रिताग्रयाग) इस क्रम से सोमयज्ञ पांचभागों में विभक्त होजाता

है। इन पांच अवयवों के कारण ही सुखायज्ञ को 'पाङ्क्तो वै यज्ञः'(शत १।१।४।१६) के अनुसार पाङ्क्त (पञ्चावयव) कहा जाता है। अग्नि में सोम की आहुति होने से आयतन वृद्धि नहीं होती, अपि तु स्थिति की रक्षामात्र होती है। इस प्रकार अग्नि में सोम की आहुति होने से पाङ्क्त सुखायज्ञ सम्पन्न होता है। निगरण किंवा विलयन इस सोमाहुतिरूप सुखायज्ञ किंवा सवन यज्ञ का स्वाभाविक धर्म्म है। अग्नि में सोम डाल दीजिए, अग्नि उसे 'निगल' जायगा, पी जायगा, हुत सोम का अग्नि में विलयन होजायगा, अब सोम कहीं ढूंढे से भी नहीं मिलेगा। दूसरा है चित्यायज्ञ। अग्नि में अग्नि की आहुति होने से इस अग्निचय का स्वरूप निष्पन्न होता है। अग्नि अग्नि का निगरण (हजम) नहीं कर सकता। अतएव इस यज्ञ में आयतन की वृद्धि होती है। यह अग्निचय भी अग्नि-वायु आदित्य दो साध्य मात्राग्नि के भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। अग्निचिति से पृथिवी का, वायुचिति से अन्तरिक्ष का, आदित्यचिति से द्युलोक का स्वरूप निष्पन्न होता है। पृथिवी-अन्तरिक्ष की सन्धि में, अन्तरिक्ष एवं द्युलोक की सन्धि में दो अग्नि और चित रहते हैं। इस प्रकार एक ही अग्नि अवस्था भेद से पञ्चचितिक बन जाता है। इस चितियज्ञ से तो वस्तु का स्वरूप निर्माण होता है, एवं उत्पन्न वस्तु की स्वरूप रक्षा सुखायज्ञ से होती है। प्रकारान्तर से यों समझिए कि उत्पत्ति सोमयज्ञ से होती है, पुष्टि अग्नियज्ञ से होती है स्थिति सोमयज्ञ से होती है। आद्यन्त में सोम है, मध्य में अग्नि है। सूर्य अग्निमय है, इसके उस ओर पारमेष्ठ्य सोम है, इस ओर चान्द्र सोम है। अध्यात्मसंस्था में इस स्थिति का प्रत्यक्ष कीजिए। शुक्र (रेत) सोम है, शोणित (योनिरूप—आर्त्तव-रज) अग्नि है। इस स्वरूप योनि में वीर्यरूप सोम की आहुति होने से गर्भ का उदय होता है। इसप्रकार उत्पत्तिकाल में सोमयज्ञ की प्रधानता है। आगे जाकर क्रमशः गर्भायतन बढ़ने लगते हैं, यही अग्निचिति है। अस्थि-मांसादि की चिति ही अग्निचिति है, यही वृद्धि का कारण है। अन्नरूप सोमाहुति से इस चित्याग्निमय शरीरपिण्ड की स्थिति रहती है। प्रातः-साय होने वाले अन्नाहुतिरूप इसी दैनिक सोमयज्ञ से शरीर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है। इसी भव्य रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"यद्यद् पञ्च चितीश्चिनोति, एतामिरेवैन तत्तनूभिश्चिनोति, यच्चिनोति-तस्माच्चितयः" (शत० ६।१।२।१७)। "पञ्चतन्वो व्यस्रंसन्त-लोम, त्वक्, मांस, मस्थि, मज्जा। ता एवैता पञ्च चितयः" (शत० ६।१।२।१७)। "पञ्च ह्येते अग्नयो यदेताश्चितयः" (शत० ६।२।१।१६।)।

उक्त दोनों पक्षों में सुत्या, किंवा सोमयज्ञ का अधिष्ठाता आपोमय परमेष्ठी है एवं चित्या किंवा चयनयज्ञ का अधिष्ठाता वाङ्मय सूर्य है। परमेष्ठी सोमप्रधान है, सूर्य अग्नि-प्रधान है। सुत्या सोमप्रधान है, चित्या अग्निप्रधान है। उत्पत्ति का मूल आश्रय जहां परमेष्ठी-यज्ञ (सोमयज्ञ) है, वहां विकास का मूलप्रवर्त्तक सूर्ययज्ञ (अग्नियज्ञ) है। जब तक उत्पन्न वस्तु चित्यरूप में परिणत नहीं होजाती, तबतक उस की उत्पत्ति अनुत्पत्ति के समान है। परमेष्ठी की उत्पादकशक्ति का विकासस्थान सूर्य है। महत्परमेष्ठी ही गर्भधारण करने वाली योनि है, परन्तु इस गर्भ का प्रजननरूप से विकास सौरसंस्था में ही होता है। इस से यह मान लेना पड़ता है कि सूर्य से ऊपर उत्पादक योनिरूप महद्ब्रह्म के रहते पर भी चित्याग्नियज्ञ के अभाव से प्रजनन कर्म का नितान्त अभाव है। भौतिक-मर्त्य प्रजा की उत्पत्ति का मूल उपक्रम सूर्य ही है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर यज्ञश्रुति कहती है—

"द्यौर्वा ऽ उत्तमाः स्वयमातृण्णा, आदित्य उत्तमा विश्वज्योतिः। अर्वाचीनं तावदिवआदित्याद्-भ्यूतत् दधाति, तस्मादर्वाचीनेव भ्यूतः-अथो प्रजननम्। एतदर्वाचीनं तावदिवआदित्याद प्रजननं दधाति, तस्मादर्वाचीनमेवातः प्रजायते। स्थित (समाप्तं) हैवातः पराक् प्रजननम्। यावन्तो हैव समाप्ते देवास्तावन्तो देवाः"
(शत ब्रा ८कां।७अ।१ब्रा १८.)।

प्रजासृष्टि की उत्पत्ति समय (मौसम) पर होती है। समय का ही नाम ऋतु है। तत्तद् ऋतु विशेषों में ही तत्तद्विशेष पदार्थ उत्पन्न होते हैं। ऋतुसमष्टि ही संवत्सर है। संवत्सर

की मुख्यप्रतिष्ठा सूर्य है। सुतरां संवत्सरात्मक सूर्य से ही प्रजोत्पत्तिक्रम का आरम्भ सिद्ध होजाता है। चतुर्दशविध भूतसर्ग की प्रवृत्ति का आरम्भ स्थान सूर्य ही है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा। सूर्य से ऊपर ऋतुओं का अभाव है, अतएव ऋतुमूलक प्रजनन कर्म का भी वहां अभाव है। जिसप्रकार सूर्य से नीचे नवीन नवीन पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं, पुराने पदार्थ नष्ट होते रहते हैं, वैसे सूर्य से ऊपर यह जन्म-मरणचक्र नहीं है। वहां तो सृष्टि के आरम्भ में जिन मौलिक साध्य देवादि का विकास हुआ था, वही विकास आज तक उसी रूप से विद्यमान है। दूसरे शब्दों में वहां परिवर्तन का अभाव है, यही बतलाने के लिए श्रुतिने—'यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः' (यजु॰ ८।७।१।८) यह कहा है।

महद्ब्रह्म जिस चिदात्मा (अव्यय) को अपने गर्भ में धारण करता है, उस का पूर्ण विकास चिद्विवर्त्त सूर्य में ही जाकर होता है। सूर्य से ऊपर परमेष्ठी में चिदात्मा आता है, परन्तु विषयप्रधान सोमयज्ञ के प्रभाव से वह विलीन हो जाता है, वहां केवल गर्भसत्ता है। महद्ब्रह्म के गर्भ में रहने वाले उस षोडशीपुरुष का विकास तो सूर्य में ही होता है। चिदात्मा की गर्भभूमि महद्ब्रह्म (परमेष्ठी) है, प्रजननभूमि सूर्य है। यही कारण है कि ब्रह्मा प्रकृतिक स्वयम्भू, विष्णु प्रकृतिक परमेष्ठी, सोम प्रकृतिक चन्द्रमा, अग्नि प्रकृतिक भू, इन्द्र प्रकृतिक सूर्य इन पांचों में से इन्द्रप्रकृतिक सूर्य को ही 'षोडशी' कहा जाता है। क्योंकि षोडशीपुरुष नाम से प्रसिद्ध चिदात्मा का पूर्ण विकास केवल इन्द्रात्मक सूर्य में ही होता है—"असौ वै षोडशी योऽसौ (सूर्यः) तपति" (कौ॰ब्रा॰ १७।१।)। इसी चिदात्मा के सम्बन्ध से इन्द्रतत्त्व इतर प्रकृतियों की अपेक्षा षोडशी प्रजापति की ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ सन्तान कहलाती है। पिता का वही पुत्र ज्येष्ठ-एवं श्रेष्ठ (सुपुत्र) कहलाता है, जो पिता के यश को द्विगुणित करता है। जिस पुत्र से पिता का यश संसार में फैलता है, वही पुत्र श्रेष्ठ माना जाता है। ब्रह्मा—विष्णु—इन्द्र—अग्नि—सोम भेद से षोडशी प्रजापति के पांच पुत्र हैं। इन पांचों में सबसे ज्येष्ठ ब्रह्मा है, सबसे कनिष्ठ सोम है, बिचला पुत्र इन्द्र (सूर्य) है, इसी पुत्रने चिदात्मारूप पिता का यश सर्वत्रिलोकी में फैलाया है। सूर्य के द्वारा ही विश्व में आत्मज्योति का प्रसार

हुआ है—"सुप आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" । इसी सुपुत्री के कारण प्रजापतिने विश्व के सबसे ऊँचे आसन पर (हृदय सबसे ऊर्ध्व कहलाता है, एवं विश्व के हृदय में ही सूर्य प्रतिष्ठित है) प्रतिष्ठित किया है । यही इन्द्र पुत्र का सर्वश्रेष्ठत्व, एवं सर्वश्रेष्ठत्व है इसी अभिप्राय से महाब्राह्मण श्रुति कहती है—

> "स (षोडशीप्रजापतिश्चिदात्मा) ऽकामयतेन्द्रो मे प्रजायां श्रेष्ठः स्यादिति । तामस्मै स्रज (विजयमाला) प्रत्यमुञ्चत् । ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायाति ष्ठन्त-तथिष्ठरस्य पश्यन्त" (ता० ब्रा० १६।१।१) । "इन्द्रो वै देवानामोजिष्ठो, बलिष्ठः, सहिष्ठ: सत्तमः पारयिष्णुतमः" (ऐ० ब्रा० ७।१६) । सर्वं वाऽ इदमिन्द्राय तदस्थानमास यदिदं किञ्च" (शत ३।९।४।१४) । "हृदयमेवेन्द्र" (शत० १२।९।१।१५) ।

श्रैष्ठ्य क्या है, किसी चतुर शिल्पी का सर्वोत्कृष्ट शिल्प (कारीगरी) है । वह शिल्पी यही इन्द्र है । अपने इन्द्रपुत्र के इस उत्कृष्ट शिल्प पर प्रसन्न होकर ही तो प्रजापतिने इसके गले में विजयमाला डाली है । इसके इसी शिल्प से प्रभावित होकर (इसका लोहा मानते हुए) ही तो प्रजाने इसे श्रेष्ठ माना है—'प्रजा' श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त तथिष्ठरस्य परयन्त" । (१६।१।१) । सचमुच इन्द्र ऐसी ही वस्तु है । सारा विश्व इन्द्र से पूर्ण है । त्रैलोक्य में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ 'शुन' नाम से प्रसिद्ध इन्द्र का साम्राज्य न हो । जिसनें मघ्यबिन्दु को पहिचान लिया, उसनें सब कुछ समझ लिया । इसी लिए काशिराजप्रतर्दन को इन्द्र के अभिमानी देवताने कहा है—'एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्" (मैं मनुष्य के लिए यही परम हित समझता हूं जो कि वह मुझ (इन्द्र को) समझ जाय) (कौ०उ ३।१) । इन्द्र की इसी सर्वव्यापकता, एवं सर्वोत्कृष्टता का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

१—यदाव इन्द्र शतं ते शतं भूमिरुत स्युः ।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ (ऋक्० ८।७०।५) ।

२—सूर्यस्येव रश्मयो द्रावयित्नवो मत्सरासः प्रसुप साकमीरते ।
तन्तुं ततं परिसर्गास आशवो नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन ॥ (ऋ० ९।६९।६)
३—इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्या इन्द्रो अपामिन्द्र इत् पर्वतानाम् ।
इन्द्रो वृधामिन्द्र इन्मेधिराणामिन्द्रः क्षेमे योगे हव्य इन्द्रः ॥ (ऋ० १०।८९।१०)
४—नकिरिन्द्र त्वदुत्तरो न ज्यायाँ अस्ति वृत्रहन् ।
नकिरेव यथा त्वम् (ऋ० ४।३०।१) ।

प्रकारान्तर से इन्द्र की श्रेष्ठता का विचार कीजिए । अव्यय-अक्षर-क्षर की समष्टि षोडशीपुरुष है । इनमें अव्यय ज्ञानप्रधान है, अक्षर क्रियाप्रधान है, क्षर अर्थप्रधान है । ज्ञानप्रधान अव्यय, अर्थप्रधान क्षर दोनों का मध्यपतित क्रियाप्रधान अक्षर के साथ समन्वय है । अतः अक्षर ज्ञान–क्रिया–अर्थ तीनों विभूतियों से युक्त होजाता है । पर नाम से प्रसिद्ध अव्यय केवल ज्ञानप्रधान ही है, ब्रह्म नाम से प्रसिद्ध क्षर केवल अर्थप्रधान ही है परन्तु मध्यस्थ अक्षर ज्ञान—अर्थ के सदश में पतित होता हुआ त्रिमूर्तिप्रधान है , जैसा कि कठश्रुति कहती है—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म (क्षर॰) एतद्ध्येवाक्षरं परम् (अव्यय॰) ।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ० १।२।१६) ।

स्वयम्भू परमेष्ठी अव्ययप्रधान हैं, चन्द्रमा पृथिवी क्षरप्रधान हैं, किन्तु मध्यस्थ सूर्य अक्षरप्रधान बनता हुआ परधाम में प्रतिष्ठित अव्यय, अवरधाम में प्रतिष्ठित क्षर दोनों का समाहक बनता हुआ षोडशी बन रहा है । केवल अव्यय की दृष्टि से विचार कीजिए । अव्यय का विद्याभाग अमृत है, सूर्य के ऊपर इस की प्रधानता है । कर्मभाग मृत्यु है, सूर्य से नीचे इस की प्रधानता है । परन्तु मध्यस्थ सूर्य में दोनों का समन्वय है । विद्या–अविद्या दोनों के यदि आपको एक साथ दर्शन करने हैं तो इसके लिए विज्ञानघन सूर्य की ही शरण में आना पड़ेगा । सौर कर्मभाग ही आगे जाकर आवरणरूप में परिणत होता हुआ धाम

स्तुत् बनकर 'अर्य' नाम से व्यवहृत होने लगता है। इस प्रकार सूर्य में ज्ञान (विद्या), क्रिया (कर्म), अर्थ तीनों की सत्ता सिद्ध होजाती है। तीनों शक्तियों का सूर्य में पूर्ण विकास है। ज्ञानशक्तिमय होने से–'धियो यो नः प्रचोदयात्' (यजु. २२।९) यह कहा जाता है। क्रियाशक्तिमय होने से–'आयाः समानामुदयन्नेष सूर्यः (अ. ७ १।८) यह कहा जाता है। एवं अर्थशक्तिमय होने से इस के लिए–'नूनं जनाः सूर्येण प्रसूता अयन्नर्थानि कृणवन्नपांसि' (ऋ. ७।६३।४) यह कहा जाता है। इन तीनों में अर्थ का कर्म में अन्तर्भाव है, अतः परमार्थ में ज्ञान–कर्म भेद से दो भाग ही रह जाते हैं। संसार के जितने भी कर्म हैं, सब सूर्य के कर्म भाग से सम्बन्ध रखते हैं। एवं संसार में जितनी भी ज्ञानशक्तियें हैं, वे सब सौरज्ञान के आश्रय से सञ्चालित हैं। इस प्रकार त्रैलोक्य विधाता, सहस्रांशु, विद्या–अविद्यात्मक सूर्य भगवान् विश्व के मध्य में प्रतिष्ठित होकर प्रजापति का यश फैला रहे हैं। जिस दिन इन का क्षय होजायगा, उस दिन सब कुछ अनुपाख्यतम के गर्भ में विलीन होजायगा। सूर्योभावकाल प्रत्यागम (प्रलयागम) है, सूर्यसत्ता व्यवहारागम (सृष्ट्यागम) है। यही प्रजापति का पुण्यवाद है। सर्वशास्ता सूर्य उत्पन्न कैसे हुआ? यह प्रश्न बच जाता है। इस के समाधान के लिए निम्न लिखित संवत्सरविद्या प्रकरण पर दृष्टि डालनी चाहिए।

स्मरण कीजिए उस स्थिति का जब कि न पृथिवी थी न चन्द्रमा था, न सूर्य था। उस समय यदि था तो क्या था? इस प्रश्न का समाधान करती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है–

> 'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास। ता अकामयन्त–कथं नु प्रजायेमहीति। ता अश्राम्यँस्तास्तपोऽतप्यन्त। तासु तपस्तप्यमानासु हिरण्मयमाण्डं सम्बभूव। अजातो ह तर्हि संवत्सर आस। तदिदं हिरण्मयमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेला, तावत् पर्यप्लवत। ततः संवत्सरे पुरुषः समभवत्। + + +। स इदं हिरण्मयमाण्डं व्यरुजत्। नाह तर्हि काचन प्रतिष्ठास। तदेनमिदमेव हिरण्मयमाण्डं यावत् संवत्सरस्य वेलासीत्तावद्बिभ्रत् पर्यप्लवत। तानि वा एतानि

पश्चात्पराथि तान् पश्चर्दनकुरुत, तऽइम पश्चर्वत' । स एवमिमाँल्लोकान् मावान् संवत्सरे प्रजापतिरभ्युदतिष्ठत् । स सहस्रायुर्जज्ञे । + + + । स आत्मन्येव प्रमा-तिमधत्त । + + + । स ऐक्षत प्रजापतिः—सर्वं वाऽअत्सारिषं—य इमा देवता असृक्षीति—स सर्वत्सरोऽभवत् । सर्वत्सरो ह वै नामैतत्—यत् संवत्सर इति"

(शत० ११ कां० १।६)।

"पृथिवी-चन्द्रमा-सूर्यादि की उत्पत्ति से पहिले सलिल (नाम से प्रसिद्ध) पानी ही था। पानियों नें इच्छा की कि अपन कैसे उत्पन्न होवें। इच्छानुसार उन पानियों ने तप किया, श्रम किय। । इस तप-श्रम से तप्यमान पानियों में सुनहरी अण्डा उत्पन्न हुआ। उस समय तक संत्सर उत्पन्न न हुआ था। उस समय यह हिरण्मयाण्ड यहां तक व्याप्त,जहां तक कि आज संवत्सरचक्र की सीमा है। एक वर्ष में यह (पुरमाव से युक्त होता हुआ) पुरुष बन गया। उस (आपोमय प्रजापति) नें हिरण्मयाण्ड की ओर दृष्टि डाली। उस समय (उस अण्ड में) कोई प्रतिष्ठा न थी। केवल संवत्सर की सीमातक प्रजापति उस हिरण्मयाण्ड को लिए हुए फिरता रहा। आगे जाकर पांच अक्षरों से ऋतुएं उत्पन्न की। इन ऋतुओं के सहारे आपोमय प्रजापति एक वर्ष में उठ खड़ा हुआ। आगे जाकर उसनें अपनी आयु के हजार वर्ष तक यज्ञ किया। (इस से प्रजा उत्पन्न हुई) प्रजाति नाम से प्रसिद्ध उस प्रजा को प्रजापति नें अपनें ही शरीर पर प्रतिष्ठित किया। आगे जाकर प्रजापति नें विचार किया कि अरे ! इस प्रजनन कर्म में) अपन तो अपना सब कुछ खो बैठे । प्रजा-पति के इसी भावनमय प्रवदन का नाम "सर्वत्सर" हुआ। यह सर्वत्सर ही आज "संवत्सर नाम से प्रसिद्ध है"।

सर्वत्र आपोमय पानी का साम्राज्य है। रस को "इरा" कहा जाता है। यह इरा नाम का रस ही अग्नि सम्बन्ध से अन बन जाता है। अभी प्रतिष्ठाग्नि उत्पन्न नहीं हुआ है, केवल

प्राणमूर्त्ति अग्नि का साम्राज्य है। उस समय पानी का रस भाग सर्वथा अव्यवस्थित है, मनप्रतिष्ठा का अभाव है। अतएव 'सरिदुभावमपी-(अव्यवस्थिता) इरा -(रसभागः) यस्या' " इस निर्वचन से पानी की यह प्राथमिक अवस्था "सरिर" नाम से प्रसिद्ध थी। पानी उस समय "सलिल" था इसका तात्पर्य यही है कि उस समय पानी का रस भाग सरिर था। सरिर ही सलिल का द्योतक है। इधर उधर बहते रहना, यह अप्तत्व का स्वाभाविक धर्म है। आपोमय परमेष्ठी स्वयं अप्तरूप है अतः इसे न्यायतः सलिल ही माना जासकता है। अभी "यह आप सर्वथा अशून्य है, सर्व (विराट् -भाव का उदय अभी नहीं हुआ है" यही बतलाने के लिए- 'आपो वा इदमग्रे सलिलमेवास' यह कहा गया है। इस आपोमय महदुक्थ के गर्भ में मनप्राणवाङ्मय सृष्टिसाक्षी अव्यय गर्भी बन रहा रहा है। कामना इस का निजधर्म है। इसी की कामना से मातरिश्वा की कृपा से वायुरूप पानी में सम्बन्ध होता है। बात यह है कि उस परमेष्ठी का पानी वायुरूप है। यह चरवायु स्थिर मातरिश्वा वायु से घिरा हुआ है। इस स्थिर वेष्टन के भीतर गतिधर्मा वायु अपना व्यापार करता रहता है। मातरिश्वा की सीमा तक जाकर यह वापस लौटता है। यदि सीमा न होती तो वायु को इधर उधर निकल जाने के लिए पर्याप्त धरातल मिल जाता। उस समय सघन का अवसर न आता। परन्तु पिण्डस्वरूपसमर्पक मातरिश्वा के वेष्टन से वायु को निकलने का अवसर नहीं मिलता। वह अपने गतिस्वभाव से परस्पर में टकरा जाता है। वायु के इसी संघर्ष से आग्नेय परमाणु उत्पन्न होजाते हैं। वायु का सघनरूप सहप्रयोग ही—'सहोबल' नाम से प्रसिद्ध है। यह अग्नि इसी बल से उत्पन्न हुआ है अतएव इसे 'सहोजा' कहा जाता है। इसी सहोजा अग्नि की मौलावस्था 'वाक्' नाम की तीसरी प्रकृति है। यह वाक्तत्व वही व्यापक सुपरिचित, सूर्यस्वरूपसमर्पक गायत्रीमात्रिकवेद् है। इसी वागूरत की उस आपोयोनि में आहुति होने से उक्त सहोजा अग्नि उत्पन्न हुआ है। 'आप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत' इत्यादिरूप से मनुने जिस बीज का उल्लेख किया है, वह यही वाग्ब्रह्म है। बीजावस्थापन्न वागूरेत आप में आहुत होकर संघर्ष से अग्निरूप से विकसित हुआ। सारे पारमेष्ठ्य समुद्र में अग्नि परमाणुरूप

से व्याप्त होगया। मातरिश्वा द्वारा अण्ड का स्वरूप बन चुका था। इस आपोमय अण्ड में चारों ओर अग्नि आतत्रूप से भरगया। अभी पिण्ड नहीं बना, केवल अग्निपरमाणुओं का उदय हुआ, यही हिरण्मयाण्ड कहलाया। यही अग्निपुञ्ज 'धूमकेतु' नाम से प्रसिद्ध हैं। यही धूमकेतु सूर्यपिण्ड के जनक हैं। इसी धूमकेतु का निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

(१)—इरयो धूमकेतवो वातजूता उप द्यवि।
यतन्ते वृथगग्नयः॥ (ऋक् सं० ८।४३।४)।

(२)—एतेत्ये वृथगग्नय इद्धासः समदृक्षत।
उषसामिव केतवः॥ (ऋक्स ८।४३।५)।

(३)—अप्स्वग्ने सधिष्टव सौषधीरनुरुध्यसे।
गर्भे सञ्जायसे पुनः॥ (ऋक्स० ८।४३।९)।

(४)—यदग्ने दिविजा असि, अप्सुजा सहस्कृत।
स त्वा गीर्भिर्हवामहे॥ (ऋक् सं० ८।४३।२८।)।

(५)—स नो महाँ अनिमानो धूमकेतुः पुरुश्चन्द्रः।
धिये वाजाय हिन्वतु॥ (ऋक् सं० १।२७।११)।

(६)—यदयुक्था अरुषा रोहिता रथे वातजूता वृषभस्येव ते रवः।
आदिन्वसि वनिनो धूमकेतुनाग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ (ऋ ११९४।११)।

● (१)—वायु से प्रेरित धूमकेतुरूप अग्नि अन्तरिक्ष में पृथक् पृथक् मार्ग से आ रहे हैं।

(२)—पृथक् पृथक् विचरण करने वाले वह (धूमकेतुरूप) अग्नि उषाओं द्वारा समिद्ध बनकर (सब म) प्रकट होरहे हैं।

(३)—हे अग्ने! आप का निवासस्थान पानी में है। ऐसे आप ओषधियों पर अनुग्रह कर उनके गर्भ में प्रविष्ट होकर (ओषधिरूप से) उत्पन्न होते हैं।

(४)—हे अग्ने! आप द्युलोक में, एवं पानियों में उत्पन्न होने वाले हैं। ओजोबल से आप (नित्य) युक्त हैं। ऐसे आप की हम वाणी से स्तुति कर रहे हैं।

(५)—(विपरिमाण न होने से अनिमान—दीप्त्यैकराहित-बलाकर- इत्यर्थः ...), चन्द्रकान्ति के समान प्रकाशित वह धूमकेतु नाम का अग्नि हमारी बुद्धि एवं कर्म (ज्ञान-कर्म) के लिए प्रसन्न करें।

वैदिक वैज्ञानिक तथ्यों का बड़ी ही प्रसाद भाषा में स्पष्टीकरण करने वाले अपान्तरतमा महर्षि के अवतार भगवान् कृष्णद्वैपायन (वेदव्यास) ने अपने सुप्रसिद्ध महाभारत ग्रन्थ में उक्त धूमकेतुओं की उत्पत्ति का बड़ा स्पष्ट प्रतिपादन किया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट है—

पुरास्ति मितमाकाशमनन्तमचलोपमम् ॥
नष्टचन्द्रार्कपवनं प्रसुप्तमिव संबभौ ॥१॥
ततः सलिलमुत्पन्नं तमसीवापरं तमः ॥
तस्माच्च सलिलोत्पीडादुदतिष्ठत मारुतः ॥२॥
यथा भाजनमच्छिद्रं निःशब्दमिव लक्ष्यते ॥
तच्चाम्भसा पूर्यमाणं सशब्दं कुरुतेऽनिलः ॥३॥
तथा सलिलसंरुद्धे नभसोऽन्ते निरन्तरे ॥
भित्त्वार्णवतलं वायुः समुत्पतति घोषवान् ॥४॥
स एष चरते वायुरर्णवोत्पीडसम्भवः ॥
आकाशस्थानमासाद्य प्रशान्तिं नाधिगच्छति ॥५॥
तस्मिन् वाय्वम्बुसंघर्षे दीप्ततेजा महाबलः ॥
प्रादुरभूदूर्ध्वशिखः कृत्वा निस्तिमिरं नभः ॥६॥

(१)—हे वत्स ! जिस समय [illegible] (वायुरूप ही) [illegible] से युक्त [illegible] की [illegible] हुए [illegible] हैं उस समय [illegible] महा [illegible] है। [illegible] (धूमादि से) [illegible] धूमकेतु नाम से [illegible] है। हे वत्स ! [illegible] 'हम [illegible] के हैं' [illegible])।

१ धूमकेतु की [illegible] में [illegible] है। [illegible] उपस्थित [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] 'धूमा [illegible]' [illegible] है।

अग्नि पवनसंयुक्त एव सम्राक्षिपते जलम् ॥
सोऽग्निर्मारुतसंयोगात् घनत्वमुपपद्यते ॥७॥
तस्याकाशं निपतित स्नेहस्तिष्ठति यो परः ॥
स संघातत्वमापन्नो भूमित्वमनुगच्छति ॥८॥
रसानां सर्वगन्धानां स्नेहानां प्राणिनां तथा ॥
भूमिर्योनिरिह ज्ञेया यस्यां सर्वं प्रसूयते ॥९॥

(महा० शान्तिप० मोक्षध० १८३ अ०।१२श्लो १७श्लो पर्यन्त)

उक्त मन्त्रदर्शन एवं व्यासवचन से पाठकों को विदित होगा कि आपोमय (वायुमय) महासमुद्र में इतस्ततः दोलायमान प्रदीप्त, सौरप्रकाशवत् प्रभासमान ज्वालापिण्ड ही धूमकेतु है। 'धूमकेतूनामेकसहस्रसस्येति—शशिचन्द्रासमानास्तीत्राः' के अनुसार धूमकेतु संख्या में एक-सहस्र माने जाते हैं। यही सहस्र धूमकेतु पृथक्पृथक्—'स सहस्रायुमको' प्रजापति की आयु के सहस्र विभाग हैं। यही अग्निपुञ्ज सूर्यपिण्ड के उत्पादक हैं। कोई एकसा धूमकेतु (राशिभूत अग्नि) क्रमशः केन्द्र में संघातभाव को प्राप्त होता हुआ सूर्यपिण्डरूप में परिणत होगया है। वह अग्निपुञ्ज परिभ्रमणशील था अतएव तदुत्पन्न सूर्य भी स्वस्थान पर घूमता हुआ अपने प्रभव परमेष्ठी के चारों ओर परिक्रमा लगा रहा है, एवं इतर धूमकेतु सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगा रहे हैं। उच्चावच स्थान भेद से इन की परिक्रमा का काल अनन्तवर्षों में विभक्त है। घूमते घूमते धूमकेतु जब सूर्य के समीप आता है, तभी वह हमारे दृष्टिपथ में आता है। यही इस का उदय काल माना जाता है। परिभ्रमणशील धूमकेतु से उत्पन्न सूर्य के परिभ्रमण से ही प्रवर्ग्यांशों से आगे जाकर शनि—मंगल—बृहस्पति—देवसेना—पृथिवी—बुध—भार्गव—कपिल—वराह—आदि पृथक् पृथक् अनेक अग्निगोल उत्पन्न हुए हैं। यह सब सूर्य के हैं। सूर्य पानी के गर्भ में उत्पन्न हुआ है, अतएव इन गोलों में केन्द्र में अग्नि है, बाहर

पानी है। केन्द्रस्थ अग्नि प्रजापति है। यह अस्मदादि प्रजानिर्माण में क्रमशः विसस्त (खर्च) होता हुआ कम होरहा है। जिस दिन अग्नि निःशेष होजायगा, इन गोलों का आयु समाप्त होजायगा। इसी क्रम से एक दिन सूर्य भी नष्ट होजायगा, रह जायगा वही सलिलावस्थापन्न केवल आपोमय समुद्र। धूमकेतु उत्पन्न होगा, फिर नया सूर्य, नया विश्व बनेगा। विश्वेश्वर के इस विश्वचक्र के अनादिनन्त प्रवाह को कौन जानसकता है।

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पाश्चात्य जगत्ने "तेजोमेघविचार" (Nebular Hypothesis) को प्रधानता दी है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता केन्ट और लाप्लास का कहना है कि "किसी समय सारा विश्व उष्ण वायुमय था। उस समय वायु रूप विश्व चक्र की तरह चारों ओर घूम रहा था। आगे जाकर क्रमशः मध्य भाग में घनभाव का उदय होने लगा। बाहर के भाग के सम्बन्ध विच्छेद होजाने के कारण ज्योतिर्गोल टूट टूट कर पृथक् पृथक् होगए। ये तप्त गोले जैसे जैसे ठंडे होते गए, वैसे वैसे पिघलते गए, आगे जाकर यह घन बनगए। इनका बाह्यभाग तो कठिन होगया, एवं भीतर का भाग उष्णावस्था में रहा। इस प्रकार अन्तरिक्ष में भूगोलों की उत्पत्ति हुई"।

तुलना कीजिए पूर्व—पश्चिम विज्ञान की। दोनों में से कौन यथार्थ में प्रथम द्रष्टा है। "पहिले वायु था, वह पिण्ड बना, पिण्ड पिघल गया, फिर कठिन होगया" इस रहस्य का क्रमिक विश्लेषण किसने सब से पहिले संसार के सामने रक्खा? उन्हीं वेद महर्षियोंने। आकाश से वायु, वायु से घन अग्नि, घन अग्नि से तरल पानी, तरल पानी से पुनः घन (पृथिवी) भाव— इस क्रम के (तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः, आकाशाद्वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिव्या ओषधयः, ओषधिभ्योऽन्नं, अन्नात् पुरुषः) प्रथम आविष्कर्ता हैं, हम कुपूतों के पिता पितामह। जिन की कि सन्तानें वेद का तिरस्कार कर आज के विशाल युग में उन विज्ञानाभिमानियों से पद दलित हो रही है। व्याकरण—न्याय—आप का उद्धार नहीं कर सकते उद्धारक है—एक मात्र वेद! वैदिक विज्ञान!! "वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयसकरः परः"।

प्रकृत का अनुसरण कीजिए। आपोमय (वायुमय) प्रजापति के गर्भ में धूमकेतुरूप हिर ण्मयाण्ड से आगे जाकर पिण्डात्मक सूर्य का जन्म हुआ, ऋतुओं का विकास हुआ, प्रजापति प्रजानिर्माण में युक्त होकर 'सर्वेश्वर' रूप संवत्सररूप में परिणत होगए। गायत्रीमात्रिक-पेद्धन, प्राणिशाश्रय, इन्द्राधरमय संवत्सराभिमानता यही सूर्य सत्य का अवतार है। पिण्डाग्नि मय होने से ही यह सत्य है। आपोमय परमेष्ठी सर्वप्रथम इसी सत्य को अपने गर्भ में धारण करता है। सूर्य पानी की गहराई में प्रतिष्ठित है—"अपां गमन्त्सीद" (शत०७।५।१।८)। इसी सत्य सूर्य का निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं—

१—"यत्तद् सत् सर्व त्रयी सा विद्या" (शत० ८।५।१।१८)।

२—"तस्यै वाचः सत्यमेव ब्रह्म" (शत० २।१।४।१०)।

३—"सत्यमेव य एष तपति" (शत० १४।१।२)।

४—"आपो वै (सौर)—देवानां प्रियं धाम" (तै० ब्रा० ३।२,४।२)।

उत्पन्न होकर यह हिरण्मयाण्ड चारों ओर समुद्र में घूमने लगा। आगे क्या हुआ? सुनिए। आजदिन 'संवत्सर' शब्द को कालवाचक समझा जा रहा है। यदि किसी विद्वान् से 'संवत्सर' शब्द अर्थ पूछा जाता है तो वह उत्तर में ३६० दिन के वाचक 'वर्ष' शब्द को प्रश्नकर्त्ता के सामने रख देता है। वस्तुतः संवत्सर शब्द काल का वाचक नहीं है, अपि तु अग्नि का वाचक है। इस संवत्सराग्नि के ही पञ्चर्तुरूप पांच विवर्त्त हैं। जिस मार्ग पर पृथिवी सूर्य के चारों ओर परिक्रमा लगाती है, वह मार्ग क्रान्तिवृत्त नाम से प्रसिद्ध है। इस क्रान्ति-मण्डल में व्याप्त जो सौर अग्नि है, उसी का नाम संवत्सर है। यह क्रान्तिवृत्त ही संवत्सर की वेला (परिधि—तट—अन्तिम सीमा) है। सूर्य से पृथिवी उत्पन्न होती है। उत्पन्न होकर सूर्य के चारों ओर घूमने लगती है। ऐसी परिस्थिति में अग्नि उत्पन्न हो तब तो सूर्य का स्वरूप सम्पन्न हो, सूर्य हो तब पृथिवी बने, पृथिवी हो तब संवत्सराग्नि की सीमा हो। इसी अभिप्राय से सूर्योत्पत्तिकाल की स्थिति को लक्ष्य में रखकर श्रुति ने "उस समय संवत्सर न था,

आज जो तुम संवत्सर की वेदी देख रहे हो, यहाँ तक केवल अग्नि भरा हुआ था, इस पर बड़े वेग से घूम रहा था" यह कहा है। पृथिवी एक वर्ष में इस आग्नेयात्मक संवत्सर के चारों ओर घूम आती है इसलिए संवत्सर शब्द वर्ष का वाचक बनता हुआ काल का वाचक बन गया है। वस्तुतः संवत्सर अग्नि का ही वाचक है।

सूर्य का जन्म हुआ, विद्या-कर्ममय विश्वात्मा का विकास हुआ। सारा विश्व आलोकित एवं पुलकित होगया। सूर्य में जो इन्द्रभाग है वह तो कर्म है, एवं चेतना भाग विद्या है। सौर इन्द्र रूपज्योति का (प्रकाश का) अधिष्ठाता है। इसी ज्योति को भूतज्योति कहते हैं। विद्याभाग ज्ञानज्योति है। दोनों में अनुग्राह्य-अनुग्राहक सम्बन्ध है। भूतज्योति ज्ञानज्योति पर प्रतिष्ठित है, ज्ञानज्योति भूतज्योति के आधार पर विकसित है।

हमारी बुद्धि जैसे अध्यात्मसंस्था को प्रकाशित करने वाला सूर्य है एवमेव यह सूर्य आधिदैविकसंस्था को प्रकाशित करने वाली (ईश्वर की) बुद्धि है। इस में अविद्या-विद्या दोनों भावों का सामान्य है, अत एव इस में ज्योति और तम का उदय होजाता है। दोनों भाव (प्रत्येक) चार चार भागों में विभक्त हैं। ज्योतिर्लक्षण विद्या भाग धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है, एवं तमोलक्षण अविद्याभाग अधर्म-अज्ञान-आसक्ति-अनैश्वर्य इन चार भागों में विभक्त है। यही सांख्याभिमत 'अष्टौ बुद्धय'* है। विद्या का चतुर्धा विभक्त ज्योतिर्भाग अव्यय के विद्याभाग का, एवं अविद्या का चतुर्धा विभक्त तमोभाग अव्यय के अविद्याभाग का अनुग्राहक है।

प्राकृतिक नित्य विपर्यय का ही नाम धर्म है, जैसा कि पुरुषाध्यधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है—(देखिए ई० वि० भा० पृ० —) प्राकृतिक विश्व को प्रकाशित करने वाली चेतना ज्ञान है। उस विश्वदेवी का सारे भूतों के गर्भ में प्रविष्ट रहते हुए भी भूतदेव से असङ्ग है, यही वैराग्य है। सर्वत्र अप्रतिहत से विजृम्भित रहने वाली काम कर

● इस विषय का विशद विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

की समष्टि 'ऐश्वर्य' है। नियतधर्म को आवृत करने वाला पाप्मा 'अधर्म' है। ज्ञानज्योति को आवृत करने वाला पाप्मा अज्ञान है। पदार्थों में ग्रन्थिबन्धन डालने वाला, रागद्वेष उत्पन्न करने वाला पाप्मा आसक्ति है। आत्मज्योति को आवृत कर उसे जडरूप में परिणत करदेने वाला पाप्मा 'अनैश्वर्य' है। ईश्वर के शरीर में (सूर्य के सम्बन्ध से) दोनों का सम्बन्ध है। सूर्य अपने प्राक्प्राण से विद्याधर्मरूपी दैवीसम्पत् का प्रवर्तक बनता है, एवं अवाङ्प्राण से अविद्याधर्मरूप आसुरीसंपत् का जनक बनता है, जैसा कि वाजसनेय श्रुति कहती है,

"स आस्येनैव (मुख्यप्राणात्मकप्राङ्प्राणेनेव) देवानसृजत। ते देवा दिवमभि-पद्यासृज्यन्त, तद्देवानां देवत्वं-यद्दिवमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय दिवेवास। + + + +। अथ योऽयमवाङ् प्राणः—तेनासुरानसृजत। त इमामेव पृथिवीमभिपद्यासृज्यन्त। तस्मै ससृजानाय तम इवास"। + + + +। तस्मादेतदृषिणाऽभ्यनूक्तम्—

'न त्वं युयुत्से कतमच्चनाहर्न तेऽमित्रो मघवन् कश्चनास्ति।
मायेत्सा ते यानि युद्धान्याहुर्नाद्य शत्रुं न नु पुरा युयुत्से॥"

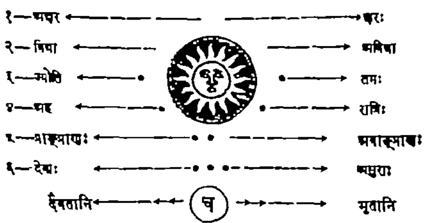
(शत० ११ कां० । १।६।७-८)।

उक्त श्रुति इन्द्रात्मक सूर्य प्रजापति से ही देव-असुर सृष्टि की प्रवृत्ति बतला रही है। 'देवता और असुर दोनों सूर्य (इन्द्र) की सन्तान हैं। इसी अवस्था में जो इन्द्र का असुरों के साथ युद्ध बतलाया जाता है, वह असत्य है' उक्त मन्त्रश्रुतिने इसी अर्थ का स्पष्टीकरण किया है। पृथिवी के सम्बन्ध से सूर्य में अहोरात्रभाव का उदय होता है। अह काल में सौर प्राण नामक प्राण की प्रधानता रहती है रात्रि में पार्थिव अपानप्राण की प्रधानता रहती है, इसी को अवाङ्प्राण कहा जाता है। पृथिवी सूर्य का ही उपग्रह है, अतः पार्थिव अवाङ्प्राण को

१—[illegible]

सूर्य का ही अवाक्प्राण मान लिया जाता है। पृथिवी में अविद्यारूप क्षरभाग की प्रधानता है, अतः पार्थिवभाग क्षरप्रधान बनता हुआ भूतप्रधान है। सूर्य में विद्यारूप अक्षरभाग की प्रधानता है। अतः सौरभाग अक्षरप्रधान बनता हुआ प्राणप्रधान है। भूतमयी पृथिवी की परिक्रमा से प्राणप्रधान सूर्य तमोमय आसुरीविभूति का आरम्भक बनता है। संवत्सरात्मक ज्योतिर्मय प्राक्प्राण से वही सूर्य दैवीविभूति का स्वरूप समर्पक बनता है। दिन में सूर्य की दैवीविभूति का, एवं रात्रि में आसुरीविभूति का साम्राज्य है, जैसा कि श्रुतिने—"स यदस्मै देवान् ससृजानाय दिवेवास, तदहरकुरुत। अथ यदस्मा असुरान् ससृजानाय तम इवास, तां रात्रिमकुरुत। तेऽहोरात्रे" इत्यादि रूप से आगे चलकर स्पष्ट कर दिया है।

सम्पत्परिलेख —



दैवीसम्पत् विद्याचतुष्टयी	देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः	आसुरीसम्पत् अविद्याचतुष्टयी

सुषगत विद्या (ज्ञान)–भाग सत्स्वरूप से एकरूप ही है । केवल पार्थिवभूत के सम्बन्ध से ही इसके चार विवर्त होजाते हैं । पार्थिवभूत पाप्मारूप होने से अविद्याप्रधान है । यह भूतभाग ही आत्मा को नियति से च्युत करता हुआ अधर्म का कारण बनता है। यही विस्फोटि का आवरक बनता हुआ अज्ञान का रागद्वेष का मूल बनता हुआ आसक्ति का, एवं आत्मविकास का प्रतिद्वन्द्वी होता हुआ अनैश्वर्य का प्रवर्तक बनता है । संसार में जितने अधर्म होते हैं, जितना अज्ञान है, जितनी आसक्ति है, जितना विकासाभाव है, उन सब की जड़ सांसारिक भूतसम्पत्ति ही है । इन चार उपाधियों के कारण ज्ञानस्वरूप से सर्वथा निरुपाधिक वह विद्याभाग भी चार भागों में विभक्त होजाता है । इस प्रकार केवल भूत की कृपा से एक ही बुद्धि आठ स्वरूप धारण कर लेती है ।

विद्याबुद्धय	अविद्याबुद्धय
१—धर्म ↔	१ अधर्म
२—ज्ञान ↔	२ अज्ञान
३—वैराग्य ↔	३ आसक्ति
४—ऐश्वर्य ↔	४ अनैश्वर्य



चार अविद्या विषयों के मूल पांच हैं । अभिनिवेश से अधर्म का उदय होता है । जिसे हठ–दुराग्रह कहा जाता है, वही अभिनिवेश है । 'गुरुपदेश–शास्त्र–लोकमर्यादा–आदि कुछ नहीं है । जो कुछ हम समझते हैं, वही ठीक है । हम भी मनुष्य हैं । हम अपना अच्छा बुरा स्वयं समझ सकते हैं" । इस प्रकार अपने आपको सर्व सर्वज्ञ समझ कर कल्पित सिद्धान्त बनाकर तदनुसार कर्म करना अभिनिवेश है । संसार में और सब रोगों की चिकित्सा सम्भव है, परन्तु 'हम नहीं मानते' कहने वालों की चिकित्सा स्वयं ब्रह्मा भी नहीं कर सकते 'न तु अभिनिविष्टमूर्खमनचित्तमाराधयेत्" । अध्यज्ञान ही अभिनिवेश का जनक है ।

सर्वथा मूर्ख को समझाया जा सकता है, विद्वान् सरलता से युक्तिसंगत बात को मान लेता है। परन्तु अर्द्धशिक्षितों का अनुशासन असम्भव है। ज्ञानलवदुर्विदग्ध अचिकित्स्य है। आज भारतवर्ष में इसी अभिनिवेश का साम्राज्य है। सभी शिक्षित माने जाते हैं, परन्तु सभी पूरे अभिनिविष्ट हैं। शास्त्र की मर्यादा भी नहीं समझते हैं। शास्त्रों में क्या है? इस के निर्णायक भी नहीं हैं, फिर चाहे संस्कृतवाङ्मय शास्त्र में इनका अणुप्रवेश भी न हो। युगधर्म के रहस्य वेत्ता भी नहीं हैं। तभी तो देश क्रमशः अवनति करता जा रहा है। कहना यह है कि अभिनिवेश अधर्मबुद्धि का जनक है, अधम नाश का कारण है। शिक्षा का अभाव अज्ञान का कारण है। बिना शास्त्राध्ययन के ज्ञान का आवरण नहीं हटता। रागद्वेष आसक्ति के जनक हैं, अस्मिता अनैश्वर्य की माता है। जो व्यक्ति निरन्तर 'हमारे पास कुछ नहीं है'—कुछ नहीं है' करता रहता है, वह शीघ्र ही सारी विभूति खो बैठता है। विकास रिक्त (खिन्नता) भाव है। अपने आत्मा में सब कुछ विभूति समझना हिरण्मय ऐश्वर्य का कारण है। प्रत्येक दशा में अकिञ्चन का अनुभव करना अस्मिता लक्षण अनैश्वर्य है।

१—अभिनिवेश से—अधर्म
२—अविद्या से —अज्ञान
३—रागद्वेष से —आसक्ति
४—अस्मिता से —अनैश्वर्य

पूर्व कथनानुसार ईश्वर के शरीर में पूर्वोक्त आठ विवर्त हैं। उस में दैवीसंपत् भी है, आसुरीसंपत् भी है। तथापि वह स्वस्वरूप से सदा निर्लिप्त रहता है। कारण इस का यही है कि वह समत्वयोग का अधिष्ठाता बना हुआ है। उसमें अविद्या है अवश्य, अन्यथा अविद्यामूलक संसार कैसे किससे उत्पन्न होता। परन्तु समत्वयोग के प्रभाव से वह कर्ममय विश्व में लिप्त होता हुआ भी अलिप्त है। अविद्यायुक्त होता हुआ भी अविद्या से अपरामृष्ट (असंग) है—"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (पातञ्जल—योगदर्शन)।

"सप्त वै देवसर्गाः" के अनुसार देवसर्ग सात भागों में विभक्त हैं। इन सातों देवसर्गों की प्रतिष्ठा सूर्य्य ही है अतएव सूर्य्य के लिए– 'मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः" (शत ९।७।१।-११)"स्वर्गो लोकः सूर्य्यो ज्योतिरुत्तमम्"(यजु सं २०।२१–शत १२।९।२९) इत्यादि कहा जाता है इन सात देवसर्गों के अतिरिक्त तीन विष्टपस्वर्ग और हैं। यह तीनों क्रमशः ब्रह्मविष्टप, विष्णुविष्टप इन्द्रविष्टप नामों से प्रसिद्ध हैं। तीनों की समष्टि 'त्रिविष्टपस्वर्ग' है। पृथ्वी के १७ वें अहर्गण से आरम्भ कर २५ वें अहर्गण तक जो एक प्राकृतिक यज्ञ होरहा है, वही नवाहयज्ञ ($\frac{१}{}$ ... इन अहर्गणों की समष्टिरूप) नाम से प्रसिद्ध है। इस नवाहयज्ञ के केन्द्र में (२१ वें अहर्गण में) सप्ताश्वरथाधिष्ठाता सूर्य प्रतिष्ठित है। पृथिवी के ३३ अहर्गणों में से किस अहर्गण पर सूर्य प्रतिष्ठित है ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए निम्नलिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१—"एकविंशो वै स्वर्गो लोकः" (शत० १०।५।४।६) ।
२—"एकविंशो वै इतः स्वर्गो लोकः" (तै० ब्रा० ३।१२।५।७)
३—"एष एवैकविंशो य एष (सूर्यः) तपति" (शत० ५।५।२।४)।

संवत्सरात्मक सूर्य्य की प्रतिष्ठा यही नवाहयज्ञ है। १७ तक पृथिवी का अपना प्राग है, १७ से २५ तक सौर संवत्सर का साम्राज्य है, इसी आधार पर– 'नवाहो वै संवत्सरस्य प्रतिमा" (षड्विं ब्रा ३।१२।) यह कहा जाता है। ४ अहर्गण सूर्य से नीचे हैं, एवं ४ अहर्गण सूर्य्य से ऊपर हैं। इन दोनों चतुष्टोमों की प्रतिष्ठा एकविंशस्तोमात्मक सूर्य्य ही है— "एकविंशो वै चतुष्टोमः स्तोमानां परमः" (कौ० ब्रा० ११।६) "प्रतिष्ठा वा एकविंशः स्तोमानाम" (तां० ब्रा० ३।७२)। इन में १७ वां स्तोम ब्रह्मविष्टप कहलाता है। यहां तक पार्थिव अग्निप्रजापति की प्रधानता रहती है। यही सप्तदशस्तोमस्थ अग्नि–'प्रजापतिः सप्तदशः' (ऐ० ब्रा० ८।४) के अनुसार प्रजापति कहलाता है। यही अग्नि 'आहवनीय' नाम से प्रसिद्ध है—(देखिए ऐ० ब्रा० १।२४–२६)। सप्तदशस्तोमस्थ इस आहवनीय अग्नि में सोम

की आहुति होती है । इस आहुति से यह अग्नि प्रज्वलित होकर २१ एकविंश स्तोम तक व्याप्त होजाता है । इसी सोमाहुति के प्रभाव से पार्थिव यज्ञ की एकविंश तक व्याप्ति मानी जाती है । इस यज्ञात्मक विष्णु के- त्रिवृत् (९), पञ्चदश (१५), एकविंश (२१) यह तीन विक्रम हैं । इन्हीं तीनों विक्रमों से (पादन्यासों से) वामनविष्णु ९-१५-२१ रूप पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ इन तीनों लोकों में व्याप्त हो जाते हैं । २१ पर विष्णु की व्याप्ति समाप्त है । यही २१ वां स्थान 'विष्णुविष्टप' कहलाता है—"तान् विष्णुरेकविंशेन स्तोमेनाप्नोत्" (तै० ब्रा० २।७।१४।२) । इसी विष्णुविष्टप को ब्रध्नस्यविष्टप्, स्वाराज्यपद आदि नामों से भी व्यवहृत किया जाता है-(देखिए तै० ब्रा० ३।८।१ ।२) । यही स्वर्ग-नाकस्वर्ग नाम से भी प्रसिद्ध है । २१ से २५ तक इन्द्र त्रिपुर का साम्राज्य है । इसी को सौम्यत्रिपुर कहा जाता है । यही सौम्यत्रिपुर उपनिषदों में-'अमानवपुरुष' नाम से प्रसिद्ध है । यही तीसरा इन्द्रविष्टप है । दूसरे शब्दों में यों समझिए कि २५ से २१ तक इन्द्र की प्रधानता है, २१ से १७ तक विष्णु की प्रधानता है, एवं १७ से १ तक पार्थिव ब्रह्मा की प्रधानता है । पार्थिव ब्रह्मा की मूलप्रतिष्ठा १७ वां स्तोम है विष्णु की मूलप्रतिष्ठा २१ वां स्तोम है, एवं सौम्यत्रिपुररूप इन्द्र की प्रतिष्ठा पञ्चविंशस्तोम है । इस प्रकार १७ से २५ तक के स्तोमों में से—१७-२१-२५ तीन तो विष्टपसर्गों में समाविष्ट हो जाते हैं । शेष रह जाते हैं—१८-१९-२०-२२-२३-२४ यह ६ स्तोम । इन के साथ में २१ वें का समावेश माना जाता है । यह २१ वां मिश्र है, विष्णुविष्टप् वाला २१वां मिश्र है । इस मिश्रता का कारण अग्नि और विष्णु है । १८ से २४ तक स्वर्ग्याग्नि नाम से प्रसिद्ध नाचिकेताग्नि का साम्राज्य है । फलतः मध्यपतित २१ वें स्तोम में भी नाचिकेताग्नि की सत्ता सिद्ध होजाती है । इस नाचिकेताग्नि के सम्बन्ध से २१ वां स्वर्गस्थ देवसर्गकोटि में प्रविष्ट है । उधर २१ पर विष्णु का भी प्रभुत्व है । विष्णु के सम्बन्ध से यह २१ वां विष्टप सर्गकोटि में भी प्रविष्ट है । इस प्रकार २१ के दो स्वरूप हो जाते हैं । यही सात देवसर्गों की मूलप्रतिष्ठा है । १८-१९-२० यह तीन देवसर्ग २१ से इधर हैं २२-२३-२४ यह तीन देवसर्ग २१ से उधर हैं, स्वयं २१ वां सातवां देवसर्ग है । यही तीन-ने"

मनुसार 'स्वरसाम' नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं के कारण सूर्यग्रहण होता है, जैसा कि अन्य ग्रन्थों में स्पष्ट है। यही सप्त स्वर्गसमष्टि 'त्रिणाचिकेतस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध है। यह सातों स्वर्ग क्रमशः अपोदक, अमृतभाषा, अपराजित, नाक, अधियौ, प्रद्यौ, रोचन, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। १८ से २४ तक व्याप्त रहने वाले एक ही अग्नि की सात भिन्न भिन्न अवस्थाएं हो जाती हैं। अग्नि की वे ही सातों अवस्थाएं क्रमशः—अग्नि, वायु, इन्द्र, आदित्य, वरुण, मृत्यु, ब्रह्मा, इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार सप्तदेवस्वर्ग–तीन विष्टप स्वर्ग–इन सब की समष्टिरूप ब्रह्माग्नि की प्रतिमारूप सौराग्निमय संवत्सर अचलरूप से खड़ा हुआ है। इस संवत्सर में सभी स्वर्गों का समावेश है। दूसरे शब्दों में यह स्वर्गों का टीला (पर्वत) है। अतएव इसे स्वर्गधरुण कहा जाता है। मिट्टी पाषाण आदि का जो एक उन्नत समूह होता है, उसे प्रान्तीय भाषा में टीला कहा जाता है। इसी के लिए वेद भाषा में 'धरुण' शब्द प्रयुक्त हुआ है। संवत्सर क्या है, स्वर्ग का धरुण है। प्रतिष्ठातत्त्व को ही धरुण कहा जाता है। सौर संवत्सर ही त्रैलोक्य की प्रतिष्ठा है। इस प्रतिष्ठा की भी मूलप्रतिष्ठा एकविंशस्थ आदित्य है, अतएव इसे भी 'धरुण' शब्द से व्यवहृत किया जाता है, जैसा कि अग्निश्रुति कहती है—

> "असावेवादित्यो धरुण एकविंशः। तद्यत्तमाह धरुणमिति, यद्वावैषो-ऽस्यमेति–अथेदं सर्वं ध्रियते" (शत० ८।४।१।१२)। "प्रतिष्ठा वै धरुणम्" (शत० ७।४।१।५)।

संवत्सर स्वर्गरूप धरुण (प्रतिष्ठा) है, इसलिए भी इसे *स्वर्गधरुण कहा जासकता है।* यही स्वर्गधरुण अथर्ववेद में 'स्कम्भ' (खम्भा) नाम से व्यवहृत हुआ है—"स्कम्भे सर्व प्रतिष्ठितम्," (अथर्व स० १०।४।७।१०)। यह अग्निस्कम्भ (संवत्सर) अविनाशी रूप से खड़ा है। यही द्यावा-पृथिवी का आलम्बन है। इस स्कम्भरूप स्वर्गधरुण के ऊपर (केन्द्र में) दिव्यरूप से सूर्य तप रहा है। संवत्सरचक्र आग्नेय है। यही एकचक्रात्मक (एक पहिए वाला) अग्निमय

मण्डल सूर्य का सुनहरी रथ है। गायत्री–उष्णिक्–अनुष्टुप्–बृहती–पङ्क्ति–त्रिष्टुप्–जगती नाम से प्रसिद्ध सात छन्द (सात पूर्वापरवृत्त, किंवा अहोरात्रवृत्त) रथ के सात घोड़े हैं। इन घोड़ों पर सूर्य सवार है। इस प्रकार नीचे स्वर्गभस्त्राकृप स्तम्भ, उस पर घोड़े, उस पर सूर्य प्रतिष्ठित है। इसी सूर्य को–'अश्मापृश्नि' कहा जाता है। अश्मा नाम के ध्रुव सोम की आहुति से ही सूर्य ज्योतिर्मय बन रहा है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

> महत्तद् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
> अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥
> (ऋक् सं० ९।९७।४१)।

इसी सोमाहुति से सूर्य में सप्तवर्णात्मिका रश्मियों का उदय होता है। सप्तवर्ण समष्टि ही (चित्र विचित्र वर्णों का समुच्चय ही) पृश्नि है। इसी अश्मा और पृश्नि भाव के कारण सूर्य को 'अश्मापृश्नि' कहा जाता है। अपि च जिस प्रकार एक अश्मा (पत्थर) स्थिर होता है, इसी प्रकार सूर्य स्वस्वरूप से अश्मासमान (पाषाणखण्ड) की तरह स्थिर है, सूर्य का रश्मि-मण्डल पृश्नि है। पिण्डापेक्षया सूर्य अश्मा है, मण्डलापेक्षया पृश्नि है। इस अश्मापृश्नि सौरमण्डल के साथ उक्षा, समुद्र, अरुण, सुपर्ण इन चार भावों का सम्बन्ध है। उक्षा शब्द वृषभ (बैल) का वाचक है, समुद्र शब्द पानी का वाचक है, अरुण शब्द पुरुष का वाचक है, एवं सुपर्ण शब्द पक्षी का वाचक है। सूर्य साक्षात् वृषभ है–'वृषभो रोरवीति'। रस–उपरस धातु–उपधातु–विष–उपविषादि की वृष्टि सूर्य से ही होती है, इसी वर्षण कर्म से इसे 'वृषभ' कहा जाता है। अपि च यही गौप्राण गौवंश का आरम्भक है। तात्पर्य यह है कि केवल वर्षणशील होने से ही सूर्य वृषभ नहीं है, अपि तु गौप्राणरूपेण सचमुच वृषभ (गौ) रूप है। सौर रश्मियों के संघर्ष से मरीचि नाम का पानी उत्पन्न होता है। सारा रोदसी त्रैलोक्य इस पानी से व्याप्त है। जैसे पारमेष्ठ्य समुद्र सरस्वान् कहलाता है, तद्वत् संवत्सरायतिरूपेण यह सौर रोदसी समुद्र अर्णव नाम से प्रसिद्ध है—'ततः समुद्रो अर्णवः समुद्रादर्णवादधि संव'

रसरो प्रभायत' (ऋक्सं० १०।१६०।२)। अपि च वज्र का अधिष्ठाता होने से भी आदित्य समुद्र-स्वरूप है। सूर्य ही एकमात्र वृष्टि का अधिष्ठाता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते॥
(ऋक् सं० १ १६४ अस्यवामीय सूत्र ४७ मं०)

'यदा खल्वसावादित्यो न्यङ् रश्मिभिः पर्यावर्तते—अथ वर्षति' इत्यादि ब्राह्मणश्रुति, एवं 'आदित्याज्जायते वृष्टिः' इत्यादि स्मृति भी उक्त अर्थ का ही स्पष्टीकरण करती है। पुरुष शब्द षोडशी आत्मा का वाचक है। पूर्व में बतलाया जा चुका है कि विश्वकेन्द्रभूत सूर्य में ही पुरुष का विकास होता है। इसी आत्मपुरुष को लक्ष्य में रखकर 'योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम्' यह कहा जाता है। त्रैलोक्य में जितना भी पुरुष (आत्म) विवर्त है, सब का अधिष्ठाता पुरुषावच्छिन्न सूर्य ही है। गरुड़ पक्षी का जैसा आकार होता है ठीक वैसा ही आकार सौर संवत्सर का है। अतएव पूर्व में संवत्सर को—'महासुपर्ण' (त्रैलोक्य व्याप्त गरुड़ पक्षी) कहा गया है। आत्मा इसी सुपर्ण का अंश है, अतएव प्रयाणकाल में आत्मा भी सुपर्ण नाम से ही व्यवहृत होता है। यह मेतरूप सुपर्ण (जीवात्मा) लोकान्तर में परिभ्रमण करता है। प्रसिद्ध गरुड़पुराण इसी आत्मगति रहस्य का निरूपण करता है। इस प्रकार उक्षा—(वृषभ), समुद्र (अर्णव), अरुष (पुरुष) सुपर्ण—(संवत्सर) इन चार भावों से नित्य आक्रान्त वह अरमापूरित सूर्य द्युलोक में उसी प्रकार खड़ा हुआ है, जैसे कि आकाश में निराधार (किन्तु स्वशक्ति से आधारयुक्त) विमान (वायुयान) खड़ा रहता है। रोदसी त्रैलोक्य में व्याप्त इसी विमान का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

विमान एष दिवो मध्य आस्त आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभिचष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्॥ (यजु सं० १७।५९)।
उक्षा समुद्रो अरुषः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवेश।
मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा वि चक्रमे रजसस्पात्यन्तौ॥ (ऋक्० ५।४७।३)।

"असौ वा आदित्योऽस्याः पृथिव्याः । रश्मिभिर्हि मण्डलं पृथिव्याः । एष इमौ लोका-वन्तरेण तपति । स्थिरो वा अस्याः पृथिव्याः, अन्तरेण च लोकमर्मुच । विक्रम-माणो वा एष एषां लोकानामन्वाह पाति" (शत० ६।२।१७)।

उपर्युक्त आधिदैविक स्वर्गचरण केवल ज्ञानगम्य है, मन से उपास्य है। चर्मचक्षु से अस्माद्रश्मिरूप सूर्य के अतिरिक्त आप स्वर्गचरण के और किसी अवयव को नहीं देख सकते। जिस समय भूमण्डल पर देवयुग का साम्राज्य था, उस समय देवताओं ने (मनुष्यविध भौम-देवताओं ने—जिनकी कि सत्ता आज सर्वथा उच्छिन्न हो चुकी है) भौमस्वर्ग प्रदेश में उस प्राकृतिक (आधिदैविक) स्वर्गचरण की नकल में ठीक वैसा ही एक स्वर्गचरण बनाया था। इसी प्रकार विज्ञानतत्त्वों की परीक्षा के लिए सिन्धु नद के उस पार सरस्वती नदी के समीप के टीले पर (जहां पर कि वसिष्ठ महर्षि का आश्रम था) एक विज्ञानभवन बनाया था। यही विज्ञानभवन 'सूपसद्म' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। 'द्वेते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः' (ऋक्० १०।८५।१६) इत्यादि रूपसे ऋग्वेद संहिता में इसका बड़ा विशद निरूपण है। यह भी प्रकृति की नकल पर ही बनाया गया था। विस्तारभय से इस का निरूपण प्रकृत में अनपेक्षित है। इस प्रकार उस समय की कलाओं में स्वर्गचरण और सूर्यभवन को सर्वोच्च स्थान दिया जाता था। दुष्टबुद्धि असुरों की कृपा से आज भूमण्डल उक्त दोनों विभूतियों से वञ्चित हो गया है। थोड़े से शब्दों में स्वर्गचरण की भी गाथा सुन लीजिए।

जिस प्रकार प्रकृति में त्रिलोकादि स्वर्ग बतलाए गए हैं इसी प्रकार भौम ब्रह्मा द्वारा इस भूपिण्ड पर त्रिलोकादि स्वर्ग व्यवस्था व्यवस्थित हुई थी। ईशानकोण में सौवीरराष्ट्र के अधि-ष्ठाता भौम इन्द्र का साम्राज्य था। जो भाग आज साइबीरिया (Siberia) नाम से प्रसिद्ध है, जिस भाग में आज तुषार वर्षण का (बर्फ का) साम्राज्य है जहां नरहिंसक नितान्त असभ्य कुछ एक जंगली मनुष्य, एवं कुछ एक जंगली पशु पक्षियों को छोड़कर कुछ नहीं है, वहीं का मध्य भाग किसी समय 'अमरावती' नाम से प्रसिद्ध था। यहीं देवाधिराट् इन्द्र अपनी

सुधर्मासभा में निर्णय किया करते थे । यहीं मेहराब नाम का दो मस्तक, एक ग्रीवा वाला मन्द्र युत स्वर्गीय पक्षी था, यहीं सफाद दांत वाले 'ऐरावत' नाम के हाथी होते थे । इस प्रकार देवयुग में उक्त स्थान मानव सम्यता का सर्वोत्तम स्थान बना हुआ था । ओर ओर सब देव स्थानों पर अधिकार कर लेने पर भी असुर इस दिशा में आक्रमण न कर सके । अत यह 'अपराजित दिक्' नाम से प्रसिद्ध हुई । यही एन्द्रधाम पुराणयुग में 'इन्द्रविष्टप' था । प्रागमेरु (पामीर) पर कान्तिमतीसभा युक्त प्राग्ज्योतिष नगर में ब्रह्मविष्टप था । एव उत्तर दिशा में इन्द्र० ब्रह्म० के मध्य में ध्रुव से नीचे के प्रदेश में भद्रगिरि—चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध दोनों पर्वतों के मध्य में विष्णुविष्टप था । इन तीनों की समष्टि ही उस समय 'त्रिविष्टपस्वर्ग' नाम से प्रसिद्ध थी । इनमें ब्रह्म और विष्णुविष्टप के मध्य में मेरु से उत्तर १७ अंश पर चौथा ब्रह्मनस्य विष्टप था । यही देवताओं की देवयजन भूमि थी । देवता यहीं यज्ञ किया करते थे । उत्तर रूस में जो आज के भुवनकोष (भूगोल) में 'वासकश' नाम से प्रसिद्ध है, वही देव युग में प्राची सरस्वती' नाम से प्रसिद्ध थी । देवलोग इसी नदी में अवभृथस्नान (यज्ञान्तस्नान) किया करते थे, यही स्थान ब्रह्मनस्यविष्टप था, यही स्वर्गपरुष था । यही स्वर्ग का परिचायक था । यहां से चारों ओर रास्ता जाता था । ईशान की ओर इन्द्रविष्टप का मार्ग, उत्तर की ओर विष्णुविष्टप का मार्ग, पश्चिम की ओर ब्रह्मविष्टप का मार्ग, एवं दक्षिण की ओर पितृमार्ग था । जिसे आज 'मंगोलिया' कहा जाता है, वही हमारा 'मर्त्यों' नाम का पितृलोक था । इस प्रकार चारों ओर गमन के मार्गों से युक्त इसी (चतुष्पथ-चौराहा) में स्वर्गवरुण खड़ा था । चतुष्पथ के ठीक बीच में एक चोकोर ऊंचा चबूतरा बनाया गया इस पर बड़े शिल्प से (नीचे से बड़ा, ऊपर से क्रमशः छोटा) एक पत्थर का स्तम्भ खड़ा किया गया, यही अश्मा था । इस अश्मा के सर्वोच्च धरातल पर ब्रह्मविवर्त (एको अश्वो वहति सप्तनामा—ऋक्० १ १६४।२।) धातु का एक अश्व बनाकर उसके मुख के सात मस्तक बनाए गए ।

इस सप्तमुख अश्व के पृष्ठ पर एक दण्ड खड़ा कर उस पर चमकता हुआ रश्मियुक्त सूर्य प्रतिष्ठित किया गया । रश्मिप्रसार के कारण ही इस का पृश्नि नाम रक्खा गया । यह बनावटी

सूत्र दिन-रात समान रूप से प्रकाशित रहता था। चारों मार्गों के पथिकों को मार्ग बतलाना इसका मुख्य काम था। स्तम्भ के नीचे चबूतरे के चारों ओर एक चतुर्भद्र मण्डप बनाया गया था। इस मण्डप के चारों कोणों में क्रमशः वृषभ-तडाग-संमुद्र मनुष्य सुपर्ण यह चार वस्तुएं प्रतिष्ठित की गईं थीं। एक कोण में पाषाण का वृषभ (बैल) खड़ा किया गया था। दूसरे कोण में बैल से ठीक नीचे एक गरुड पक्षी था। इस की आकृति ऐसी बनाई गई थी, जैसे सोमापहरण के लिए यह झपाटा मार रहा हो। तीसरे कोणमें अश्व पर एक मनुष्य बनाया गया था। उस के हाथ में एक भाला था, और वह भाला भूगर्भ में प्रविष्ट था। जिस स्थान पर भाला गड़ा हुआ था, वहां से पानी निकल कर चौथे कोण में बने हुए समुद्र (सरोवर) में निरन्तर जाता रहता था। इसी पानी से वह तालाब सदा भरा रहता था। आश्चर्य यह था कि भाले से निकलते हुए पानी के निरन्तर आने पर भी उस तालाब में से (और किसी मार्ग से पानी के बाहर निकलने का द्वार न होते हुए भी) पानी अपनी नियत सीमा का उल्लंघन नहीं करता था। देवशिल्पि इन्द्र के इस शिल्प से उस समय सारा विश्व चकित था। आधिदैविक स्वर्गचक्रस्थ की इस प्रतिमा से इन्द्र का यश सर्वत्र व्याप्त होगया था। इसी प्रतिमारूप भौतिक चक्र का निरूपण करते हुए श्रुति कहते हैं—

> इन्द्रे दीर्घाय चक्षसे आसूर्यं रोहयद्दिवि।
> वि गोभिरद्रिमैरयत्। (ऋक्सं० १।७।३)।
> इन्द्रो दिवः प्रतिमानं पृथिव्या विश्वा वेद सवना हन्ति शुष्णम्।
> महीं चिद्द्यामातनोत् सूर्येण चास्कम्भ चित्कम्भनेन स्कम्भनीयान् ॥
> (ऋक्० सं० १०।१११।५)।

आगे के परिलेख से स्वर्गचक्र की प्रतिमा का सब स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इन्द्र को प्रतिमा शिल्प से तत्कालीन प्रजाने इन्हें सर्वश्रेष्ठ माना था, जैसा कि " ततो वा इन्द्राय प्रजाः श्रैष्ठ्यायातिष्ठन्त-वसिष्ठत्वं परमत्वः " इत्यादि रूप से पूर्व में कहा जाचुका है।

विज्ञानघनसूपप्रकरण के सम्बन्ध से तत् सम्बन्धी संवत्सरात्मक स्वर्गचक्र का दिग्दर्शन

कराया गया, अब पुनः प्रकृत का अनुसरण करते हैं। यद्यपि विश्व की योनि महद्ब्रह्म ही है, तथापि जब तक वाङ्मय सूत्र का इस के साथ सम्बन्ध नहीं हो जाता, तब तक यह सृष्टि करने में असमर्थ ही रहता है। कारण इसका यही है कि सृष्टि की प्रवृत्ति सत्त्व रज-तम इन गुणों के आधार पर होती है। इन तीनों में भी सृष्टि का प्रधान मूल रजोगुण ही है। ज्ञानप्रधान सत्त्वगुण निष्क्रिय होने से, अर्थप्रधान तमोगुण जड होने से व्यापारमूला सक्रियसृष्टि में असमर्थ है। समर्थ है एकमात्र मध्यपतित क्रियाप्रधान रजोगुण। विश्व का मूल रज है। इस रज के साथ यदि सत्त्व की प्रधानता रहती है तो सात्विकी सृष्टि होती है, तम की प्रधानता से तामसी सृष्टि होती है, स्वयं रज की प्रधानता से रजोमयी सृष्टि होती है। ज्ञानरूप ज्योतिर्मय होने से शुभ्र (शुक्ल) माना जाता है, तम आवरणरूप होने से कृष्ण माना जाता है, एवं मध्यपतित रज 'रक्त' है। यही सृष्टि में प्रधानरूप से अनुरक्त है—'रजोजुषे जन्मनि सत्त्ववृत्तये'। महद् प्रकृति इन शुक्ल–रक्त–कृष्ण भावों से युक्त अज पुरुष की अजा है। दूसरे शब्दों में 'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार स्वप्रकृतिमूर्त, अतएव 'अजा' नाम से प्रसिद्ध इस महद् प्रकृति से युक्त होकर ही अजपुरुष सृष्टि किया करता है। जैसा कि—'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः' (श्वेता० ४। ५) इत्यादि से स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि सृष्टि महद्ब्रह्म के त्रैगुण्यभाव पर निर्भर है, एवं यह त्रिगुणत्व सूत्र के दर्शपूर्णमास यज्ञ से उत्पन्न होती है, जैसा कि पूर्व के महदात्मा प्रकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। सूत्र ज्ञान–क्रिया–अर्थ–मूर्ति है। यही तीनों भाव महद्ब्रह्म में सत्त्व-रज-तम रूप से विकसित होते हैं। सत्त्व-रज-तम तीनों ही गुण हैं, विषमावस्था में आते हुए तीनों ही भेद हैं। सत्त्व ज्ञानभाग को विकसित करता है, इस,से (ज्ञानोदय से) आनन्द आता है। सत्त्व का प्रवर्तक सूर्य ही है, अतएव—'सत्त्वादपि महानात्मा' इत्यादि रूप से बुद्धिरूप सूत्र को, किंवा सूर्यरूपा बुद्धि को 'सत्त्व' कहा जाता है—(दक्षिण, प्रत्येप० ६।७)। जिस जीवात्मा में सत्त्व की प्रधानता रहती है, उसमें ज्ञान और आनन्द (आत्मानन्द) दोनों का विकास रहता है। सत्त्व (चिदाभाग) अध्यात्म के विधारित आनन्द

विज्ञान को विकसित करता है। जो धीर सदा प्रसन्न रहते हैं, विचारशील हैं, बुद्धिमान् हैं उनमें सत्त्व की ही प्रधानता है। यह सदा ज्ञान से ही परिश्रम करते हैं। इनसे शरीरायास नहीं हो सकता। जिस में कर्मप्रवणता अधिक है, काम्य कर्मों में, सांसारिक धन्धों में जो रात दिन प्रवृत्त रहता है, उस में रजोगुण की प्रधानता समझिए। एवं प्रमाद–आलस्य–अतिनिद्रा–अतिभोजन–निरर्थक कालयापन–यह सब तमोगुण का चमत्कार है। (देखिए गीता० १४ अ०।६,७,८ श्लो०)। इस प्रकार उक्त तीनों गुण प्रकृति से (सौर दर्शपूर्णमास द्वारा) उत्पन्न होकर देहस्थित जीवात्मा को बन्धन में डाल देते हैं, जैसाकि स्मृति कहती है—

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥ (गीता० १४।५)।

इस प्रकार आपोयोनि में वासुदेव से उत्पन्न, महद्ब्रह्म में त्रैगुण्य का उदय करने वाला, अमृतरूप, अव्यय–क्षर के विद्या–अविद्या से उभयरूप बने हुए लोकस्रष्टा सहस्रांशु भगवान् विश्व के केन्द्र में प्रतिष्ठित हो रहे हैं। अध्यात्मसंस्था में आने वाला यही सौर भाग 'विज्ञानात्मा' नाम से प्रसिद्ध है। आधिदैविक विज्ञानात्मा (सूर्य) का निरूपण समाप्त हुआ, अब अध्यात्म निष्ठ सूर्य (विज्ञानात्मा) का दिग्दर्शन कराया जाता है।

विद्या–अविद्यात्मक यह सूर्य अध्यात्मजगत् में–'विज्ञानात्मा' 'बुद्धि' 'चाक्षुषपुरुष' 'प्रज्ञात्मा' आदि विविध नामों से प्रसिद्ध है। प्रत्येक आत्मा के साथ प्रभव, प्रतिष्ठा, योनि, आयतन, इन चार चार भावों का सम्बन्ध है। अध्यात्मसंस्था में जितने भी आत्मविवर्त हैं, सब के प्रभवादि भिन्न भिन्न हैं। आध्यात्मिक आत्माओं का उत्पत्तिस्थान प्रभव कहलाता है। जिस द्वार से यह शरीर में प्रविष्ट होते हैं, वह द्वार ही योनि है। आकर शरीर के जिस स्थान में यह उक्थरूप से प्रतिष्ठित होते हैं, वही प्रतिष्ठा है। एवं अर्क रूप से बाहर- यह


सर्गधरुणम्
उषा

षोडशी पुरुष का प्रभव सर्वव्यापक ईश्वर का षोडशी पुरुष (स्व पर सू च पृ इस त्रैलोक्य-रूप एक कक्षा का अधिष्ठाता षोडशी पुरुष) है। यह उसी का अंश है। कहीं कहीं शुक्र को भी इस का प्रभव माना गया है। शुक्र का निरूपण पूर्व प्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है। अत इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ब्रह्म सुब्रह्म की समष्टि रूपा विद्या-ब्रह्म-कर्ममयी अविद्या ही शुक्र है, यही वेद है। अध्यात्म में पहिले वेद का जन्म होता है, वेद से योगमाया प्रादुर्भूत होती है, योगमाया से जीवाव्यय प्रकट होता है। वेदमयी शुक्ररूपा योगमाया ही व्यापक षोडशी को परिच्छिन्न जीवषोडशी का प्रभव बनाने में समर्थ बनती है। ऐसी परिस्थिति में शुक्र योगमाया ईश्वराव्यय तीनों को ही जीवषोडशी का प्रभव माना जा सकता है। महानात्मा इस की योनि है। महत्सोम के द्वारा ही यह अध्यात्म-संस्था में प्रविष्ट होता है। परमाकाश सर्वोपरि है, इस के भीतर पुराणाकाश, इस में यहिरा काश, इस में शरीराकाश, इस में हृदयाकाश, सर्वान्तरतम दहराकाश (दभ्राकाश) है। यही उपयरूप से आत्मा प्रतिष्ठित रहता है। अर्क रूप से यह लोम-नखाग्रों को छोड़कर सर्वा ङ्गशरीर में व्याप्त है। इस प्रकार सम्पूर्ण शरीर इस का आयतन है।

दूसरा है शान्तात्मा नाम से प्रसिद्ध 'अव्यक्तात्मा'। स्वयम्भू इस का प्रभव है, शिरोगुहा योनि है, प्रतिष्ठा हृदय है, आयतन है सर्वाङ्गशरीर। तीसरा महानात्मा है। इस का प्रभव परमेष्ठी है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आयतन सर्वाङ्गशरीर है। चौथा विज्ञानात्मा है। इस का प्रभव सूर्य है, योनि केशान्त नाम से प्रसिद्ध ब्रह्मरन्ध्र है। यही 'नान्दनद्वार' (मान्दनद्वार) नाम से प्रसिद्ध है। प्रतिष्ठा हृदय है। आयतन सर्वाङ्गशरीर है। पांचवां प्रज्ञानात्मा (सर्वेन्द्रियमन) है। इस का प्रभव पार्थिवाप्सगर्भित चान्द्र सोम है, योनि शुक्र है, प्रतिष्ठा हृदय है, आयतन सर्वाङ्गशरीर है। ६ ठा इन्द्रियवर्ग है। इस में वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्र-मन पांचों के क्रमश अग्नि, वायु आदित्य, दिक्सोम, भास्वरसोम यह पांच देवता प्रभव हैं। महा प्राणावच्छिन्न प्रज्ञानमन योनि है। मुखगोल-नासिकागोल-चक्षु गोल-श्रोत्रगोल-ब्रह्मरन्ध्र यह पांच स्थान इन पांचों की प्रतिष्ठा हैं। एव यही नियत स्थान

इन के आश्रय हैं। सातवाँ शरीर है। पाञ्चभौतिक शरीर के पाँचों भूत प्रभव हैं, उत्पत्तिकाल में शुक्र शोणित इन भूतों की योनि है। उत्पत्यनन्तर पञ्चभूतसमष्टिरूप पञ्चविध अन्न (अन्न—जल—गर्मी—वायु—शब्द) योनि हैं, इन्हीं के द्वारा भूतों का आगमन होता है। आश्रय सर्वाङ्गशरीर है। आठवाँ प्राज्ञात्मा नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मा है। इस की वैश्वानर तैजस प्राज्ञ यह तीन कलाएं हैं। इन में वैश्वानर का प्रभव त्रिवृत्स्तोमस्थानीय पार्थिव चितेनिधेयाग्नि है, योनि नाभि है, प्रतिष्ठा दक्षिणपार्श्व है, आश्रय सर्वाङ्गशरीर है। आन्तरिक्ष्य पञ्चदशस्तोमस्थानीय वायु तैजसात्मा का प्रभव है, हृदय से निकल कर कण्ठ तक व्याप्त रहने वाली वेमोनाड़ी योनि है, हृदय प्रतिष्ठा है, आश्रय सर्वाङ्गशरीर है। एकविंशस्तोमावच्छिन्न दिव्य आदित्य (इन्द्र) प्राज्ञ का प्रभव है, सुषुम्णानाड़ी योनि है, भ्रूसंधि प्रतिष्ठा है, आश्रय सर्वाङ्गशरीर है। इन सब में प्रतिष्ठा भिन्न भिन्न बतलाई गई है, परन्तु अन्त इन सब की सामान्य प्रतिष्ठा है—'सर्वमेव प्रतिष्ठितम्'। कारण इस का यही है कि जब तक अन्नाहुति होती रहती है, तभी तक प्राणसत्ता है, प्राणसत्ता पर अध्यात्मजगत् की सत्ता है—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर" (गीता ८।४)।

तदिदं——सर्वम्		
षोडशीपुरुष ——पुरुष ——षोडशी		
१—अव्यक्तात्मा—अव्यक्तः———स्वयम्भू		इन्द्रियेभ्यः परार्था, अर्थेभ्यश्च परं मनः।
२—महानात्मा——महान्———परमेष्ठी		मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः॥
३—विज्ञानात्मा——बुद्धिः———सूर्य्य		महतः परमव्यक्तं, अव्यक्तात् पुरुषः परः।
४—प्रज्ञानात्मा——मन———चन्द्रमाः		पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परागतिः॥
५— { कर्म्मात्मा——भोक्तात्मा / इन्द्रियाणि——भोगसाधनानि / शरीरम्——भोगायतनम् } —पृथिवी		(कठोपनिषत् १ अ। ३ व। १०-११)

उक्त आत्मप्रपञ्चों में से प्रकृत में केवल विज्ञानात्मा के ही प्रभवादि का विचार अपेक्षित है। सूर्य इस का उत्पत्ति स्थान है, उत्पन्न होकर यह केशान्तद्वार से अध्यात्मसंस्था में प्रविष्ट होता है। ब्रह्मरन्ध्र नाम से प्रसिद्ध केशान्तस्थान से सतत आते रहने वाले सौरदेवमय इसी विज्ञानप्राण को आसुरप्राणप्रधान सौरश्मिरिक्षा से बचाने के लिए शिखा रखने का आदेश है। इस सुषुम्नाद्वार से विज्ञानशिव हृदयस्थ प्रज्ञानात्मा (मन) पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यहां उक्थरूप से प्रतिष्ठित होकर, अर्करूप से विज्ञानप्रकाश सर्वाङ्गशरीर में व्याप्त हो जाता है। हृदयबिन्दु से आरम्भ कर सूर्यकेन्द्र तक एक नियत मार्ग बना हुआ है। हृदय से नीचे पार्थिव अपानप्राण का साम्राज्य है, हृदय से आरम्भ कर ऊपर तक सौरप्राण की प्रधानता है। यह दोनों प्राण (पार्थिव अपानप्राण, सौर प्राणप्राण) क्रमशः पृथिवी और सूर्य, केन्द्र से बद्ध हैं। यही स्थान क्रमशः अधःस्वस्तिक एवं ऊर्ध्वस्वस्तिक नाम से प्रसिद्ध हैं। द्युलोकीय सौर स्वस्तिक ऊर्ध्वस्वस्तिक है, भूगोलीय पार्थिव स्वस्तिक अध स्वस्तिक है। इन दोनों स्वस्तिकों से उभयतः परिच्छिन्न बना हुआ यह अमृतपुरुष इतस्ततः विचरण किया करता है, जैसा कि श्रुति कहती है—

"अन्तरिक्ष माऽवनु रचरति-अमूममुभयतः परिच्छिन्नम्।
यथाय पुरुषोऽमूस उभयतः परिच्छिन्नोऽन्वरिक्षमनुचरति" ॥
(शत० ब्रा० १। १। २। ४।)।

इस स्वस्तिक का दिग्दर्शन पुरुषार्थाधिकरण में कराया जा चुका है—(देखिए ई वि-भा १४० पृ)। प्रत्येक व्यक्ति के उक्त दोनों स्वस्तिक भिन्न भिन्न हैं। यही दोनों स्वस्तिक हमारे जीवन की प्रतिष्ठा हैं। सौर-पार्थिव रस से ही हम उत्पन्न हुए हैं, एवं इन्हीं रसों से जीवित हैं। जब तक वैयक्तिक स्वस्तिक शान्त रहता है, तभी तक उस व्यक्ति की स्वस्ति (शिव—कल्याण) है। स्वस्तिभाव की प्रवृत्ति के कारण ही इन्हें 'स्वस्तिक' कहा जाता है। यह स्वस्तिकद्वय वृत्त के सम्बन्ध से चतुर्भुज बन जाता है। सृष्टिरहस्यवेत्ता जानते हैं कि प्रत्येक

प्राणी का स्वगोल एवं भूगोल निम्न है। इन निम्न मार्गों के रसों से ही तत्तत् प्राणियों के प्राण प्रतिष्ठित रहते हैं। इसी स्वस्तिकात्मा के लिए भारतीय वेदधर्म में स्वस्तिक का पूजन किया जाता है। स्वस्तिक एक नहीं, दो बनाए जाते हैं। द्वार के दक्षिणोत्तर पार्श्वों में दोनों स्वस्तिक चिह्न स्थापित किए जाते हैं। इनमें दक्षिण स्वस्तिक अध स्वस्तिक की, एवं उत्तर स्वस्तिक ऊर्ध्वस्वस्तिक की प्रतिमा है। इस से कहना यही है कि हृदय से नीचे रहने वाला, ब्रह्मग्रन्थि (मूलद्वार) से प्रविष्ट होने वाला पार्थिव अपानमाण अध स्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत भूकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। एवमेव हृदय से ऊपर रहने वाला, ब्रह्मरन्ध्र से प्रविष्ट होने वाला सौरप्राण (विज्ञानात्मा) ऊर्ध्वस्वस्तिक की प्रतिष्ठाभूत सूर्यकेन्द्र से नित्य बद्ध रहता है। जैसे नियत स्थान पर जाने के लिए नियत मार्ग बना रहता है, एवमेव प्रत्येक प्राणी के हृदय से आरम्भकर सूर्यकेन्द्र तक ऊर्ध्वस्वस्तिकरूप स्वतन्त्र मार्ग बने हुए हैं। यही मार्ग उपनिषदों में 'महापथ' नाम से प्रसिद्ध हुआ है। प्रत्येक प्राणी का विज्ञानात्मा अपने अपने ऊर्ध्वस्वस्तिकरूप नियत महापथों से प्रतिक्षण सूर्य में जाया करता है, एवं आया करता है। एक निमेष (पलक) में यह विद्युन्मय विज्ञानप्राण सूर्य में तीन बार जाकर लौट आता है। इस महापथ में विविधवर्णयुक्त सौररश्मियें व्याप्त रहती हैं। दूसरे शब्दों में इस मार्ग का स्वरूप सूर्यरश्मिएं ही हैं। व्यक्तिभेद से सर्वथा भिन्न इसी सुसूक्ष्म महापथ का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है—

> "अणुः पन्था विततः पुराणो मां स्पृष्टो ऽनुवित्तो मयैव।
> तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः ॥ १ ॥
> तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिङ्गलं हरितं लोहितं च।
> एष पन्था ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित् पुण्यकृत् तैजसश्च ॥ २ ॥
> (शत १४।७।२१)।

हृत्प्रतिष्ठ प्रज्ञान (मन) को आध्यात्मिक चन्द्रमा समझिए, तत्प्रतिष्ठ विज्ञान (बुद्धि) को सूर्य समझिए। विज्ञानात्मा की प्रतिष्ठा हृदयस्थ प्रज्ञान मन ही है। जिस प्रकार प्रकृति में

प्रभव-योनि-प्रतिष्ठा-आशय-परिलेख

१	१–प्रभव –(उत्पत्तिस्थानम्)–ईश्वरात्मा, शुक्र-योगमायाभ्याम् २–योनि –(प्रवेशद्वारम्)–महानात्मा (महत्सोम) ३–प्रतिष्ठा–(स्थितिस्थानम्)–सर्वान्तरतमो दहराकाश ४–आशय –(व्याप्तिस्थानम्)–शरीरम्	"पुरुषान्न परं किञ्चित्, सा-काष्ठा सा परा गतिः" षोडशीपुरुष→अमृतात्मा (अव्यक्तात् पुरुष परः)
२	१–प्रभव —स्वयम्भू २–योनि —शिरोगुहा ३–प्रतिष्ठा —हृदयम् ४–आशय —शरीरम्	—अव्यक्तात्मा-(प्राकृतात्मा) १—अव्यक्तम्) महसत्यात्मा (महत परं →)
३	१–प्रभव —परमेष्ठी २–योनि —शुक्रम् ३–प्रतिष्ठा — हृदयम् ४–आशय —शरीरम्	—महानात्मा (प्राकृतात्मा) २—महान्) महसत्यात्मा (बुद्धेरात्मा (परः) →)
४	१–प्रभव —सूर्य २–योनि —नाभ्दनम् ३–प्रतिष्ठा —हृदयम् ४–आशय —शरीरम्	—विज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ३—बुद्धिः) महसत्यात्मा (मनसस्तु परा →)
५	१–प्रभव —चन्द्रमाः (अन्नम्) २–योनिः—शुक्रम् ३–प्रतिष्ठा—हृदयम् ४–आशय —शरीरम्	—प्रज्ञानात्मा (प्राकृतात्मा) ४—मनः) महसत्यात्मा (इन्द्रियेभ्यः परं →)

६
१—प्रभव —भास्वरसोमः
२—योनि —प्रज्ञानम्
३—प्रतिष्ठा —अक्षरब्रह्म
४—आशय —पञ्चेन्द्रियाणि
} (इन्द्रियाणि (कर्मावच्छिन्न-शरीरस्य) पराण्याहुः) संकल्पविकल्पात्मकमिन्द्रिय- } मनः—१

—o—

७
१—प्रभव —दिक्सोम
२—योनि —प्रज्ञानम्
३—प्रतिष्ठा—श्रोत्रविवरे
४—आशय —मन (प्रज्ञानम्)
} श्रोत्रे २

—o—

८
१—प्रभव —आदित्यः
२—योनिः—प्रज्ञानम्
३—प्रतिष्ठा—चक्षुर्विवरे
४—आशय —मनः (प्रज्ञानम्)
} चक्षुषी ३

—o—

९
१—प्रभवः—वायु
२—योनिः—प्रज्ञानम्
३—प्रतिष्ठा—नासाविवरे
४—आशयः—मन (प्रज्ञानम्)
} नासिके (प्राणः) ४

—o—

१०
१—प्रभवः—अग्नि
२—योनिः—प्रज्ञानम्
३—प्रतिष्ठा—जिह्वा
४—आशय —मनः (प्रज्ञानम्)
} वाक् ५

पञ्चज्ञानकर्मेन्द्रियाणि—१

इन्द्रियाणि — पराण्याहुः

वैश्वानरतैजसप्राज्ञमूर्त्ति —

अग्निवाय्विन्द्रकृतात्मा प्राणात्मा वा कर्म्मात्मा देवसत्यः —

११ (१)
१—प्रभव—एकविंश आदित्य
२—योनि—सुषुम्णानाडी
३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
४—आशय—शरीरम्

} प्राज्ञात्मा—आदित्येन्द्र—देवसत्य—१ प्राज्ञ



१२ (२)
१—प्रभव—पञ्चदशो वायुः
२—योनि—तेजोनाडी
३—प्रतिष्ठा—हृदयम्
४—आशय—शरीरम्

} तैजसात्मा—वायु—देवसत्य—२ तैजस



१३ (३)
१—प्रभव—त्रिवृदग्नि[illegible]
२—योनि—नाभि
३—प्रतिष्ठा—जाठराग्नि
४—आशय—शरीरम्

} वैश्वानरात्मा—अग्नि—देवसत्य—३ वैश्वानर



निष्कर्ष——कर्म्मात्मा देवसत्य

शरीर—सूक्ष्मप्रतिष्ठा

१–प्रभव —पञ्चीकृता भूत
२–योनि —शुक्रशोणिते–मनस
३–प्रतिष्ठा—मन्निधिस
४–आश्रय —शरीरम्

अस्थिमांसादयो पञ्चपार्थिवा १

—•—

१–प्रभव —पार्थिवाश्चापि भूता
२–योनि —शुक्रशोणिते–भावश्च
३–प्रतिष्ठा—भाव
४–आश्रय —शरीरम्

असृग्मादयस्त्वरक्तपार्था

—•—

१–प्रभव —पञ्चीकृतोऽग्नि पार्थिव
२–योनि —शुक्रशोणिते–तेजश्च
३–प्रतिष्ठा —तेज
४–आश्रय —शरीरम्

ऊष्मा ३

—•—

१–प्रभव —पञ्चीकृतो वायु पार्थिव
२–योनि —शुक्रशोणिते–वायुश्च
३–प्रतिष्ठा—वायु
४–आश्रय —शरीरम्

चलन्तो वायुधातव ४

—•—

१–प्रभव —पञ्चीकृत आकाश पार्थिव
२–योनि —शुक्रशोणिते–शब्दश्च
३–प्रतिष्ठा —आकाश
४–आश्रय —शरीरम्

सुषिराणि ५

—•—

चन्द्रमा सूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं इसी प्रकाश के तारतम्य से जैसे वहां अमावास्या, पूर्णिमा, कृष्णाष्टमी, शुक्लाष्टमी आदि भाव उत्पन्न होते हैं, ठीक इसी तरह वह प्रज्ञानचन्द्र विज्ञानसूर्य से प्रकाशित रहता है, एवं प्रकृतिवत् आध्यात्मसंस्था में भी अमा-पूर्णिमा आदि भावों का उदय होता है। अन्तर दोनों में केवल इतना ही है कि प्रकृति का मास (महिना) ३० दिन का होता है, एवं आध्यात्मिक मास एक अहोरात्र का है। अह काल शुक्लपक्ष है, रात्रि काल कृष्णपक्ष है। प्रकृति में क्या होता है? पहिले इस का विचार कीजिए। सूर्य विश्वकेन्द्र में प्रतिष्ठित है। चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर परिक्रमा लगाता है। जब चन्द्रमा परिक्रमा लगाते लगाते पृथिवी के इस ओर आजाता है तो सूर्य का पूर्ण प्रकाश इस पर पड़ता है, इसी का नाम पूर्णिमा है। घूमते घूमते जब वह पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) चला जाता है तो चन्द्रमा का दृश्य भाग (पृथिवी की ओर का भाग) सौरप्रकाश से वञ्चित होजाता है। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा के संगम से दर्श (अमावास्या) का जन्म होता है—'दर्शः सूर्येन्दुसङ्गमः'। पृथिवी के केन्द्र से काटते हुए दक्षिणोत्तर एक रेखा लेजाइए। इस रेखाओं के प्रान्तभाग में जब चन्द्रमा आता है तो क्रमशः शुक्लाष्टमी, कृष्णाष्टमी का जन्म होजाता है। शुक्लाष्टमी में सायंकाल आधा (चतुर्थ) चन्द्रमा प्रकाशित रहता है, एवं कृष्णाष्टमी में रात्रि के १२ बजे आधा चन्द्रमा प्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में सारा चन्द्रमा प्रकाशित नहीं रहता, एवं न अमावास्या में पूरा चन्द्रमा काला रहता। अपि तु प्राकृतिक स्थिति के अनुसार आधा चन्द्रमा ही प्रकाशित-अप्रकाशित रहता है। पूर्णिमा में दृश्य आधा भाग प्रकाशित है, अदृश्य आधा भाग अप्रकाशित है। अमा में पृष्ठभाग प्रकाशित है पृथिवी की ओर का आधा भाग अप्रकाशित है, अतएव वह नहीं दीखता। इस स्थिति के अनुसार अष्टमी में चतुर्थ भाग को ही प्रकाशित अप्रकाशित मानना पड़ता है। वास्तवत् सभी तिथियों में सदा ही आधा भाग प्रकाशित, एवं आधा भाग अप्रकाशित रहता है। हमारी दृश्यस्थिति के अनुसार हम एक कला-दो कला-तीन कला-इस प्रकार कलाविभाग मान लेते हैं। यह है आधिदैविक जगत की परिस्थिति।

अब आध्यात्मिकसंस्था का विचार कीजिए। हृदय से ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त त्रैलोक्य की सत्ता समझिए। इस त्रैलोक्य का अधिष्ठाता हृदयस्थ विज्ञानसूर्य है। हृदय पर मनरूप चन्द्रमा प्रतिष्ठित है। हृदय बिन्दु से आरम्भ कर ब्रह्मरन्ध्र पर्यन्त सोमधरातल है। इसी को 'भारत' (भिर-र यति) कहा जाता है-(देखिए प्रश्नोपनिषत् २। २।) मुखस्थान अग्निप्रधान पृथिवीलोक है। नासिकास्थान वायुप्रधान अन्तरिक्षलोक है। चक्षुस्थान आदित्यप्रधान द्युलोक है। श्रोत्रस्थान दिक्सोमप्रधान चौथा आपोलोक है। स्वयं ब्रह्मरन्ध्र मन की अन्तिम प्रतिष्ठा है। इस प्रकार इस सोमधरातल पर इन्द्रियरूप त्रैलोक्य किंवा चारों लोक प्रतिष्ठित हैं। कण्ठस्थान में एक मांसपेशी अधर लटकी रहती है, इसी के लिए-'स्तन इवावलम्बते' यह कहा जाता है। यही गलस्तन लोकभाषा में 'कागली' नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषद्भाषा में यही 'इन्द्रयोनि' नाम से व्यवहृत हुई है। इस की स्थिति वाक् (मुख) इन्द्रिय के समधरातल पर है। यही वास्तविक भूलोक है। ब्रह्मरन्ध्र से एक प्रादेश पर यह कण्ठबिन्दु है, कण्ठ से एक प्रादेश पर हृदय-बिन्दु है। यहां से मन ऊपर की ओर चलता है। चलते २ वाग्रूप पृथिवी लोक को पार कर जब यह अपनी अन्तिम सीमारूप ब्रह्मरन्ध्र पर पहुंच जाता है तो ऐसी अवस्था में इस पर हृदयस्थ विज्ञानसूर्य का पूर्ण प्रकाश पड़ता है। यही इस की पूर्णिमा है। इन्द्रिएं इस समय प्रकाशित मन से नीचे हैं, अतएव मन के प्रकाश से सारी इन्द्रिएं प्रकाशित हो पड़ती हैं। मानस प्रकाश को प्राप्त करते ही इन्द्रिएं अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं। इसी पूर्णिमाकाल का नाम 'जाग्रदवस्था' है। यहां से मन क्रमशः नीचे उतरता है। जब वाक्स्थान पर आता है तो ऊपर की इन्द्रियों में अन्धकार हो जाता है। श्रोत्र का शब्दश्रवण, चक्षु का रूपदर्शन, रसना का स्वादग्रहण सब अवरुद्ध हो जाते हैं। हां मुख्य (नासा)-प्राण इस समय भी, इस समय भी क्या 'प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति' (प्रश्नोप० ४। ३।) के अनुसार सदा ही जागता रहता है। श्वास-प्रश्वास घोर सुषुप्तिकाल में भी यथावत् चलते रहते हैं। वाक् इन्द्रि-स्थान है यही अपनी है "वागग्नी प्रज्ञया संविदाना"(शत० १४। २। ४।)। यही मध्य की सन्धिस्थानीया 'स्वप्नावस्था' है। इस में और किसी इन्द्रिय पर तो प्रकाश नहीं रहता, परन्तु

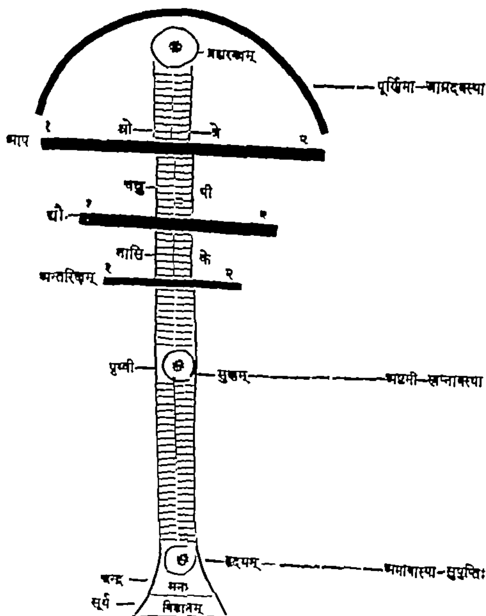
वाक् पर थोड़ा सा प्रकाश रहता है। यही कारण है कि स्वप्नावस्था में मनुष्य न देख सकता, न सुन सकता, न सूंघ सकता, न स्वाद लेसकता, परन्तु वाग्व्यापार करता रहता है। चूंकि पर्याप्त प्रकाश नहीं है, अतएव यह स्वप्नवाक् अनर्थक होती है "सुप्तोऽहं किल विललाप" (उदयनाचार्य कृत कुसुमाञ्जलि)। स्वप्नावस्था में मनुष्य व्यर्थ वाक् का प्रयोग करता हुआ देखा जाता है। मन क्रमशः नीचे उतरता हुआ जब हृदयस्थ विज्ञान सूर्य के समधरातल पर आजाता है तो ऊपर के त्रैलोक्य मण्डल में घोर अन्धकार हो जाता है। यही सूर्येन्दुसमागम रूपा अमावास्या है, यही 'सुषुप्तिकाल' है। यहां वाग्व्यापार भी बंद हो जाता है। घोर निद्रा में सारी इन्द्रिए (मुख्य प्राण को छोड़ कर) सर्वथा स्तब्ध बन जाती हैं। इस प्रकार चान्द्र मन की परिक्रमा से अध्यात्मजगत में भी दर्शादि का समन्वय सिद्ध हो जाता है।

उक्त प्रकरण से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि मन में जो प्रकाश है, वह विज्ञानसूर्य की ही महिमा है। साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि अन्नप्रधान आध्यात्मिक जगत् में प्रधानता 'मन' की ही रहती है। मन ही विज्ञान की प्रतिष्ठा है। जिस का मन मर जाता है उसकी बुद्धि भी नष्ट होजाती है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि मन पार्थिव अन्ना हुति से बनता है "अन्नमयं हि सोम्य मनः"। यदि दो चार दिन अन्न नहीं खाया जाता है तो मन निर्बल होजाता है, क्षीणकाय बन जाता है। उसी समय मन पर प्रतिष्ठित रहने वाला विज्ञान भी निर्बल होजाता है, विचार शक्ति नष्ट हो जाती है "बुभुक्षित न प्रतिभाति किञ्चित्" * "स्वस्थे चित्ते बुद्धयः संस्फुरन्ति"। विज्ञान-प्रज्ञान दोनों सपरिष्वक्त (एक दूसरे से मिले हुए) रहते हैं। विज्ञानतत्व महद्गर्भित चिज्ज्योति (आत्मज्योति) से प्रकाशित है, प्रज्ञान चिद्घन विज्ञान से प्रकाशित है। इन्द्रिए विज्ञानज्योतिर्मय प्रज्ञानज्योति से प्रकाशित हैं। विषयजात (भौतिक प्रपञ्च) प्रज्ञानज्योतिर्मय इन्द्रियज्योति से प्रकाशित हैं। इस प्रकार आत्मज्योति का भूतपदार्थों तक वितान करना विज्ञानपञ्चाधिष्ठाता एक मात्र विज्ञान का ही काम है।

उपनिषत् प्रेमियों को विज्ञानात्मा के सम्बन्ध में आज एक आश्चर्यमयी स्थिति बतलाते हैं। विज्ञानात्मा को तत्त्वरूप से जहां हमने स्थिर बतलाया है, वहां अर्करूप से उसे सप्ताङ्गशरीर

में व्याप्त बतलाया है। इस की व्याप्ति का पूर्ण विकास केवल दक्षिण चक्षु (दहिनी आंख) में ही होता है, क्या यह कम आश्चर्य है। हृदय से विकृत विज्ञान दक्षिण आंख पर आकर आंख से बाहर निकलता है। बाहर एक प्रादेश तक ही इस की गति होती है। दृष्टि के अनूक और प्रतीक यह दो भेद हैं। सीधी दृष्टि अनूकदृष्टि कहलाती है, तिरछी दृष्टि प्रतीकदृष्टि कहलाती है। आप प्रतीकदृष्टि से इस चाक्षुष पुरुष को देख सकते हैं। इस के विविध प्रकार के २१ रूप होते हैं। यह सूर्य का अंश है, सूर्य स्वयं एकविंश है, अत एव तदंशभूत विज्ञानात्मा के २१ ही रूप होजाते हैं। इस पर आप दृष्टि नहीं ठहरा सकते। दक्षिण आंख के प्रतीकभाव से आप ज्यों ज्यों इसे देखते जाओगे, त्यों त्यों यह इधर उधर दौड़ता हुआ दिखाई देगा। इसे देखना विज्ञानात्मा की सर्वोत्तम उपासना है। यह इन्द्रात्मक है, पुरुष रूप है। दक्षिणाङ्ग पुरुष प्रधान है, अतएव दक्षिणचक्षु में ही इस का विकास होता है। वामचक्षु में भी प्रतीकदृष्टि से आपको एक बिन्दु के दर्शन होंगे, परन्तु यह इन्द्रपत्नी है। वामाङ्ग स्त्री प्रधान है, अत इन्द्रपत्नी का विकास वामचक्षु में ही होता है। उक्त विज्ञान को आप सर्षप (सरसों) के आकार में देखेंगे। मक्षिका (मक्खी) के पर में जैसा विचित्र वर्ण (रंग) है, इस का ठीक वैसा ही रंग है। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि आप इसे सूर्यप्रकाश (धूप) में न देख सकेंगे। यह जब भी दीखेगा, पार्थिव तमोमय पूपामाया के गर्भ में (छाया में) ही दीखेगा, जैसा कि आगे आने वाले 'हिरण्मयेन पात्रेण'• इत्यादि मन्त्रभाष्य में स्पष्ट होने वाला है। इस का चक्षु से प्रादेश मात्र (१०॥ अङ्गुल) बाहर निकलना बतलाया गया है। वस्तुतः यह चक्षु से बाहर नहीं निकलता, केवल बाहर निकला हुआ दिखाई देता है। आदर्श (काच— आइना) में आप अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं। यदि आप आदर्श से दूर हटते जाते हैं तो आपको अपना प्रतिबिम्ब भी काच के भीतर पीछे हटता हुआ प्रतीत होता है, ज्यों ज्यों आप काच के समीप आते जाते हैं, त्यों त्यों ऐसा प्रतीत होता है, मानो आपका प्रतिबिम्ब समीप आता जाता है। वस्तुतः काच एक घन पदार्थ है, न उस में पीछे हटने के लिए स्थान है, न आगे आने के लिए स्थान है। प्रतिबिम्ब एक ही धरातल पर प्रतिष्ठित है। केवल कांच की

आध्यात्मिक अवस्थात्रयी-परिलेख



बीव्रता ही प्रागति-गतिभाव उत्पन्न कर देती है। ठीक यही स्थिति यहाँ समझिए। चक्षु पटल एक प्रकार का काच है। इस पर हृदयस्थ विज्ञान का तेजोनाड़ी द्वारा प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह जब रश्मिरूप से कण्ठस्थान में स्थित स्वयोनि (इन्द्रयोनि) पर जाता है तो चक्षु के बाहर एक प्रादेश हटा हुआ मालूम होता है, क्योंकि इन्द्रयोनि हृदय से एक प्रादेश पर है। स्वस्थान पर लौट आने से केवल चक्षु पर ही प्रतिबिम्बित रहता है। इस प्रकार अनेक रूप धारण करने वाला, इन्द्रमूर्ति यह विज्ञानात्मा चक्षु सम्बन्ध से–'चाक्षुषपुरुष', दक्षिणाक्षि सम्बन्ध से 'दक्षिणाक्षिपुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। सौर विज्ञानपुरुष की उपनिषत् (प्रतिमा) 'अहः' (प्रकाशमण्डल) है, इस चाक्षुषपुरुष की उपनिषत् 'अहम्' (चिद्गर्भित महान्) है। दोनों का परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। आदित्यपुरुष रश्मिरूप प्राणों से इसके साथ, विज्ञानपुरुष प्राणरूप रश्मियों के साथ उसी पूर्वोक्त महापथ में संयुक्त हो रहे हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"तद्यत् तत् सत्यमसौ स आदित्यः। य एष एतस्मिन् मण्डले पुरुषः,
यश्चायं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः, तावेतावन्योऽन्यस्मिन् प्रतिष्ठितौ।
रश्मिभिरेषोऽस्मिन् प्रतिष्ठित, प्राणैरयममुष्मिन् (प्रतिष्ठितः)"।

(बृहदा० उप० ५ ५।) इति।

इस की प्रतिष्ठाभूमि हृदयस्थ है। जिस प्रकार एक दीपशिखा स्थिररूप से प्रकाशित रहती है एवमेव हृदय के अग्रभाग में दीपार्चिरूप विज्ञानप्रभु प्रकाशित हो रहा है, जैसा कि योगी याज्ञवल्क्य कहते हैं—

अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि।
सितासिता कर्बुरूपाः कपिला नीललोहिताः॥ १॥
ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति-परां गतिम्॥ २॥

(याज्ञ स्मृ. प्रा अ यतिधर्मप्रकरण १६६–१६७ श्लो)।

यह वायुपुरुष सौर होने से असंग है, उधर प्रज्ञानात्मा चान्द्र होने से ससंग है। सौर अग्नि जहाँ तेजःप्रधान बनता हुआ असंगभाव का प्रवर्तक है, वहाँ चान्द्रसोम स्नेह प्रधान बनता हुआ ससंगभाव का प्रवर्तक है। वायुपुरुष विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का अंश है एवं इस में भी विद्या-अविद्या दोनों मार्गों की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यदि यह विज्ञानात्मा प्रज्ञान मन की ओर झुक जाता है तो इस का अविद्याभाग विकसित हो जाता है। कारण इस का यही है कि भौतिक विषय आवरणरूप हैं, जड़ हैं। इन विषयों में इन्द्रियों के द्वारा मन आसक्त रहता है। मन स्वभावतः विषयों की ओर अनुगमन करता रहता है—(दौड़ लगाता रहता है)। इस अनुगमन का कारण यही है कि मन की जीवनीय संपत्ति चिदानन्द है। विज्ञान द्वारा आया हुआ चिदानन्द (अव्ययानन्द) ही मन का स्वरूपनिर्माता है। एवं विज्ञानवाद का यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि जिस तत्त्व से जिस वस्तु का उदय होता है, वह वस्तु उस प्रभव के आगमन से ही जीवन धारण करने में समर्थ होती है। मन का स्वरूपसंपादक चूंकि आत्मानन्द है, अतः मन को स्वरूपरक्षा के लिए प्रत्येक दशा में आनन्द (सुख) अपेक्षित है। सुख की चाह करना, सुख प्राप्ति के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहना मन का स्वाभाविक धर्म है। मन की इसी सुखैषणा (सुखेच्छा) का नाम है—'कामना', यही बुभुक्षा है। इसे शान्त करने के लिए मन बाहर निकलता है। इस के निकलने के द्वार इन्द्रिए हैं। इन्द्रियों की गति पराङ् (बाहर की ओर—विषयों की ओर) है। प्रजापति ने इन्द्रियों का रुख बाहर की ओर किया है। जो चक्षु बाहर के रूपों को देखा करता है, वह अपने ही स्वरूप देखने में असमर्थ है, फिर प्रत्यक् आत्मा पर उस का गमन कैसे सम्भव है। इसी प्रकार सभी इन्द्रिए स्वस्वरूप को देखने में असमर्थ होती हुईं, आत्मदर्शन में नितान्त असमर्थ बनती हुईं, केवल विषयभोग में लीन रहती हैं, जैसा कि निम्नलिखित श्रुति वचनों से स्पष्ट है—

"पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥

(कठोपनिषत् २।१।१)।

न तत्र चक्षुर्गच्छति, न वाग्गच्छति, नो मनो, न विद्मो, न विजानीमो,
यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादपि" (केन० १। ३।)।

विषयों में जो आनन्द है वह इन्द्रियों से आया हुआ है। विषय आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु इन्द्रिए आनन्द का कारण हैं। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि जबतक इन्द्रिएं स्वस्थ रहतीं हैं, सबल रहतीं हैं, तभी तक विषय आनन्दमय मालुम होते हैं। इन्द्रियों के रुग्ण हो जानें पर, निर्बल होजानें पर, अथवा नष्ट होजानें पर वही विषय तुच्छ बन जाते हैं। इन्द्रियों में जो चिदानन्द का विकास है, वह भी इन्द्रियों की निजी संपत्ति नहीं है, अपि तु मन के द्वारा यह आनन्द इन में आया है। फलतः इन्द्रिए भी आनन्द का कारण नहीं हैं, अपि तु मन आनन्द का कारण है। जब तक मन स्वस्थ दशा में रहता है, तभी तक देखनें, सुननें, खानें पीनें बोलनें में आनन्द आता है। यदि मन किसी कारण से व्याकुल होजाता है तो इन्द्रिए सर्वथा स्वस्थदशा में रहतीं हुई भी दुःख का कारण बन जातीं हैं। उस समय कुछ अच्छा नहीं लगता। मन में जो आनन्द है, वह भी मन की प्रातिस्विक संपत्ति नहीं है। विज्ञानात्मा से ही इस में चिदानन्द का आगमन हुआ है। अतएव जिसमें विज्ञान (बुद्धि) का विकास रहता है, वही विषयजात से वास्तविक आनन्द उठा सकता है। बुद्धिमान् मनुष्य के लिए जहां चन्दनगन्ध आनन्द का कारण है, एक गर्दभ के लिए वह चन्दन सामान्य काष्ठ से अधिक महत्व नहीं रखता—'यथा खरो चन्दनभारवाही, भारस्य वेत्ता न तु सौरभस्य'। विज्ञान में ही आनन्द है। बुद्धिनाश सर्वनाश का कारण है। जिस की अकल (अवल) मारी गई, वह क्या कर सकता है। इसी प्रकार विज्ञान का आनन्द भी खुद की संपत्ति नहीं है। अपि तु सत्य नाम से प्रसिद्ध, अहम्भावप्रवर्तक महद्गर्भ में प्रतिष्ठित आत्मानन्द से ही विज्ञान आनन्दमय बना हुआ है। जब तक 'अहं' (आत्मा) है, तभी तक विज्ञान है। जब अहम्भाव (आत्मा) मूर्च्छित हो जाता है, अथवा शरीर से उत्क्रान्त होजाता है तो सारी अध्यात्मसंस्था उच्छिन्न हो जाती है। इस प्रकार अन्ततो गत्वा आत्मानन्द को ही मुख्य आनन्द मानना पड़ता है। बात है भी ठीक। जो धन उधार लिया जाता है, उस से वास्तविक आनन्द

नहीं आ सकता। आनन्द तो दूर रहा, आसक्त व्यक्ति तो उलटा चिन्ता में पड़ जाता है। आगन्तुक वस्तु यदि आई है तो– 'संयोगा विप्रयोगान्ता' इस सिद्धान्त के अनुसार वह कभी न कभी अवश्य वापस जायगी। विषय–इन्द्रियगण–प्रज्ञान (मन)–विज्ञान (बुद्धि) इन सबमें हम जो आनन्द मात्रा देखते हैं, वह आगन्तुक है–'तस्यैव मात्रामुपादाय सर्वे उपजीवन्ति'। यह आगन्तुक आनन्द असार्थी है, अतएव चिरशान्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। साथ ही में विषयवद् इन्द्रियानन्द, इन्द्रियवद् मन का आनन्द मन से बद्ध बुद्ध्यानन्द सब इतस्त आत्मानन्द से पराङ्मुख बने हुए हैं। अतएव बुद्धिमान, मनस्वी, शास्त्रों का पारंगत कोई भी वहां नहीं पहुंच सकता। इसी स्थिति का बड़े सुन्दर शब्दों में निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

> नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
> यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्॥
> (कठोपनिषत् । १ । २ । २२ ।

'सो जानै जेहि देहि जनाइ' महात्मा तुलसीदास के इस सिद्धान्त के अनुसार जिस दिन आत्मा के ऊपर आया हुआ आवरण हट जाता है उस दिन आदित्यवत् स्वतः एव वह प्रकाशित हो जाता है। जिस प्रकार वायु प्रकाश उत्पन्न नहीं करता केवल मेघावरण हटा देता है, पहिले से ही विद्यमान सौर प्रकाश अपने आप प्रकट हो जाता है तथैव शास्त्रोपदेश–उपासना–ज्ञानयोगादि आत्मानन्द को उत्पन्न नहीं करते, अपि तु आवरण मात्र हटा देते हैं। आत्मा तो स्वतःप्रकाशरूप है, उस के लिए अन्यसाधन सर्वथा अनपेक्षित हैं।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि विज्ञान आत्मा के समीप है, अतः इस में मन–इन्द्रियादि की अपेक्षा आनन्द की अधिक मात्रा है। तभी तो 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' यह कहा जाता है। इन्द्रियादि की अपेक्षा मन में अधिक आनन्द है, क्यों कि मन विज्ञान के समीप है। भौतिक विषयों की अपेक्षा इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, क्योंकि

इन्द्रियें भौतिक विषयों की अपेक्षा मन के समीप हैं। इस प्रकार विषयों में जाकर आनन्द अत्यल्प मात्रा में रह जाता है। उधर आनन्द की खोज में मन इन्द्रियों के द्वारा बाहर निकल कर विषयों पर जाता है। परन्तु होता क्या है–सुनिए! अपनी मात्रा से अधिक आनन्द मिलने पर ही आनन्द आता है–"यो वै भूमा तत् सुखं, नाल्पे सुखमस्ति, भूमानमित्युपास्व" के अनुसार भूमा (बहुत्व)–भाव में आनन्द है। यदि एक लखाधिपति को कहीं से १० रुपये मिल जांय तो उसे आनन्द नहीं आसकता। दो लाख की प्राप्ति में ही वह आनन्द का अनुभव कर सकता है। जिस एक पैसे से २ वर्ष का बच्चा प्रसन्न हो जाता है, वही पैसा एक मनुष्य को आनन्द नहीं पहुंचा सकता। यही परिस्थिति यहां होती है। मन महोदय आनन्द की खोज में विषयों पर जाते हैं। परन्तु उन्हें यह मालूम नहीं है कि विषयों में जितनी सी आनन्द की मात्रा है, वह इन्द्रियों से आई है, इन्द्रियों में जो आनन्द आया है, वह मुझ से आया है। भूतापेक्षया इन्द्रियों में अधिक आनन्द है, इन्द्रियापेक्षा स्वयं मुझ में (मन में) अधिक आनन्द है। इस प्रकार विवेक बुद्धि से वञ्चित मन धोके से विषयों पर पहुंच जाता है। वहां जाकर उसे पछताना पड़ता है। किसी भी विषय पर मन चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता–'प्रतिपरिविषयाद्‌वजा'। थोड़े दिन रहता है, अभिलषित भूमानन्द मिलता नहीं, दूसरे विषय पर दौड़ता है। वहां भी आनन्द नहीं मिलता, तीसरे पर, चौथे पर, इस प्रकार विविध विषयों में दौड़ लगाता रहता हुआ मन क्षुब्ध होजाता है। यही मन का चाञ्चल्य है, यही क्षोभ है, क्षोभ अशान्ति का कारण है–'अशान्तस्य कुतः सुखम्'। "गए थे चौबेजी छब्बे बनने, दुबे भी रहने में भी सन्देह होगया" ठीक यह लोकोक्ति विषयासक्त मन पर बावन तोला पाव रत्ती चरितार्थ होती है। चले गए थे आनन्द, मिला आवरणरूप दुःख, अशान्ति, क्षोभ। आनन्द की व्यर्थ लालसा से विषयासक्त इस भटकैती मन को पुरस्कार में विषय संस्कार मिलते हैं। इन संस्कारों की कृपा से बजाय आनन्द के इसे भरसक महादुःखार्णव में निमग्न रहना पड़ता है। संस्कार भूतप्रधान होते हुए तमःप्रधान हैं। यही अविद्या है। अतएव इस संस्कारराशि को 'अविद्या' कहा गया है। इस अविद्यारूप आवरण से अविद्याग्रस्त मन

के सेवक बने हुए विद्यामात्म का ज्योति भाग (विद्या भाग) आवृत होजाता है, तमोमय भाग (अविद्या भाग) प्रबल बन जाता है। प्रवृद्ध अविद्याबुद्धि के योग से आत्म का अविद्या भाग अपकृत होता हुआ आत्मा के विद्या भाग को आवृत कर लेता है। सर्वत्र अज्ञानान्धकार का साम्राज्य हो जाता है। यही मोह का जनक है—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः" इस सिद्धान्त को कौन नहीं जानता।

इस प्रकार विषयासक्त मन से युक्त बुद्धि अपने अविद्या भाग की प्रबलता से मोह की जननी बन जाती है। इसी को 'मोहकलिला' बुद्धि कहा जाता है। सारासारविवेकता, अविमृश्यकारिता का नाम ही मोह है। 'मनसो विषयाकाराकारितं वासनासंस्कारः' के अनुसार मन का विषयाकाररूप में परिणत होजाना ही वासना संस्कार है। मन चान्द्र है, चान्द्रसोम स्नेहधर्मा है। इसीलिए चन्द्रमा जिस नक्षत्र पर जाता है, वह उसी नक्षत्र का रूप धारण कर लेता है। भचक्र (खगोल) में सदा ही सभी नक्षत्र विद्यमान हैं। परन्तु व्यवहार होता है—आज अश्विनी है, आज भरणी है। इस का तात्पर्य यही है कि आज अश्विनी का चन्द्रमा है, आज भरणी का चन्द्रमा है। इस से कहना यह है कि चन्द्रमा का यह स्वभाव है कि वह जिसके साथ मिलता है, तदाकाराकारित बन जाता है। इसी का अंश हमारा मन है, अत एव यह भी जिस विषय से संयुक्त होता है, उसी का आकार धारण कर लेता है। विषयाकाराकारित मन वासनामय है। संस्काररूप आकार ही (यह आकार ही) 'वासयति—आच्छादयति—आत्मानम्' के अनुसार 'वासना' है। यही संस्कार कालान्तर में प्रबल बन जाता है। उस से तद्वासनामय रश्मिसूत्र—(स्नायुसूत्र) तद्विषयों के लिए निकला करते हैं। दूसरे शब्दों में तन्मयनिर्मित इन मार्गों के द्वारा (कामनासूत्रों के द्वारा) मन बार २ उन विषयों की ओर दौड़ा करता है। 'तज्जनितसंस्कारद्वारा विषयेषु मनसो बन्धनमासक्तिः' के अनुसार इस विषयबन्धन का नाम ही आसक्ति है। वासना संस्कार ही आसक्ति का जनक है। आप मार्ग में चलते २ कोई सुन्दर दृश्य देख लेते हैं, तत्काल मन पर उस की छाप (संस्कार-वासना) लग जाती है। यही छाप आप के मन को उस दृश्य को पुनः २ देखने के लिए आकर्षित

करती है यही आसक्ति है। एक बात और। यदि उक्त संस्कार दृढ़ नहीं होता तो आसक्ति भी नहीं होती। संस्कार दृढमूल बन कर ही आसक्ति का कारण बनता है। इन संस्कारों को दृढ़ करने वाला है—'चिरकाल का अनुभव'। 'मनसा अनुभवजन्यसंस्काराधानेऽनुभवस्य चिर-कालिकत्त्वं हेतुः' के अनुसार मन पर जो संस्कार आता है, यदि बार बार उसी की ओर लक्ष्य रक्खा जाता है तो—'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' (योगद० समाधिपाद, १४ सू०) के अनुसार उक्त चिरकाल के अनुध्यान से वह संस्कार दृढमूल बन जाता है। प्रथम-संस्कार आसक्ति का कारण नहीं बनता, अपि तु अनुभव द्वारा दृढ़ बना हुआ संस्कार ही आसक्तिरूप 'संग' का कारण बनता है, जैसा कि 'ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते' (गीता २।६२) इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यही हुआ कि मन संस्कारों के चिरकालिक सम्बन्ध से विषयों के साथ बद्ध होजाता है। मन को हमने प्रज्ञान कहा है। प्रज्ञान में प्रज्ञा—प्राण यह दो तत्त्व हैं। प्रज्ञा सोमतत्त्व है, प्राण इन्द्रतत्त्व है। दोनों का तादात्म्य है। सोम ही चिदंश का ग्राहक बनकर ज्ञानमूर्त्ति बनता हुआ 'प्रज्ञा' नाम से व्यवहृत होने लगता है। मन में भाव ज्ञान और क्रिया दोनों धर्म देखते हैं। साथ ही में यह मन रूप—रस—गंधादि भूतमात्राओं का भी अनुग्राहक है। सोम—चिदंश—प्राण यही तीनों क्रमशः भूतमात्रा—प्रज्ञामात्रा—प्राणमात्रा के अनुग्राहक हैं। सोम भूतों का प्रवर्त्तक है। चिद् श प्रज्ञाभाव का जनक है। प्राण इन्द्रियग्राम का उपकारक है। चिदंशयुक्त सोम प्रज्ञाभाग (ज्ञान) है, प्राण क्रिया भाग है। इस प्रकार प्रज्ञा—प्राण भेद से मन उभयात्मक बन जाता है—'उभयात्मकं मनः'। प्रज्ञा—प्राण के इसी तादात्म्यभाव का निरूपण करते हुए महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

"यो वै प्रज्ञा स प्राणः, यः प्राणः सा प्रज्ञा। सह ह्येतावस्मिन् शरीरे वसतः, सहोत्क्रामतः। प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा। तं मामायुरमृतमित्युपास्व। × × ×। तस्यैषैव दृष्टिः, एतद् विज्ञानम्" (कौषी० उप० ३।३)।

सोममयी प्रज्ञा के सम्बन्ध से ही प्रज्ञा–प्राणरूप इन्द्र 'ओकःसारी' बन जाता है। प्रज्ञान-मन जिस विषय पर जाता है, स्नेहगुणक सोम के प्रभाव से वह वहीं आसक्त हो जाता है। 'जिस घर पर (विषय पर) गए, वहीं के होगए' यही 'ओकःसार' है। ओक घर का वाचक है—"गृहा वा ओकः" (ऐ० ८।२६)। मन रूप प्राज्ञ इन्द्र का स्वाभाविक धर्म (सार) ओक (विषयों में आसक्त हो जाना) ही है, अतएव इसे ओकःसारी कहना न्याय संगत होता है। प्राज्ञ इन्द्र के इसी आसक्ति भाव को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

'ओकःसारी वा इन्द्रः,यत्र वा एष इन्द्रः पूर्वं गच्छति-ऐव तत्रापरं गच्छति'(ऐ.ब्रा ६।१७।२२)। जहां एक बार मन किसी विषय पर आसक्त होजाता है, बस बार २ उसी विषय की ओर दौड़ा करता है। ऐसा धर्म एक मात्र प्राज्ञ इन्द्र का ही है। विशुद्ध रूप से प्राणमूर्ति इन्द्र असंग है, किन्तु सोम सम्बन्ध से इसे आसक्तिभाव से आक्रान्त हो जाना पड़ता है।

मन के उक्त आसक्तिभाव के सम्बन्ध में एक प्रश्न उपस्थित होता है। "सङ्कल्प विकल्पात्मक मन को हमने पूर्व में चञ्चल बतलाया है, जैसा कि 'चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्' इत्यादि स्मार्त वचनों से स्पष्ट है। ग्रहण-परित्याग यह मन का स्वाभाविक धर्म है। वह किसी एक विषय में चिरकाल तक प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। ऐसी परिस्थिति में मन की विषयों के साथ आसक्ति (चिरकालिक बन्धन) अनुपपन्न होजाती है। संस्कारों की चिरकालता अवश्य ही आसक्ति का मूल है, एवं क्षणिक मन में चिरकालिकत्व का अभाव है। फिर मन को, किंवा प्रज्ञेन्द्र को ओकःसारी (विषयासक्त) कैसे बतलाया गया ?" इस प्रश्न के समाधान के लिए हमें वात्तुपपुरुष की शरण में जाना पड़ेगा। विशुद्ध मन वास्तव में क्षणभाव्यापन्न है, अतएव चञ्चल है। परन्तु बुद्धि को साथ लेने से ही मन आसक्ति के चक्र में पड़ जाता है। दूसरे शब्दों में बुद्धिसहकृत मन ही आसक्ति का कारण है। स्थिर सूर्य से उत्पन्न बुद्धि स्थिरा है। तत्सम्बन्ध से अस्थिर मन में स्थिरता का उदय होजाता है। सांस्कारिकत्व जहां मन का धर्म है वहां चिरकालिकत्व बुद्धि का धर्म है। इसी स्थिरता को लेकर मन विषयों में बद्ध होजाता है।

यदि ऐसा है तो फिर एक प्रश्न उपस्थित होता है। सूर्यरूप विज्ञानात्मा (बुद्धि) को चन्द्ररूप प्रज्ञानात्मा पर (मन पर) प्रतिष्ठित बतलाया गया है। मन और बुद्धि दोनों परस्पर में अविनाभूत हैं। मन कभी बुद्धि से पृथक् नहीं हो सकता, एवं बुद्धि न मन से कभी पृथक् होती। दोनों नित्य सम्बद्ध हैं, जैसा कि श्रुति कहती है—

"कतम आत्मेति ? योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः ।" (बृ आ उ ४।३।७)। 'तद्वा अस्यैतदतिच्छन्दा अपहतपाप्माभयं रूपम्। तद्यथा प्रियया स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद-नान्तरम्, एवमेवायं पुरुष (विज्ञानात्मा-चाक्षुषपुरुषः) प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्तः"

(बृ आ उ ४।३।२१)।

ऐसी दशा में सदा ही सभी विषयों के साथ आसक्ति होनी चाहिए, क्योंकि संस्कारग्राहक मन, एवं स्वतोत्पादिकाबुद्धि दोनों सदा ही सहकृत हैं। परन्तु हम देखते हैं कि कितने ही विषयों से मन घृणा करता है। उन के स्मरणमात्र से मन उद्विग्न हो पड़ता है। इस का क्या कारण ? आसक्तिमूला सामग्री के रहते हुए भी कहीं आसक्ति हो, कहीं न हो इस का क्या उत्तर ? 'बुद्धिर्द्विविधा'। बुद्धितत्व अपेक्षा, उपेक्षा भाव से दो भावों से आक्रान्त रहता है। अपेक्षाबुद्धि से संस्कार दृढ़ होजाता है, उपेक्षाबुद्धि से संस्कार स्थिर नहीं होने पाता। मन को हमनें क्षणिक बतलाया है। यदि मन प्रबल है तो स्थिर बुद्धि निर्बल होजाती है, ऐसी दशा में स्थिरभाव उत्पन्न नहीं होता, उपेक्षाभाव का उदय होजाता है। यदि बुद्धि प्रबल है तो मन की क्षणिकता निर्बल बन जाती है, उपेक्षा द्वारा स्थिरभाव उत्पन्न होजाता है। इसी को लोक में—'ग़ौर करना' कहा जाता है। 'ग़ौर करो' इसका अर्थ है बुद्धि से काम लो, बुद्धिबल बढ़ाओ। इससे संस्कार दृढ़ होगा, अन्यथा संस्कार निर्बल रहेगा। इस प्रकार इस अपेक्षा बुद्धि से संस्कार दृढ़मूल बन जाते हैं, यही आसक्ति का मूल है। ठीक इस के विपरीत उपेक्षाबुद्धि में संस्कारशैथिल्य है, यही अनासक्ति का मूल है। उदासीनभाव

ही उपेक्षाभाव है । 'मनसा गृहीतविषये बुद्धेश्चिरकालिकत्वमनुध्यान१' के अनुसार मन इन्द्रियों के द्वारा जिन विषयों का संस्काररूप से ग्रहण करता है, यदि संस्काररूप से आगत विषयों में (अपेक्षाभाव की प्रधानता से) बुद्धि अधिक समय तक ठहर जाती है तो वही वृत्ति 'अनुध्यान' नाम से व्यवहृत होने लगती है । चिन्तन करना अनुध्यान है । इस ध्यानरूप बुद्धि के व्यापार से आगत विषय का मन के साथ चिरकालिक संयोग हो जाता है, यह संयोग ही संग है, संग ही आसक्ति है ।

'मनसः स्वगृहीतविषयस्य बहिधा परिनिघृक्षा काम'' के अनुसार संस्कारात्मक विषयावच्छिन्न मन का बहि स्थित संस्कार जनक तत्तद् विषयों की ओर बार बार दौड़ना ही 'काम' है । संगरूपा आसक्ति ही काम की जननी है । यही काम आगे चलकर क्रोध का जनक बन जाता है । 'अनुकूलसंयोगलक्षणः सुखानुशयी संस्कारो रागः, के अनुसार अभिलषित, अतएव सुख के साधनभूत विषय के साथ ही काम का सम्बन्ध होता है, यही राग है । यह विषयपरिनिघृक्षा 'रागमूला' है । एवं 'प्रतिकूलसंयोगलक्षणो दुःखानुशयी संस्कारो द्वेषः' के अनुसार मन का अपने अनभिप्रेत विषय के साथ (जो कि दुःख का प्रवर्तक है) जुड़ना, द्वेष है । आसक्ति दोनों में है । राग सम्बन्ध से एक मित्र के स्नेहपाश में मन जितना बद्ध रहता है, उस से कहीं अधिक शत्रु के साथ मन बद्ध रहता है । रावण–कंस आदि असुर इसी द्वेष बुद्धि से मुक्त हुए हैं । काम से ही राग का उदय है, काम से ही द्वेष का उदय है । कामसमानाधिकरण काम ही क्रोध का मूल है । एक वस्तु को आप भी चाहते हैं, उसी को एक दूसरा व्यक्ति भी चाहता है । एक ही स्थान पर दो कामों का समन्वय हो रहा है । दोनों का अधिकरण एक है । इस समानाधिकरणरूप काम से तत्काल क्रोध का उदय हो जाता है । "अभीप्सितविषयेऽन्याक्रमणाशङ्कायां तत्प्राप्तिसंभावनायां शारीराग्न्युत्थानः क्षोभः क्रोधः" के अनुसार अपने अभिलषित पदार्थ को यदि अन्य व्यक्ति लेने की इच्छा करने लगता है तो उस व्यक्ति को उस की प्राप्ति में आशङ्का हो जाती है । इस से शरीर का अग्नि क्षुब्ध हो पड़ता है । अग्नि का यह क्षोभ ही 'क्रोध' है । राग से ही काम का उदय हुआ है, राग से

ही क्रोध का उदय हुआ है। दूसरे शब्दों में कामप्रतिबन्धन ही क्रोध का मूल है, यही कामप्रतिबन्धन द्वेष का मूल है। काम एक भिन्न संस्कार है, क्रोध एक भिन्न संस्कार है। दोनों का मन में सम्मेलन होता है। इन दोनों विजातीय संस्कारों के सघर्ष से एक तीसरा अपूर्व संस्कार उत्पन्न हो जाता है, वही 'संमोह' नाम से प्रसिद्ध है। अनुभवाहितसंस्कारजन्यज्ञान स्मृति है, स्मृति ही विज्ञान बल को बढ़ाती है। संमोह से (चित्तक्षोभ) से स्मरणशक्ति नष्ट हो जाती है। स्मृतिनाशसे बुद्धि (विचारशक्ति) नष्ट होजाती है। बुद्धिभ्रंश ही विनाश का मुख्य कारण है। इसी क्रमिक मनोविज्ञान का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥१॥ (गी० २।५२)।
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥२॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥३॥
(गी० २।६२ ६३)।

उपर्युक्त मनोविज्ञान से पाठकों को यह विदित होगया होगा कि यदि विज्ञानात्मा मन की ओर झुक जाता है तो वह मन पर आए हुए अविद्यामय भौतिक विषयसंस्कारों को दृढ बनाता हुआ आत्मस्वरूप को आवृत कर लेता है। बुद्धि में जो विद्या-(ज्ञान)भाग है, वह मन के साथ युक्त होकर ज्ञानेन्द्रियों का उपकार करता है। इस ज्ञानीय संस्कार को ही 'अनुभवाहितसंस्कार' कहते हैं, यही 'भावना' नाम से प्रसिद्ध है। एवं बुद्धि का अविद्या-(कर्म) भाग मन द्वारा कर्मेन्द्रियों का उपकारक बनता है। यही कर्मजनित सस्कार 'वासना' नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञान-(विद्या) संस्कार, एवं कर्म-(अविद्या) संस्कार ही मन की ओर झुकी हुई उसी बुद्धि की

* इस विषय का विस्तृत विवेचन 'गीताविज्ञानभाष्य' में देखना चाहिए।

कृपा से (अभिध्यान से) स्वयम् बनते हुए दुःखमूला आसक्ति के जनक बन जाते हैं। अविद्या कर्म है, अज्ञान है, दूसरे शब्दों में अज्ञान है। इस की उपासना करने वाले अन्धतम में प्रविष्ट होते हैं। परन्तु विद्या की ओर झुकने वाले उस से भी अधिक गहरे अन्धकार में जाते हैं। कर्म उतना बुरा असर नहीं करता, जितना कि अनिष्ट 'समझ' से होता है। स्पर्श की कल्पनाएं मनुष्य को पशु बना डालती हैं। निष्काम-बुद्धि से किया जाने वाला कर्म शुभ विपाक रूप में परिणत होजाता है, परन्तु सकाम-विद्या आवरक-प्रवृत्ति कर्म से भी कहीं अधिक भयङ्कर हो जाती है। क्योंकि कर्मजनित वासना संस्कार की अपेक्षा ज्ञानजनित भावना संस्कार अधिक दृढ़ होता है। चोर को उतना दण्ड नहीं मिलता, जितना कि चोरी की इच्छा रखने वाले को मिलता है। कर्म (कर्मजनित वासना संस्कार) तो नष्ट होसकता है, परन्तु ज्ञान (ज्ञानजनित भावना संस्कार) सहसा नष्ट नहीं होता। आप एक व्यक्ति को बुरे कर्म से शीघ्र रोक सकते हैं, परन्तु उस के बुरे विचार (भावना) सहसा नहीं बदले जासकते। स्थूल की चिकित्सा सुगम है, सूक्ष्म की चिकित्सा कठिन है। इन्हीं सारे रहस्यों को लक्ष्य में रखता हुआ, विज्ञानात्मा का स्वरूपधर्म बतलाता हुआ प्रकृत विज्ञानात्माधिकरण पाठकों के सामने उपस्थित हुआ है।

विज्ञानतत्त्वप्रतिपादक तीनों मन्त्रों में उपलब्ध होने वाली ईशोपनिषत् में आजदिन "अन्धं तमः प्रविशन्ति ०- "अन्यदेवाहुर्विद्यया" "विद्यां चाविद्यां च" ० यह क्रम देखा जाता है। परन्तु हमारी दृष्टि से (विज्ञानदृष्टि से) इन तीनों मन्त्रों का "अन्यदेवाहुर्विद्यया"०- 'अन्धं तमः प्रविशन्ति"०- "विद्यां चाविद्यां च'० यह क्रम होना चाहिए। संभव है संस्कारों की असावधानी से यह विज्ञानक्रम भङ्ग गया हो। पहले व्यापक विज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाना आवश्यक है। आत्मस्वरूप परिज्ञान के अनन्तर "जो आत्मा के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानते, उन की ऐसी गति होती है" यह कहने का अवसर मिलता है। सर्वान्त में-'इसलिये आत्मवेत्ता की इस तरह उपासना करो' यह कहना न्यायसङ्गत होता है।

यही क्रम वैज्ञानिक है । वैज्ञानिक क्रम का 'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' यह प्रथममन्त्र विज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है । 'अन्धं तमः प्रविशन्ति०' इत्यादि मन्त्र आत्मा के प्रतिपादित स्वरूप से विरुद्ध जानेवालों की अधोगति बतलाता है, एवं सबान्त में-'विद्यां चाविद्यां च' इत्यादि मन्त्र प्रतिज्ञात आत्मतत्त्व का स्पष्टीकरण करता है । इसी क्रम का समादर करते हुए निम्न लिखित मन्त्र की ओर आपका ध्यान आकर्षित किया जाता है—

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया ॥
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥
(ई उ १० मन्त्र)

"वह आत्मतत्त्व विद्या से भी पृथक् कहा जाता है, अविद्या से भी पृथक् कहा जाता है । जिन (पारोक्ष्यवित्) विद्वानों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप का निरूपण किया है, उन धीरों के (आत्मा के सम्बन्ध में) ऐसे ही विचार हैं-यह हम सुनते आये हैं, अर्थात् धीर विद्वानों का कहना है कि यह आत्मतत्त्व विद्या-अविद्या दोनों से पृथक् तत्त्व है" यह है मन्त्र का सामान्य अर्थ ।

हम विश्व में समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सर्वत्र विद्या और अविद्या (ज्ञान एवं कर्म) का साक्षात्कार कर रहे हैं । प्रत्येक पदार्थ ज्ञान-कर्ममय है । साथ ही में जहां ज्ञान है, वहां कर्म (विषय) अवश्य है । कर्मसङ्घातरूप विषय के बिना आप अपने ज्ञान को कभी नहीं देख सकते । प्रत्येक दशा में ज्ञान विषयाकाराकारित बन कर ही भासित होता है । इसी प्रकार प्रत्येक कर्म ज्ञानमय है । 'ज्ञायते' भी क्रिया ही है । आप किसी वस्तु को जानते हैं, यह जानना भी कर्म है । आप कोई काम कर रहे हैं, उस में भी ज्ञान नित्य सम्बद्ध है । संसार में सतत प्रयास करने पर भी आप विशुद्ध ज्ञान एवं विशुद्ध कर्म का पार्थक्य नहीं देख सकते । इन में ज्ञानभाग अमृत है, कर्मभाग मृत्यु है । ज्ञान आदर्शवत् सदा एक रूप रहता है, यही इस का अमृतभाव है । ज्ञान में आने वाले कर्मरूप विषय निरन्तर बदलते रहते हैं, यही कर्म का

मृत्युभाव है। ज्ञान विद्या है, कर्म अविद्या है। दोनों का (सोपाधिकरूप से) प्रभव हो रहा है। इन दोनों का मूलाधार विज्ञानात्मा (बुद्धि) है। विज्ञानात्मा में प्राण और चित् यह दो भाग हैं। साथ ही में तीसरा सोमतत्त्व भी है। प्रज्ञानात्मा (मन) में भी हमनें सोम–चिद्–प्राण–यह तीन ही अवयव बतलाए थे, परन्तु इस में और विज्ञान में बड़ा अन्तर है। विज्ञानात्मा सूर्य की प्रतिकृति होने से चारों ओर से प्रकाशित रहता हुआ स्वज्योतिर्म्मयतत्त्व है। प्रज्ञानात्मा चन्द्रमा की प्रतिकृति होने से एक भाग से (जिस ओर विज्ञानात्मा का प्रकाश आता है–उस भाग से) प्रकाशित रहता हुआ परज्योतिर्म्मयतत्त्व है। साथ ही में विज्ञानात्मा का सोम पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है प्रज्ञानात्मा का सोम चान्द्र इन्द्र सोम है। विज्ञान और प्रज्ञान में वही अन्तर है, जो अन्तर सूर्य और चन्द्रमा में है। विज्ञान अग्नितत्त्वप्रधान है, प्रज्ञान सोमतत्त्वप्रधान है। विज्ञान विषयों पर जा सकता है, प्रज्ञान पर विषय आते हैं। नवीन रचना में विज्ञानव्यापार की प्रधानता है, किसी की बनी हुई रचना की प्रतिलिपि करने में प्रज्ञानव्यापार प्रधान है। सोमवत् दोनों के प्राण में भी भेद है। विज्ञानप्राण दिव्य है, प्रज्ञानप्राण आन्तरिक्ष्य है। विज्ञानेन्द्र 'मघवा' है, प्रज्ञानेन्द्र 'वृत्रहा' है। इसी प्रकार विज्ञान का चिदंश महत्युक्त होने से प्रबल है, प्रज्ञान में जो चिदंश आया है वह विज्ञान की ही देन है। इन सब कारणों से विज्ञान–प्रज्ञान की सोम-चिदंश-प्राण तीनों कलाओं का पार्थक्य, एवं पृथग्धर्मत्व सिद्ध हो जाता है। विज्ञानात्मा क्षेत्रज्ञ है, कारयिता है। प्रज्ञानात्मा कर्त्ता है। इसी कर्त्ता प्रज्ञान की ज्ञान (प्रज्ञा), क्रिया (प्राण) अर्थ (भूत) तीनों शक्तियों का संचालक क्षेत्रज्ञ विज्ञानात्मा है। अपनी सोमकला से विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मा को भूतमात्रा (शब्द–रूप–रसादि विषयों) के लिए, चित्कला को प्रज्ञामात्रा के लिए, एवं प्राणकला को प्राणमात्रा (इन्द्रियवर्ग) के लिए प्रेरित करता है। जब तक विज्ञान है, तभी तक आध्यात्मिकसंस्था की स्वरूपस्थिति है। सोमयुक्त चिदंश विज्ञान का विद्या (ज्ञान) भाग है, विज्ञानानुगत प्राणांश कर्मभाग है। इस प्रकार अमृतमृत्युमय, दूसरे शब्दों में विद्या-अविद्यामय तीसरे शब्दों में ज्ञान कर्ममय विज्ञानात्मा ही अध्यात्मसंस्था का उसी प्रकार प्रवर्त्तक एवं स्वरूपसमर्पक बना हुआ है, जैसे कि सूर्य

अपने अमृतमृत्युभाग से विश्व का प्रकाशक बना हुआ है। जब तक सूर्य है, तभी तक अहरागम है, तभी तक विश्व है। जिस दिन सूर्य न रहेगा, उस दिन रात्र्यागम द्वारा प्रलय का साम्राज्य हो जायगा।

"यह विद्या (ज्ञान) है, यह अविद्या (कर्म) है" इस प्रकार से हम संसार में समष्टि व्यष्टिरूप से जिस ज्ञान-कर्म का साक्षात्कार कर रहे हैं, वह हमारे विज्ञानघन सूर्य की महिमा है—'ग्रह सूर्य इवाजनि'। इस प्रकार अविद्या विद्यारूप से हम विज्ञानात्मा के साक्षात् दर्शन कर रहे हैं। यही सोपाधिक विद्या-अविद्या विज्ञानात्मा का स्वरूप है। इस स्वरूप को (ज्ञान कर्म को) शिक्षित अशिक्षित सभी जानते हैं। 'हम जानते हैं—हम करते हैं' यह अक्षर सभी के मुख से निकलते हैं। क्या सर्वविदित यही विद्या-अविद्या (सोपाधिक ज्ञान-कर्म) विज्ञानात्मा का वास्तविक स्वरूप है? क्या सभी आत्मज्ञानी हैं? फिर तो शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही न रही। इसी सारी जटिल समस्या को सुलझाता हुआ—'अन्यदेवाहुर्विद्यया०' इत्यादि मन्त्र हमारे सामने आता है। हम सांसारिक पदार्थों में ज्ञानरूप से जिस विद्याभाग का साक्षात् कार कर रहे हैं, *क्या यह प्रत्यक्षानुभूत विद्या आत्मविद्या है?*, ऋषि कहते हैं—'*अन्यद्-विद्यया*'। जिस अविद्याभाग का हम कर्मरूप से दर्शन कर रहे हैं, क्या वह 'आत्मविद्या' है?, ऋषि कहते हैं—'अन्यद्-अविद्यया'।

*बात असल में यह है कि श्रुति को 'विज्ञानात्मा' में जो विशुद्ध आत्मतत्त्व है, उस का परि*ज्ञान करवाना है। यद्यपि विश्व में प्रत्यक्ष यह विद्या-अविद्याभाग उसी का विवर्त है, परन्तु यह दोनों ही भाग भौतिक विश्व से संपरिष्वक्त बनकर सोपाधिक बनते हुए स्वस्वरूप से च्युत हो रहे हैं। उधर विशुद्ध विद्या अविद्यारूप आत्मतत्त्व केवल स्वानुभवैकगम्य है। वहां शब्द की गति नहीं है—'विज्ञातारमरे! बा केन विजानीयात्'। विश्व के प्रत्येक पर्व के विद्या-अविद्या भाग पर दृष्टि डालते जाइए, सर्वत्र 'इदं न—इदं न—इदमपि न—इदमपि न' यही कहना पड़ेगा। इस प्रकार न-न करते जब सारे विश्व प्रपञ्च की समाप्ति होजाय, उस समय जो विशुद्ध-अगम्य तत्त्व

[illegible] है। [illegible] हैं—[illegible] [illegible] [illegible] नहीं है, [illegible] [illegible], [illegible], [illegible], [illegible] है। [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] [illegible] है, [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] (नहीं) है। [illegible] है, यह [illegible]। 'न इति न इति' (नेति नेति) [illegible]। यह [illegible] है (अव्यक्त है), यह [illegible] नहीं है" यह [illegible] नेतिनेति का यही [illegible] है। अर्थात् यह [illegible] है।

अथवा प्रकारान्तर से 'नेति नेति' वाक्य का समन्वय कीजिए। प्रथम नकार को 'अभाव' का ही वाचक समझिए। दूसरे नकार को भी अभाववाचक मानिए। 'न' इसका जो 'न' है—वह गया है, अर्थात् अभावरूप अभाव का भी अभाव है, यह तात्पर्य होगा। अभावाभाव जैसे भावरूप का कारण बन जाता है, एवमेव विश्वरूप आत्मा के अभाव का अभाव आत्म-सत्ता का कारण बन जाता है। इसी दशा में 'नेति नेति' का अर्थ होगा है—'अस्तीत्येव' (अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कुतस्तदुपलभ्यते)। इसी भाव के लिए श्रुति ने यहां 'अन्यत्' शब्द का प्रयोग किया है। विरोध आपातत: यही, परन्तु कब जब 'अन्यत्' भाव को सामने रक्खोगे तब। विश्व को विद्या अविद्या मत समझो, विश्व में विद्या-अविद्यात्मक आत्मा को प्रविष्ट समझो। सोपाधिक पर दृष्टि डालते हुए 'अन्यत्' शब्द से निर्दिष्ट निरुपाधिक का अनुभव करो, वही आत्मा आत्मा है। सोपाधिक भाग तो उसी का विवरूप है। जहां लौकिक मनुष्य आत्मा के सोपाधिक (विश्वभाव) भाव को प्रधान समझते हैं, वहां धीर लोग निरुपाधिक को ही वास्तविक आत्मतत्त्व कहते हैं। यही उक्त मन्त्र का परिलेख अर्थ है।।२।

विज्ञान को विद्या अविद्यामय बतलाया गया है। यह विद्या और अविद्या भाग बुद्धिरूप है। अविद्यानुगामी अविद्याबुद्धि है विद्यानुगामी विद्याबुद्धि है। यह और विद्या-अविद्या

भाग है। इन से क्रमशः अव्ययात्मा के विद्या-अविद्या भाग का उपकार होता है, अतएव इन्हें भी विद्या-अविद्या शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। वस्तुतः विद्या-अविद्यात्मक अव्ययात्म-तत्व सौर विद्या भविद्या से पृथक् तत्व है। यह किसनें समझा ? इसका उत्तर है—"धीरा"। सौर विज्ञान भी भाग है। इस धीतत्व के परिज्ञाता विद्वान् धीर हैं। जो धीर (सौरविज्ञान विज्ञाता) हैं वे ही यह समझ सकते हैं कि वह इस सौरी अविद्या से भी अन्य है एवं सौरी विद्या से भी भिन्न है। यही मन्त्र का दूसरा अर्थ है।

प्रथमार्थ में जो भाव प्रकट किए हैं, उन्हीं भावों को 'विद्यायाः–अविद्यायाः' इन षष्ठ्यन्त पाठों से भी व्यक्त किया जासकता है। स्वयं मूलसंहितानें षष्ठ्यन्त पाठ को ही प्रधान माना है, जैसा कि मन्त्रश्रुति कहती है—

> अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः।
> इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ (यजु सं ४० अ । १३ म)।

सामान्य मनुष्यों में विद्याशब्द का अर्थ ज्ञान, एवं अविद्याशब्द का अर्थ अज्ञान समझ रक्खा है। इसी भ्रान्तिमें इन्हें आत्मस्वरूप से वञ्चित कर रक्खा है। उधर आत्मा का स्वरूप भी विद्या–अविद्यात्मक बतलाया जाता है। क्या आत्मा के विद्या–अविद्याभाग लोकसिद्ध ज्ञान–अज्ञान ही हैं ? इस का समाधान करती हुई श्रुति कहती है कि तुमनें विद्या का जो अर्थ (ज्ञान) समझ रक्खा है तुम्हारे समझे हुए विद्यास्वरूप से उस आत्मविद्या का स्वरूप सर्वथा विभिन्न है—'अन्यदेवाहुर्विद्यायाः' (आत्मविद्यायाः)। एवमेव तुमनें अविद्या का जो अर्थ (अज्ञान) समझ रक्खा है, तुम्हारे समझे हुए अविद्यास्वरूप से आत्मा के उस अविद्या का दूसरा ही तात्पर्य है—'अन्यदेवाहुरविद्यायाः'। विद्या से अभय की विशुद्ध-विद्या अभिप्रेत

* अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।
इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद्व्याचचक्षिरे" (केन० १।३)
"अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (कठ १।१४)
इत्यादि उपनिषद्वचन भी इसी सिद्धान्त का स्पष्टीकरण करते हैं।

है, अविद्या से अन्यय का शुद्ध कर्मभाग अभिप्रेत है। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं, अपि तु कर्म है। आत्मा विद्याविद्यात्मक है–इस का तात्पर्य–'आत्मा विद्याकर्ममय है' यही है।

अपित्व विद्या–अविद्या शब्द से ज्ञान-कर्म का ही ग्रहण करने वाले कुछ एक मनुष्यों का कहना है कि विद्यारूप ज्ञानभाग सर्वथा स्वतन्त्र तत्त्व है यही वास्तव में आत्मा है। कर्मतत्त्व अज्ञानरूप होता हुआ आत्मा का आवरक है। विद्या कभी अविद्या से, एवं अविद्या कभी विद्या से संयुक्त नहीं होती। दोनों (विषयी-विषय) तम -प्रकाशवत् अत्यन्त विरुद्ध हैं। इन दोनों विरुद्धों का जो एकत्र समावेश देखा जाता है, वह सर्वथा मिथ्या भ्रान्ति है। आवरणमूला अविद्या का विद्यारूप आत्मा से क्या सम्बन्ध ? इसी भ्रान्तमत का निराकरण करती हुई श्रुति कहती है कि—यदि तुम विद्या-अविद्या का ऐसा ही स्वरूप समझते हो तो विश्वास करो, न तुमने विद्या का यथार्थ स्वरूप समझा, न अविद्या का। तुम्हारी समझी हुई विद्या का एवं अविद्या का जो स्वरूप है, उस आत्म विद्या का एवं अविद्या का स्वरूप सर्वथा 'अन्यत्' है। जिसे तुम मिथ्या कहने का साहस करते हो वह अविद्या अज्ञान नहीं, अपि तु विद्यागर्भित कर्म है, एवं जिसे तुम शुद्ध विद्या कहते हो वह कर्मगर्भिता विद्या है। भूल गए पूर्व की 'तदु सर्वस्यास्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः' इस प्रतिज्ञा को। आत्मा का आधा भाग विद्या है, आधा-भाग कर्म है। दोनों का सम्मिश्रणरूप एक आत्मा है। ऐसी स्थिति में केवल ज्ञान के अनुयायी भी उसे नहीं पहिचानते एवं केवल कर्म के अनुयायी भी आत्मस्वरूपज्ञान से वञ्चित रहते हैं। तम -प्रकाशवत् दोनों विरुद्ध अवश्य हैं परन्तु दोनों का एकत्र समन्वय मिथ्या नहीं अपि तु–'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' के अनुसार नितान्त सत्य है। जो आत्मा के इस सम्मिश्रणरूप की आराधना न कर केवल ज्ञानभाग अथवा केवल कर्मभाग की उपासना करते हैं, जानते हो उन की क्या दशा होती है ? नहीं जानते तो सुनो !

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥ २ ॥

(ई० उ० ९ मन्त्र)।

पुरुषात्माधिकरणखान्तर्गत कर्मतन्त्र के भमनीविषद्य में कर्मप्रपञ्च का दिग्दर्शन कराते हुए कर्म के कर्म–विकर्म–अकर्म भेद से तीन प्रधान विवर्त, एवं ५ साधारण विवर्त बतलाए गए हैं–(देखिए ई वि मा १खण्ड १२४—१२५ पृ)। कर्मवत् ज्ञान भी ज्ञान–विज्ञान अज्ञान इन तीन मार्गों में ही विभक्त है। रज्जु को सर्प समझना अज्ञान है। इसी को भ्रान्ति, मोह, मिथ्याज्ञान आदि शब्दों से व्यवहृत किया जाता है। दार्शनिक परिभाषानुसार इसी अज्ञानरूप भ्रान्तज्ञान को 'प्रातिभासिकीदृष्टि' कहा जाता है। यह अज्ञान परमार्थदृष्टि से भी असत्य है, एवं व्यवहारदृष्टि से भी असत्य है। यही वेदान्तदर्शनाभिमत 'अध्यास' है। रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान है। यहाँ विज्ञान शब्द से विरुद्ध ज्ञान ही अभिप्रेत है। रज्जु रज्जु नहीं, साक्षात् ब्रह्म है। परन्तु लौकिक मनुष्यों ने अपने लौकिक व्यवहार की सुविधा के लिए इसे 'रज्जु' नाम से व्यवहृत कर रक्खा है। व्यवहारदृष्टि से रज्जु को रज्जु कहना यद्यपि सत्य है, परन्तु परमार्थदृष्टि से रज्जु को रज्जु समझना विज्ञान (विरुद्धज्ञान) है। इन्द्रियों से जिन विषयों का जैसा ज्ञान हो रहा है वह सब परमार्थज्ञान से च्युत होता हुआ विज्ञानकोटि में प्रविष्ट है। इसी को 'व्यावहारिकीदृष्टि' कहा जाता है। एवं रज्जु को आत्मा समझना ज्ञान है–'ज्ञानान्मुक्तिः'। यही आत्मदृष्टि है यही 'पारमार्थिकीदृष्टि' है, यही वास्तविक ज्ञान है। इन में ज्ञान कर्म का उपकारक है, विज्ञान विकर्म का उपकारक है, एवं अज्ञान अकर्म का उपकारक है। दूसरे शब्दों में आत्मज्ञान से निवृत्तिलक्षण आत्मीय (निष्काम)–कर्मों का उदय होता है। व्यवहारज्ञान से प्रवृत्तिलक्षण व्यावहारिक कर्मों का सञ्चालन होता है, एवं अज्ञान से पतन मूलक भ्रान्त कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

१—ज्ञानम् (आत्मज्ञान–सर्वथा सत्यम्) →→—→ १—कर्म (आत्मीय कर्म)
२—विज्ञानम् (लो॰ज्ञानं, परमार्थतः असत्य→→→२–विकर्म (व्यावहारिक कर्म)
व्यवहारतः सत्यम्)
३—अज्ञानम् (मिथ्याज्ञान भ्रान्ति) →→—→ ३–अकर्म (निरर्थक कर्म)

———•••———

१–विद्या (ज्ञान)–सापेक्ष प्रवृत्तिकर्म	सत्कर्म—कामकारी	}	–ज्ञानमूलककर्म
२–विद्या (ज्ञान)–निरपेक्ष प्रवृत्तिकर्म	सत्कर्म—साधुकारी	}	–ज्ञानमूलककर्म
३–विद्या (ज्ञान)–सापेक्ष निवृत्तिकर्म	निष्कामकर्म–कर्मयोगी	}	–ज्ञानमूलककर्म
४–विद्यानिरपेक्ष विरुद्धकर्म	विकर्म——लोकायतिक	]	–विज्ञानमूलककर्म
५–विद्यानिरपेक्ष निरर्थककर्म	अकर्म——यथेच्छाचारी	]	–अज्ञानमूलककर्म

इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व में ज्ञान और कर्म का साम्राज्य हो रहा है। त्रेधाविभक्त ज्ञान में से ज्ञान, एवं त्रेधाविभक्त कर्म में से कर्म ग्राह्य है, शेष विज्ञान-अज्ञान, एवं विकर्म-अकर्म हेय हैं, यह रहस्यवेत्ताओं का सिद्धान्त है। इस ज्ञान और कर्म के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों में चिरकाल से भिन्न भिन्न दो मत चले आरहे हैं। कर्मतत्त्व को ही प्रधानता देने वाले कर्मठों का कहना है कि व्यक्ति का अभ्युदय कर्म से ही हो सकता है। कर्म करने में ही कल्याण है। सम्पूर्ण विश्व प्रजापति का कर्म है। उस ने कर्म से ही यह विभूति प्राप्त की है। कर्म करते जाओ, ज्ञान का उदय अपने आप हो जायगा–'तत् स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'। ज्ञान के लिए प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। हमारा मुख्य ध्येय कर्म (प्रवृत्तिकर्म) होना चाहिए। ये ही विद्वान् कर्मठ, कर्मयोगी, कर्मनिष्ठानुयायी आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

दूसरा दल कहता है कि कर्म से कभी अभ्युदय नहीं हो सकता। तुम्हारा यह कहना कि प्रजापति ने कर्म से यह विश्वविभूति प्राप्त की है, सर्वथा असंगत है। प्रजापति विशुद्ध ज्ञानमूर्ति है। वहां कर्म की सम्भावना ही नहीं है। वह तो निष्प्रपञ्च–बुद्ध–मुक्त है। तुम्हें जो कर्म प्रपञ्च (विश्व) दिखलाई देता है, वह 'रज्जुसर्पवत्' स्थाणुपुरुषवत्' 'शुक्तिरजतवत्' सर्वथा भ्रान्त है, अध्यासमात्र है। सारा विश्व एक माया का मिथ्याभास है। हम मानते हैं कि विद्यासम्मिलित कर्म श्रेष्ठ है, सत्फल देने वाला है। परन्तु वह भी आगे जाकर क्षणिक। वैष

मिक) सुखकोटि में प्रविष्ट होता हुआ दुःख का ही कारण बन जाता है। 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति' 'प्लवा ह्येते भदृढा यज्ञरूपाः'। कर्म कर्म है, पाप्मा है, आवरक है। इस से ज्ञानमूर्ति आत्मा का निःश्रेयसभाव कथमपि सम्भव नहीं है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण ज्ञानयोगरूप सन्यास से ही मुक्ति हो सकती है। यही श्रमैकवादी 'ज्ञानी' 'ज्ञाननिष्ठानुयायी' 'सांख्य' आदि नामों से प्रसिद्ध हैं।

एक कहते हैं ज्ञान श्रेष्ठ है, दूसरे कहते हैं कर्म्म श्रेष्ठ है। एक कहते हैं सारा कर्म छोड़ छाड़कर जङ्गल में चले जाओ, दूसरे कहते हैं रात दिन कर्म (प्रवृत्तिकर्म्म) करते रहो। लोक में प्रचलित इन्हीं दो विरुद्ध निष्ठाओं का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्॥ (गीता)

उपनिषद् की दृष्टि में उक्त दोनों ही मार्ग पतन के कारण हैं। विद्यामार्ग भी ठीक नहीं, अविद्यामार्ग भी ठीक नहीं। ठीक क्या नहीं ! सम्भव नहीं। कर्मठ कर्म में प्रवृत्त होते हुए वासना संस्कार से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। ज्ञानी कहलाने वाले ज्ञान में प्रवृत्त होते हुए भावना से आत्मा को आवृत कर रहे हैं। सकाम ज्ञानयोग, सकाम कर्मयोग दोनों ही भावना-वासनासंस्कार के जनक बनते हुए बन्धन के कारण हैं। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सांख्ययोग बन ही नहीं सकता। क्योंकि ज्ञानवत् कर्म भी आत्मा का अर्द्ध (भाग) है, जैसा कि पूर्व में बतलाया गया है। उधर कर्म भी बिना ज्ञान के अधूरा है। जो केवल कर्म के अनुयायी हैं, कुछ दिनों के लिए उन का सांसारिक वैभव अवश्य बढ़ता है, परन्तु इस प्रवृत्तिजनक संस्कार से आत्मा आवृत होजाता है। यही प्रवृत्तिकर्म आगे जाकर अस्मदभक्ष्प पाषाणादि स्थावरयोनियों का कारण बनता हुआ आत्मा को सदा के लिए अन्धतम से आवृत कर लेता है—(देखिए ई० मि० भा० १खण्ड आवरणतन्त्र१११से११३पर्यन्त)। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि जो केवल अविद्यारूप कर्म की उपासना करते हैं, वे घोर तम में प्रविष्ट होते हैं—"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते"।

यह तो हुई अविद्योपासकों की कथा, अब विद्यानुयायियों की दशा देखिए। केवल ज्ञान को ही श्रेष्ठ मानने वाले महानुभाव सांसारिक अभ्युदय के मूलभूत कर्म को तो पहिले से ही छोड़ बैठते हैं। सब छोड़छाड़ कोपीन लगाकर अरण्य में चले जाते हैं। होता वही है, जो होना होता है। शुद्ध ज्ञान कभी रहता नहीं, कम से कम इस दशा में भी मुक्तिकामना अवश्य रहती है। मुक्तिकामना ही क्यों, खाना-पीना-सोना सभी शारीरिक कर्म तो यहाँ भी साथ रहते हैं। इन्द्रियों के वेग भीतर से उत्पात मचाते हैं। बनावटी त्याग से वह कबतक दान्त रह सकते हैं। तभी तो भगवान् ने ऐसे सन्यास को 'मिथ्याचार' (ढोंग) कहा है। जब कर्म है तो आसक्ति अवश्य है, आसक्ति है तो आवरण भी अवश्य है। इस आवरणस्थिति तक तो कर्मठ और ज्ञानी की समान दशा है। अन्तर दोनों की परिस्थिति में केवल यही रह जाता है कि कर्मानुयायी जहाँ सांसारिक वैभव का भोक्ता बनता है, वहाँ ज्ञानानुयायी इस वैभव से भी वञ्चित हो जाता है। अतएव हम कह सकते हैं कि इन विद्योपासकों की दशा अविद्योपासकों से भी बुरी है। कर्मठ उधर के न सही, इधर के तो हैं। परन्तु यह इधर के रहे, न उधर के रहे, "दुविधा में दोनो गए-माया मिली न राम"। न लौकिक सुख है, न आत्मानन्द है। इसी अभिप्राय से उपनिषत् में इनके लिए-"ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः" यह कहा है। कहना नहीं होगा कि आज उक्त श्रौत वचन भारतवर्ष में अक्षरशः चरितार्थ हो रहा है। सर्वकर्मपरित्यागलक्षण सन्यास के उपदेष्टा आचार्यों की कृपा से आज भारतवर्ष सारा कर्मकलाप अपने हाथ से खो बैठा है। प्रत्येक कर्म के लिए आज यह परमुखापेक्षी बन रहा है। उधर कर्मठ विजेता लोग प्रतिदिन आगे बढ़ते जारहे हैं। हम अपने-'संसार झूठा है, आत्मज्ञान ही सच्चा है' इस बखेड़े अलाप में मस्त हैं। यह सच है कि केवल कर्म को अपनाने वाले कर्मठ भी क्षणिक वैभव के अनन्तर उसी आवरण से आक्रान्त हो जाते हैं, परन्तु उन्हें ऐहलौकिक सम्पत्ति तो मिल रही है। उधर कल्पित विद्यानुरागी हमारा समाज दोनों से वञ्चित हो रहा है। इस प्रकार प्रकृत मन्त्र विशुद्ध ज्ञानयोग, कर्मयोग दोनों की ही निन्दा करता है, इनमें भी विशुद्ध ज्ञानियों की विशेष निन्दा करता है।

प्रकारान्तर से भी अर्थ की संगति लगाइए। बिना कर्म की विद्या भी अधूरी है, बिना विद्या के कर्म भी अधूरा है। विद्या-कर्म के समन्वय से ही कर्मता का उदय होता है। एक व्यक्ति विद्या (शास्त्रज्ञान) से सर्वथा शून्य है, निरक्षर मूर्धन्य है। यद्यपि यह भी कर्म करता है, परन्तु शास्त्रज्ञान से युक्त बुद्धि के अभाव से इसमें कर्तव्याकर्तव्य का विवेक नहीं रहता। मजदूरी करके अपने कुटुम्ब का भरण पोषण करते हुए पशुवत् जीवन व्यतीत कर देना ही इसका परम पुरुषार्थ है। ऐसा मूर्ख (किन्तु लौकिक कर्मों में पटु) मनुष्य सचमुच आत्मदृष्टि से गहरे अंधेरे में है। इसे परलोक आत्मा आदि का कुछ ध्यान नहीं है। अन्याय-धोखा-जालसाजी मिथ्याभाषण आदि से अपने आपको चतुर मानने का गर्व रखने वाला यह विद्याशून्य मनुष्य विषमोह से मोहित होकर कालक्षेप किया करता है–'अज्ञानं तस्य शरणम्'। कुछ मनुष्य ऐसे हैं जो विद्या पढ़ते हैं, शास्त्रज्ञान सम्पादन करते हैं, इन की बुद्धि में विवेक भी उत्पन्न हो जाता है,यह आत्म-परमात्म-परलोक का स्वरूप भी समझने लगते हैं। परन्तु यह महानुभाव केवल 'समझ' (विद्या) पर ही विश्राम कर लेते हैं। लम्बे चौड़े व्याख्यान दे डालना, बात बात में धर्म की दुहाई देना, इस प्रकार केवल वाणी पर ही इन के कर्मकलाप का अवसान होजाता है, कर्म करना इनके लिए एक विपत्ति है–'वाक्शूरा'। समझते अवश्य हैं, परन्तु स्वयं कुछ नहीं करते। मार्गद्रष्टा हैं, आदिष्ट नहीं हैं। विद्वान् हैं, कर्मठ नहीं हैं। पढ़े हैं, गुणे नहीं हैं। कहते हैं, करते नहीं हैं। इस प्रकार केवल विद्या को अपनाने वाले यह महानुभाव कर्मपरित्याग से सब कुछ खो रहे हैं। देखिए अपने समाज को। आज इन दोनों दलों की क्या दशा है। देशहितैषी कर्म प्रधान महानुभाव शास्त्रज्ञान से वञ्चित हो रहे हैं। फल यह होता है कि कर्मठ ब्राह्मण होते हुए भी समृद्ध हैं, संपत्तिशाली हैं। परन्तु हमारे विद्वान् ब्राह्मण होने के साथ साथ ही संपत्ति से भी वञ्चित होरहे हैं। कोई सा ही संस्कृतज्ञ विद्वान् आपको

सम्पत्ति से युक्त मिलेगा। अन्यथा सभी विद्वानों पर निर्ऋति (दरिद्रा) देवता की विशेष कृपा मिलेगी। क्या इसी का नाम अभ्युदय है? क्या धर्म से यही फल मिलता है? क्या इसी आधार पर—'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि स धर्मः' यह कहा जाता है? आवश्यकता है आज दोनों को दोनों धर्मों के अपनाने की। विद्वान उन कर्मठों से कर्म करना सीखें, कर्मठ इन विद्वानों से विद्याग्रहण करें, तभी राष्ट्र का अभ्युत्थान सम्भव है। केवल ब्रह्मबल (विद्याबल) भी कुछ नहीं करसकता, केवल क्षत्रबल (कर्मबल) भी व्यर्थ है। ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय में राष्ट्र का कल्याण है। सिविल (Civil) और मिलिट्री (Military) के समन्वय से ही राष्ट्र का अभ्युदय है। विद्या-कर्मरूप ब्रह्म—क्षत्रबल के समन्वय से ही ईश्वर प्रजापति विश्वसाम्राज्य का उपभोक्ता बन रहा है। इसी प्रकृतिसिद्ध विज्ञान का निरूपण करते हुए श्रुति कहते हैं—

> "ब्रह्मैव मित्रः, क्षत्रं वरुणः। अभिगन्तैव ब्रह्म, कर्त्ता क्षत्रिय। ते हैतेऽग्रे नानेवासतुर्ब्रह्म च क्षत्रं च। ततः शशाकैव ब्रह्म मित्र ऋते क्षत्राद्वरुणात् स्थातुम्, न क्षत्रं वरुण—ऋते ब्रह्मणो मित्रात्। यद्ध किञ्च वरुण कर्म चक्रेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै तत् समानृधे। स क्षत्र वरुण—ब्रह्म मित्रमुपमन्त्रयाञ्चक्रे-उप मावर्तस्व, संसृजावहै, पुरस्त्वा करवे, त्वत्प्रसूतः कर्म करवा इति। तथेति। तौ समसृजेतां, तत एव मैत्रावरुणो ग्रहोऽभवत् ।×+++। तस्मादवक्लृप्तमेव-यद्-ब्राह्मणोऽराजन्यः स्यात्, यद्यु राजानं लभेत समृद्धं तत्।

एतद्ध त्वेवानवक्लृप्तं यत् क्षत्रियोऽब्राह्मणो भवति। य-
द्ध किंच कर्म कुरुतेऽप्रसूतं ब्रह्मणा मित्रेण, न हैवास्मै
तत् समृध्यते। तस्मादु क्षत्रियेण कर्मकरिष्यमाणेनो
पसर्त्तव्य एव ब्राह्मणः । स हैवास्मै तद् ब्रह्म प्रसूतं
कर्म्मऽर्ध्यते" इति — (शत० ब्रा० ४ का० १ प्र० ४ ब्रा०)।

ब्रह्म मित्र है, क्षत्र वरुण है। आगे आगे चलने वाला ही (अनुमति प्रदान करने वाला ही) ब्रह्म है, कर्ता क्षत्रिय है। यह दोनों (ब्रह्म-क्षत्र) पहले पृथक् पृथक् से ही थे, अर्थात् सृष्टि से पहिले इन की सहचर अवस्था थी, ग्रन्थिबन्धनभाव न था। उस समय (सृष्टि से पहिले) ब्रह्म मित्र तो क्षत्र वरुण के बिना (स्वस्वरूप से) प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ होगया, परन्तु क्षत्र वरुण ब्रह्म मित्र के बिना स्वतन्त्र रूप से प्रतिष्ठित रहने के लिए समर्थ न हो सका। उस (एकाकी दशा में) ब्रह्म मित्र की अनुज्ञा के(सहयोग के)बिना वरुणने जो कुछ कर्म किया,वह कर्म इस वरुणक्षत्र के लिए समृद्धि का कारण न बना। (अपने कर्म को व्यर्थ होता देख कर) क्षत्र वरुण ने ब्रह्ममित्र से प्रार्थना की कि (हे ब्रह्म!) आप मेरे ऊपर कृपा करें, आप मेरे पास लौट आवें। अपन दोनों मिल जांय, मैं सदा आप को आगे रक्खूंगा, आप जैसी आज्ञा देंगे तदनुकूल ही कर्म करूंगा। ब्रह्मने 'तथास्तु' कह दिया, दोनों मिल गए। (इन दोनों के समन्वय से)—(सुप्रसिद्ध अहोरात्ररूप) यह मैत्रावरुणग्रह संपन्न होगया। ++×++। यह बात तो फिर भी बन सकती है कि ब्राह्मण बिना राजा के रह जाय। यदि ब्राह्मण राजा को प्राप्त कर लेगा तो यह उस ब्राह्मण की समृद्धि होगी। परन्तु यह बात तो किसी भी अवस्था में संभव नहीं है कि क्षत्रिय बिना ब्राह्मण के (क्षणमात्र भी) रह जाय। बिना ब्राह्मण की आज्ञा के क्षत्रिय जो भी

कर्म करता है, का कर्म कभी समृद्धि का कारण नहीं बन सकता। इस लिए कर्म करनें की इच्छा रखनें वाले क्षत्रिय को अवश्य ब्राह्मण का सहारा लेना चाहिए। ब्रह्म से आदिष्ट कर्म इस क्षत्रिय के लिए अवश्य ही सफल बन जाता है"।

ब्रह्म ज्ञान है, क्षत्र कर्म है। ज्ञान मनोबल है, कर्म प्राणबल है। ब्रह्म आपोमय है, बुद्धि सूर्यमयी है। आपोमय पारमेष्ठ्य वरुणब्रह्म क्षत्र है, विज्ञानमय सूर्य मित्र है। दोनों के समन्वय से मैत्रावरुण रूप अहोरात्रग्रह उत्पन्न हुआ है। 'रात्रि के १२ बजे से मध्यान्ह के १२ बजेतक अर्द्धखगोल (पूर्वकपाल) मित्र है। इस में सूर्य की प्रधानता रहती है—'मैत्रमह'। दिन के १२ बजे से रात्रि के १२ बजेतक का अर्द्धखगोल (पश्चिमकपाल) वरुण है। इस में पारमेष्ठ्य सोम की प्रधानता रहती है-'रात्रिर्वारुणी'। अहोरात्र का परिप्लव ही विश्व का रूप है। इस प्रकार ब्रह्म-क्षत्र के समन्वय से विश्व प्रकाशित हो रहा है। यह विश्व तीसरा वाग्बल है। इस प्रकार मन (ब्रह्म), प्राण (क्षत्र), वाक् (विट्) की समष्टि 'इदं सर्वम्' है। यदि ब्रह्म-क्षत्र का सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है तो चिद्रूप अर्थमूर्त्ति विश्व लयावस्था में परिणत हो जाता है। यद्यपि ज्ञान-कर्म दोनों को दोनों की अपेक्षा है। परन्तु प्रधानता ज्ञान की ही है। कारण ज्ञान व्यापक है, मूलधरातल है। जब सृष्टिरूप समृद्धि नहीं रहती, तब कर्म का तो विलयन हो जाता है परन्तु ज्ञान स्वस्वरूप से ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित रहता है। हां यदि ज्ञान का कर्म के साथ समन्वय होजाता है तो विश्वरूप से उस की समृद्धि अवश्य हो जाती है। परन्तु कर्म यदि ज्ञान का आश्रय छोड़ देता है तो वह अपना स्वरूप ही खो बैठता है। इसी रहस्य को बतलानें के लिए श्रुति नें—उपवरुण द्वारा ब्रह्म मित्र की

प्रार्थना करवाई है। ब्रह्म ही क्षत्र की योनि है—(देखिए ई वि मा १२खण्ड कर्म-तन्त्र)। प्रत्येक कर्म में ज्ञान पहिले है, कर्म अनन्तरभावी है। तत्तत्कर्मों का ज्ञान ही तत्तत् कर्मों की प्रवृत्ति का कारण बनता है।

इसी ज्ञानब्रह्म के उपासक को ब्राह्मण कहा जाता है, क्षत्रबल के उपासक को क्षत्रिय कहा जाता है, एवं अर्थशक्तिरूप प्राकृतत्व के उपासक को (विड्वीर्य के उपासक को) वैश्य कहा जाता है। प्रकृतिसिद्ध जिस ब्रह्म-क्षत्र-विट् वीर्यो के आधारपर ही भारतीयवर्णव्यवस्थासूत्र सञ्चालित है। प्रकृतिवित् प्रत्येक राजा एक एक ब्राह्मण पुरोधा अवश्य रखना चाहिए, एवं इसी के आदेशानुसार इसे कर्म में प्रवृत्त होना चाहिए। चाणक्य पुरोधाने चन्द्रगुप्त को उन्नति के किस शिखर पर पहुंचा दिया था यह सर्वविदित है। यदि ब्राह्मण को राजा का आश्रय न मिलेगा तो ब्राह्मण अपनी विद्या का विकास न कर सकेगा, परन्तु उस के स्वरूप की कोई हानि न होगी। उधर मदोन्मत्त राजा यदि ब्राह्मण को पुरोधा न बनाएगा तो वह स्वयं भी नष्ट होजायगा एवं विड्वीर्यरूप राष्ट्र की अर्थशक्ति भी खो बैठेगा।

ऐसी दशा में हमारे देशवासियों का क्या कर्तव्य होजाता है। इस का विचार वे स्वयं करें। पंजाब क्षत्र है, बंगाल ब्रह्म है, आर्यसमाज क्षत्र है, सनातनधर्म ब्रह्म है। राष्ट्रीयदल क्षत्र है, विद्वन्मण्डली ब्रह्म है। आज आवश्यकता है दोनों के समन्वय की। जब तक ऐसा न होगा, तब तक किसी भी कर्म की सिद्धि न होगी। एक बात और ध्यान में रखनी चाहिए। यद्यपि गलती दोनों की है परन्तु प्रधानता विद्योपासकों की ही है। यदि क्षत्र गलती करता है तो विद्वान् का दोष है। सब से पहिले देश का ब्राह्मणवर्ग अपने कर्तव्य से च्युत हुआ है। पारसी मु

स विद्योपासकों की है। इसी भूलनें वर्णाश्रमव्यवस्था का महत्व नष्ट किया है। मूर्ख का अपराध क्षम्य है, परन्तु विद्वान् यदि गलती करता है, वह यदि कर्तव्यकर्म से विमुख होता है तो उसका अपराध भयङ्कर है—'ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रता'। अविद्या के उपासक तो अन्धकार में हैं ही, परन्तु उन से भी अधिक अन्धकार में वे हैं, जो रात दिन विद्या की उपासना करते हुए भी कर्ममार्ग से वञ्चित हैं। इस प्रकार आत्मा के भागों की उपासना करने वाले दोनों ही दल सदसत्पुत होरहे हैं।

बड़ी कठिन समस्या है। केवल कर्म भी बुरा, केवल ज्ञान उस से भी बुरा। एवं ज्ञान कर्म मार्ग से अतिरिक्त कोई तीसरा मार्ग है नहीं। ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय, किस मार्ग का अवलम्बन किया जाय? इसी प्रश्न का समाधान करती हुई आगे श्रुति कहती है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥११॥

(ई० उ० ११ म०)

राजर्षिविद्या नाम से प्रसिद्ध वैराग्यबुद्धियोगविद्या नाम की प्रथमा विद्या के अन्तर्गत प्रथम एवं द्वितीय अध्याय में भगवान् ने बड़े विस्तार के साथ ज्ञानयोगनिष्ठा, एवं कर्मयोगनिष्ठा का निरूपण किया। साथ ही में 'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य०' (भगवद्गीता) इत्यादि रूप से अर्जुन को बुद्धियोग भली समझाया। भगवत्प्रतिपादित बुद्धियोग का अभिप्राय अर्जुन ने यह समझा कि भगवान् कर्म की अपेक्षा ज्ञानमार्ग को श्रेष्ठ बतला रहे हैं। 'बुद्धि विज्ञान है विज्ञान ज्ञान है' इस सार्वजनीन प्रत्यय के अनुसार बुद्धियोग को ज्ञानयोग समझ लिया गया। उधर भगवान् ने ज्ञाननिष्ठा—कर्मनिष्ठा का निरूपण कर बुद्धियोगनिष्ठा पर प्रकरण का-उपसंहार किया था, बुद्धियोग को ही श्रेष्ठ बतलाया था, साथ ही में 'कुरु

कुम्म स्व०' इत्यादि रूप से अर्जुन को वर्णोचित कर्म करने के लिए बाध्य किया था। कृष्णार्जुनसंवाद क्या था, ब्रह्म कर्म का समन्वय था। भगवान् कृष्ण अभिगन्ता ब्रह्म थे, अर्जुन कर्त्ता क्षत्रिय था। ज्ञान-कर्म का एकीकरण था। इस प्रकार भगवान् ने अर्जुन को जो कुछ कहा था, वह ठीक था। परन्तु इन उन्मुग्ध अक्षरों के वास्तविक तात्पर्य को न समझता हुआ अर्जुन प्रश्न कर बैठा—

ज्यायसी चेत् कर्म्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्म्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥ (गीता३।१)।

इस प्रश्न के उत्तर में तीसरे अध्यायमें भगवान् ने उसी उन्मुग्ध अर्थ को स्पष्ट किया। भगवान् ने बतलाया कि बुद्धियोग वास्तव में न कर्मयोग है, न ज्ञानयोग है, अपितु दोनों के समन्वितरूप का ही नाम बुद्धियोग है। बुद्धि में ज्ञान कर्म दोनों हैं। बुद्धि का ज्ञानभाग विद्या है, कर्मभाग अविद्या है। जिन दो निष्ठाओं का हमनें उल्लेख किया है, परमार्थदृष्टि से ये दो निष्ठा नहीं, अपितु बुद्धियोग नाम की एक निष्ठा है। जो सांख्य है, वही योग है। जो योग है, वही सांख्य है—'एकं सांख्यं च योगं च य पश्यति स पश्यति'। इस पर यदि तू प्रश्न करे कि भगवन्! कर्म कर्म है, आवरक है। वह आवरण किए बिना नहीं रह सकता, ऐसी दशा में आप मुझे कर्मभाग में क्यों प्रवृत्त कर रहे हैं? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि कर्मपरित्याग सर्वथा असम्भव है। कितने ही कर्म (आत्मीयकर्म) ऐसे हैं, जो किसी भी दशा में छोड़े नहीं जा सकते। वैसी परिस्थिति में कर्मपरित्याग का ढोंग करना अपने आपको धोखा देना है। हम मानते हैं कि कितनें ही कर्म अवश्य ऐसे हैं जो बन्धन में डाल देते हैं, परन्तु कितने ही ऐसे भी हैं जो बन्धन के स्थान में बन्धनमुक्ति का कारण बनते हैं। क्या इन अबन्धन कर्मों को छोड़ने में बुद्धिमानी है? नियत कर्म छोड़े नहीं जा सकते, अबंधन कर्मों को छोड़ना बुरा है, फलत सर्वकर्मपरित्यागलक्षणसंन्यास का कोई मूल्य नहीं रहता। कर्म क्यों नहीं छोड़े जा सकते, इस कर्म्मानिवार्यता के सात कारण हैं।

१— अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम थोड़ी देर के लिए यह मान लेते हैं कि सचमुच कर्म आवरक हैं। अच्छा इन्हें छोड़दीजिए। ऐसा करने से भविष्य के लिए आवरण बंद होजायगा। परन्तु ऐसी दशा में सञ्चित (संस्काररूप) कर्मों को हटाने का आपके पास क्या साधन है? ज्ञान निष्क्रिय तत्त्व है, अत यह आवरण को हटाने में असमर्थ है। इस के लिए आप को बाध्य होकर नैष्कर्म्यकर्म का आश्रय लेना आवश्यक हो जायगा। नैष्कर्म्यसिद्धि कर्मारम्भ के बिना सर्वथा असम्भव है। कर्मावरणनिवृत्त्यर्थ नैष्कर्म्यकर्मानुष्ठान आवश्यक है। कर्म की नैष्कर्म्यरूपा पहिली यही अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने — 'न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते' यह कहा है।

२— उधर कर्मसन्यास सर्वथा व्यर्थ है। जिस प्रयोजन के लिए (आवरण के आत्यन्तिक निराकरण के लिए) कर्मसन्यास किया गया, वह प्रयोजन तो सिद्ध हुआ नहीं, कर्म और छोड़ दिया, आलसी और बन गए, इस व्यर्थ के मार्ग से तुमने अपना क्या हित समझ रक्खा है? कर्मसन्यासवैय्यर्थ्यरूपा यही दूसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने 'न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति' यह कहा है।

३— मल-मूत्रपरित्याग, गमन, भोजन आदि नियत शारीरक कर्मों को कभी छोड़ा भी नहीं जासकता। तुम्हें परवश होकर यह सारे कर्म करने ही पड़ते हैं। जब कर्मत्याग असम्भव है तो फिर कर्म परित्याग कैसा? यही कर्मपरित्यागाशक्यरूपा तीसरी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने—'नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' यह कहा है।

४-- साथ ही में छिक्का (छींक) जम्भा (अंगाई-उबासी), श्वासनिश्वास, बुभुक्षा आदि कितने ही प्रकृतिसिद्ध कर्म हैं। तुम निश्चय करलो कि आज से हम न छिक्का लेंगे, न जमाई लेंगे, न भूख लगेगी। परन्तु तुम्हारे इस निश्चय से होगा क्या। तुम्हारी इच्छा यहां अवरुद्ध है। इन कर्मों में प्रकृति का हाथ है। वह अवश्य तुम को इन कर्मों में प्रवृत्त कर देगी। अपनें समय पर तुम्हारी इच्छा की कोई अपेक्षा न रखते हुए यह प्राकृतिक कर्म हो ही पड़ेंगे। यही प्रकृतिसिद्धलक्षणा चौथी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् नें-- 'कार्यते ह्यवश कर्मसर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः' यह कहा है।

५-- आसक्ति पैदा न करने वाले अनासक्तकर्म विशिष्टकर्म हैं। बलात्कार से इन कर्मों का निरोध किया, इन्द्रियों का संयम किया, परन्तु मन वश में नहीं है। इन्द्रियसंयम होनें पर भी मन अन्तर्जगत् में इधर उधर विषयलोलुप बनता हुआ भटकता फिरता है। यही मिथ्याचार है। इससे तो अच्छा यही है कि इन्द्रियों को अपना अपना कर्म करने दो, मन को वश में रक्खो। कर्म करो, आसक्ति मत रक्खो। कर्म का परित्याग मत करो, कामना का परित्याग करो। इन अनासक्त कर्मों से इन्द्रियें अपने आप संयत बन जांयगीं। यही तो इस अनासक्त कर्मयोग की विशेषता है। कर्म की यही पांचवीं अनिवार्यता है। मन को इन्द्रियों के आधीन मत बनाओ इन्द्रियों को मन के आधीन बनाओ, यही अनासक्त कर्मयोग है। इसी के लिए--'यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन। कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते' यह कहा है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ (गीता ३।६)

६— नियतकर्मारम्भ से आवरण हटता है अनारम्भ से आवरण बना रहता है। इसलिए नियत कर्मों का आरम्भ ही अच्छा है। इस प्रकार कर्मारम्भ-एवं कर्मसन्यास दोनों में नियतकर्म का आरम्भ ही श्रेष्ठ सिद्ध होता है। यही कर्म की ६ ठी अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— 'नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' यह कहा है।

७— सबसे आवश्यक बात तो यह है कि कर्ममार्ग की रक्षा से ही ईश्वर की विश्वविभूति की रक्षा है। 'मूंड मुड़ाय भये सन्यासी' के अनुसार सभी कर्म छोड़ बैठें तो सारा विश्व ही उच्छिन्न हो जाय। फिर तो शास्त्रोपदेश के श्रोता ही न रहें, जीवनयात्रा का निर्वाह ही असम्भव हो जाय— 'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'। जब कर्म से जीवनयात्रा का सुगमता से निर्वाह होता है, एवं बंधन होता नहीं, अपितु बंधन विमोक्ष होता है तो ऐसी दशा में कौन बुद्धिमान् कर्मपरित्याग को उत्तम कहेगा। कर्म की यही सातवीं अनिवार्यता है। इसी के लिए भगवान् ने— 'शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः' कहा है। इस प्रकार सात तरह से जब कर्म की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है तो ऐसी स्थिति में कर्मपरित्याग कैसे बन सकता है।

सप्तधा विभक्ता-कर्म्मानिवार्यता

१—नैष्कर्म्योपायत्वादनिवार्यत्वम् →——→"न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते"
२—कर्मसन्यासवैयर्थ्यादनिवार्यत्वम् →——→"न च सन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति"
३—कर्मपरित्यागाशक्यत्वादनिवार्यत्वम् →——→"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्"
४—प्रकृतिसिद्धत्वादनिवार्यत्वम् →——→"कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः"

५—अनासक्तकर्मयोगश्रेष्ठ्यादनि० ——→ "कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते"

६—अनारम्भ-कर्मसंन्यासयो कर्मारम्भश्रेष्ठ्यादनिवार्यत्वम् } ——→ "नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः"

७—शरीरयात्रानिर्वाहकत्वादनि० ——→ "शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः"

यह तो हुआ कर्म की अनिवार्यता का विचार। अब कर्म के अबन्धनभाव पर दृष्टि डालिए। गीताशास्त्रमें अबन्धन कर्मों को १—यज्ञार्थकर्म, २—लोकस्थितिनिर्वाहककर्म, ३—वेदोपात्तकर्म, ४—स्वभावसिद्धसहजकर्म इन चार भागों में विभक्त किया है। विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है। अतः प्रकृत में केवल यज्ञार्थकर्म का दिग्दर्शन करा के इस अधिकरण को समाप्त किया जाता है।

यज्ञार्थकर्म (अबन्धन)

आज दिन यज्ञ शब्द का केवल अग्निहोत्र—दर्शपूर्णमास—चातुर्मास्य—पशुबन्ध—सोमयाग—चयन आदि मनुष्यकृत यज्ञों के साथ ही सम्बन्ध समझा जाता है। यज्ञकर्म से केवल वेदविहित यज्ञ का ही ग्रहण किया जाता है। किसी अंश में ऐसा समझना ठीक भी है। परन्तु इन्हीं को यज्ञ समझना सर्वथा भूल है। यज्ञ प्राकृत—वैधभेद से दो भागों में विभक्त हैं। नित्ययज्ञ प्राकृतयज्ञ कहलाता है। यह अधिदैवत—अध्यात्म—अधिभूत इन तीन भागों में विभक्त है। वैधयज्ञ मनुष्ययज्ञ कहलाता है। अग्निहोत्रादि सारे यज्ञ प्रकृति में हो रहे हैं। प्रकृतियज्ञ से (जो कि अधिदैवतयज्ञ नाम से प्रसिद्ध है) अध्यात्म और अधिभूत जगत् का निर्माण हुआ है। एवं उस नित्य प्राकृतयज्ञ की प्रतिकृति पर ऋषियों ने वैध श्रौत यज्ञों का आविष्कार किया है। हम जो यज्ञ करते हैं, वह ठीक उस प्रकृतियज्ञ की नकल है। इसी आधार पर 'देवाननुविधा वै मनुष्याः'—'यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि' इत्यादि निगम

१ इन विषयों का विशद विवेचन गीताविज्ञानभाष्य के अपरन्धनकर्मरहस्यात्मकोपनिषत् नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

प्रचलित है। प्रकृतियज्ञ में जैसा हो रहा है, यदि तत्प्रतिकृतिभूत मनुष्ययज्ञ में उससे जरा भी विरुद्ध किया जाता है तो इसका स्वरूप बिगड़ जाता है। प्राकृत-विशेष भेद से द्वेधा विभक्त इन यज्ञों में से प्रकृत में सृष्टिप्रवर्त्तक प्राकृत यज्ञ का ही प्रकरण है। 'अग्नि में सोमाहुति' होना ही यज्ञ है। जिसमें अन्य वस्तु आहुत होती है, वही अग्नि है। आहुत होने वाली वस्तु सोम है। सब में सब आहुत हो रहे हैं। सब अन्नाद हैं, सब अन्न हैं। इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से विश्व स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित हो रहा है। परात्पर-अव्यय-अक्षर-क्षरसमष्टि को हमने षोडशी-प्रजापति कहा है। इस षोडशी प्रजापति का अक्षर भाग ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-इन पांच कलाओं में विभक्त है। इनमें ब्रह्मा का जो कीरण है, वही त्रयी-वेदरूप में परिणित होता है। इस वेदोत्पत्ति में इन्द्राविष्णू की सत्ता ही मुख्य कारण है। इस प्रकार ब्रह्मा विष्णु इन्द्र से उत्पन्न वेदत्रयी के कारण यह षोडशी वेदमूर्ति बन जाता है। इसी आधार पर पूर्व के प्रकरणों में हमनें ईश्वर को वेदमूर्ति कहा है। वेदत्रयी का यजुर्भाग अग्नि है। अग्निरूप षोडशी पुरुष में प्राण, आप, वाक्, अन्न, अन्नाद इन पांचों प्रकृतियों की आहुति होती है। यह पांचों आहुति द्रव्य हैं। अतएव इन पांचों की समष्टि को हम अवश्य ही—'सोम' कहने के लिए तय्यार हैं। उस अग्निमय पुरुष में प्राणसोम की आहुति होने से स्वयम्भू प्रकट होता है। आपसोम की आहुति होने से परमेष्ठी उत्पन्न होता है। वाक्सोम की आहुति होने से सूर्य्य उत्पन्न होता है। अन्नादसोम की आहुति होने से पृथिवी उत्पन्न होती है एवं अन्नसोम की आहुति होने से चन्द्रमा उत्पन्न होता है। स्वयम्भू प्राणयज्ञ है। परमेष्ठी आपोयज्ञ है। सूर्य्य वाग्यज्ञ है। पृथिवी अन्नादयज्ञ है। चन्द्रमा अन्नयज्ञ है। इस प्रकार पञ्चधा विभक्त सोमरूपा प्रकृति का पुरुषाग्नि के साथ समन्वय होने से पञ्चात्मक विश्वयज्ञ उत्पन्न हो जाता है। इसी आधार पर-'पाङ्क्तो वै यज्ञः' यह कहा जाता है। यह अनुगम श्रुति है, अतएव इसके अनेक अर्थ होते हैं जिनका कि आगे के उपनिषदों में समय समय पर निरूपण होता रहेगा। अभी केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रकृति एवं पुरुष के समन्वय से पंचात्मक विश्वयज्ञ उत्पन्न होता है। पांचों में प्राणादि पांच

देवता अधिष्ठित हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों में एक आख्यान आता है कि—"प्रजापति नें यज्ञ द्वारा देवताओं को उत्पन्न किया। उत्पन्न देवताओं ने प्रश्न किया कि हे प्रजापति! हम आपके यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं। अब हमें क्या आज्ञा होती है? उत्तर में प्रजापति नें कहा कि जो कर्म्म मैंनें किया है वही तुम करो। मैंन यज्ञ द्वारा तुम्हें उत्पन्न किया है, तुम भी यज्ञ द्वारा नई नई प्रजाएं उत्पन्न करो। बस उसी आदेश के अनुसार देवताओं नें उस प्राजापत्य विश्वयज्ञ से पुन यज्ञ किया, एवं इसके द्वारा पांचो लोकों में (स्वयम्भू आदि में) रहनें वाली प्रजाओं को उत्पन्न किया। एवं देवयज्ञ से उत्पन्न हम भी आज यज्ञद्वारा ही प्रजोत्पत्ति में समर्थ होते हैं"। तात्पर्य्य इस आख्यान का यही है कि विश्वयज्ञ के देवताओं का फिर परस्पर संगम होता है। इससे आगे की सारी प्रजाएं उत्पन्न होतीं हैं। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर—'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'—इत्यादि कहा जाता है। यज्ञकर्म्म से ही सारा विश्व उत्पन्न हुआ है, इसी से सारी प्रजाएं उत्पन्न हो रही हैं, एवं इसी से आगे आगे नई नई प्रजाएं उत्पन्न होती रहतीं हैं। इसी प्राकृतिक नित्यसिद्ध यज्ञविज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गीता ३।१०)।

एक को दूसरे के साथ मिलाना यजन है। इसी मेल से संसार में नए नए आविष्कार होते रहते हैं। इसी से संसार के पदार्थमात्र उत्पन्न हुए हैं। इसी से हम चाहें जो कामना सिद्ध कर सकते हैं। संसार में जड़ चेतन ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है जो यज्ञ न करता हो। जिस पदार्थ का यज्ञ मन्द हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। पूर्वोक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि सृष्ट्वापाथ प्रजा शब्द वस्तुमात्र का वाचक है। अब ज़रा व्याख्याताओं की लीला देखिए। उनकी दृष्टि में "ब्रा० क्ष० वैश्य तीन ही प्रजा हैं। प्रजापति नें यज्ञ द्वारा इन तीन वर्णों को उत्पन्न किया" यह है प्रजा शब्द का अर्थ। प्रजापति जो कुछ उत्पन्न करते हैं, उस का मूल यज्ञ ही है। यह यज्ञसृष्टि चार वर्णों में विभक्त है।

मनुष्यों में ही यह वर्ण विभाग नहीं है, अपितु पदार्थमात्र में चातुर्वर्ण्य का समावेश है। इसी अभिप्राय से सामान्यरूप से वर्णसृष्टि का निरूपण करते हुए भगवान् कहते हैं—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम् ॥ (गीता)

भगवान् कहते हैं-मैंने चार प्रकार की प्रजासृष्टि की। इधर टीकाकार "तीन वर्णों को (सो भी मनुष्यों से सम्बन्ध रखने वाले ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्यों को) ही उत्पन्न किया" यह अर्थ करते हैं। कितनी भूल है। इस भूल का कारण यज्ञ का स्वरूप न समझना ही है। उन्होंने यज्ञ को हवनादि प्रसिद्ध यज्ञ समझ रक्खा है। किसी विशेष कारण से यह वैध यज्ञ मनुष्य ही कर सकते हैं। इन में भी ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य को ही अधिकार है। शूद्र अयज्ञिय होने से यज्ञ में अनधिकृत है। उन्होंने समझा कि इस यज्ञ से प्रजोत्पत्ति होती है। चूंकि यज्ञ करने का विधान तीन के लिए ही पाया जाता है। अतः यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला यहां का प्रजा शब्द तीन वर्णों का ही वाचक हो सकता है। अस्तु परोधिकार चर्चा का हमें कोई अधिकार नहीं। यहां हमें केवल अपना मन्तव्य प्रकाशित करने का अधिकार है। हम यज्ञ को सृष्टि का प्रवर्तक समझते हैं। एवं प्रजा से सारे विश्व का ग्रहण करते हैं, साथ ही में उस विश्वप्रजा की सत्ता इसी यज्ञ-कर्मरूप समझते हैं। रासायनिक प्रक्रिया से दो वस्तुओं के मिलने पर जो अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, वही यज्ञसृष्टि कहलाती है। यही सम्बन्ध—'याग' कहलाता है। यागस्वरूप-सम्पादक यह यजन (यज्ञ) देवपूजा, देवसंगमन देवदान भेद से तीन भागों में विभक्त है। यज धातु के तीनों अर्थ हैं। भूतसम्बन्ध से दानयज्ञ होता है देवसम्बन्ध से संगमनयज्ञ होता है, एवं आत्मसम्बन्ध से पूजायज्ञ होता है। उदाहरण के लिए वैधयज्ञ को लीजिए। वैध-यज्ञ (मनुष्यकृत श्रौत यज्ञ) में उन नियत प्राणदेवताओं के लिए पुरोडाश की आहुति दी जाती है। इस पुरोडाश में भूत-प्राण दो भाग हैं। एक भाग भौतिक है, एवं जिस तत्त्व के आधार पर पुरोडाश द्रव्य स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित है, वह प्राण है, यही देवता है। भूत यथायथ

है। प्राण ११ अव्यय है। पुरोडाश में ११ देवता हैं, ५ भूत हैं। इन में यजमान जिस देवता की भावना करके पुरोडाश की आहुति देता है, पुरोडाश का वही देवता उन्मुक्त होकर उस नित्य प्राकृतिक प्राणदेवता के साथ मिल जाता है। 'यावद्वित्तं तावदात्मा' इस सिद्धान्त के अनुसार यजमान का आत्मा भी पुरोडाश में रहता है। पुरोडाश द्वारा यजमान का आत्मा भी उन प्राणदेवताओं के साथ मिल रहा है। यही उन देवताओं के लिए यजमान का आत्मसमर्पण है, इसी का नाम पूजा है। दूसरे शब्दों में आत्मा को देवलोक में, देवताओं के शासन में प्रतिष्ठित करना ही, अपनें आपको उनकी आराधना के लिए भेट चढ़ाना ही देवपूजा है। एवं जो देव भाग है वह उन देवताओं से मिल जाता है। यह संगतिकरण है। बाकी बचता है भूतभाग। उसे देवता ले लेते हैं, परन्तु स्वाहा सम्बन्ध से। "न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्ति, एतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति" के अनुसार देवता पितरप्राण की तरह अन्तर्याम सम्बन्ध से इस पुरोडाश में प्रविष्ट नहीं होते, अपितु बाहर व्याप्त होते हैं। अतएव "स्व-मन्होति व्याप्नोति" इस व्युत्पत्ति से देवाम 'स्वाहा' नाम से प्रसिद्ध है। स्वाहा बोलकर ही देवताओं के लिए आहुति दीजाती है। इसप्रकार एक यज्ञमें तीन विभाग होजाते हैं। सर्वत्र तीनों हैं। आत्मा कारणशरीर है, देव सूक्ष्मशरीर है, भूत स्थूलशरीर है। आत्मा मनोमय है, देव प्राणमय है। भूत-वाङ्मय है। सारी वस्तुए (प्रजामात्र) मनप्राणवाङ्मय हैं। तीनों भाग अन्यके तीनों में जाया करते हैं, अन्यके तीनों भाग इसमें आया करते हैं। इसी त्रिविधयज्ञात्मक आदान विसर्ग से सब प्रजाएं अपने अपने स्वरूप में स्थित हैं।

१—भूतसम्बन्धात्—	दानयज्ञ ——	स्थूलशरीरसम्बन्धी—	वाङ्मय	स एष मनःप्राणवाङ्मयः, आदानविसर्गात्मकः स्थितियज्ञः
—देवसम्बन्धात्—	संगतिकरणयज्ञ —	सूक्ष्मशरीरसम्बन्धी—	प्राणमय	
—आत्मसम्बन्धात्—	पूजायज्ञ ——	कारणशरीरसम्बन्धी—	मनोमय	

हमारे आध्यात्मिक प्राण निरन्तर आधिदैविक प्राणदेवताओं में आहुत होते रहते हैं, साथ ही में वे प्राणदेवता हमारे में आहुत होते रहते हैं। प्रकृतिमण्डल अपने पदार्थ निरन्तर ह

मैं देता रहता है, साथ ही मैं लेता भी रहता है। मैं इससे उत्पन्न हुआ हूँ। उत्पन्न होने वाले मुझ अन्न को यह खाता है, एवं अन्नरूप मुझे खाते वाले उसे मैं भी खाता रहता हूँ। इसी विषय का निरूपण करते हुए वेदमहर्षि कहते हैं—

"अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इ देवमावत्, अहमन्नमन्नमदन्तमद्मि"
(ऐतरेयआरण्यक……)।

इस देवभाव के पारस्परिक सम्बन्ध को 'भविता संयोग' कहा जाता है। ये देवता यहाँ आते हैं, यहाँ के वहाँ जाते हैं, यह चक्र निरन्तर चलता रहता है। बस इस चक्र की रक्षा के लिए जो कर्म अपेक्षित है, वही—'यज्ञार्थ' कर्म कहे जाते हैं। हम उस का उच्छिष्ट खाते हैं, वह हमारा उच्छिष्ट खाता है। 'उच्छिष्टात् जज्ञिरे सर्वम्" (अथर्व ११।२।११) यह ध्रुव सिद्धान्त है। उच्छिष्ट को प्रवर्ग्य कहते हैं। इस प्रवर्ग्यविद्या का विशद निरूपण पूर्व के—'ईशावास्यमिदं सर्वम्'—इत्यादि मन्त्र में किया जा चुका है। यह यज्ञ आगे जाकर भूतदेव भेद से दो मार्गों में विभक्त होजाता है। विस्तार भय से इस का निरूपण नहीं किया जासकता। यहाँ सारे प्रपञ्च से हमें केवल यही बतलाना है कि यज्ञरूप आत्मा की स्वरूपरक्षा के लिए विधान स्वरूप जो यज्ञार्थ कर्म है वह बन्धन का कारण नहीं बनता। उसके न करने से उलटी हानि होती है। व्यक्तिस्थिति एवं समाजस्थिति जिन कर्मों से होती है वही यज्ञार्थकर्म हैं। उन के प्रवर्तक आप नहीं हैं, प्रकृति है। अतएव उन से संस्कार नहीं होता, स्वरूपरक्षामात्र होती है। अतः इन्हें कभी नहीं छोड़ना चाहिए। इसी यज्ञार्थकर्म की अबन्धनता बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

१ इस विषय का विशद विवेचन श्राद्धविज्ञानभाष्य के — ब्रह्मकर्मात्मकर्मोपनिषत्, नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबंधनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ (गीता ३।९) ।

मन की प्रधानता हटाने के लिए ही भगवान् ने-'मुक्तसंगः' कहा है। मन की इच्छा से जो कर्म किया जाता है, वह यथार्थ नहीं है। अपितु बुद्धि की प्रधानता से, दूसरे शब्दों में बुद्धियोग द्वारा जो कर्म किए जाते हैं, वे ही—यथार्थकर्म हैं, एवं वे अबन्धन हैं।

पूर्व के निरूपण से यह सिद्ध हो जाता है कि कर्मपरित्याग सर्वथा असम्भव है। साथ ही में यह भी मान लेना पड़ता है कि केवल कर्म अवश्य ही बन्धन का कारण है। कर्मपरित्याग-सापेक्ष ज्ञान भी निरर्थक है, कामनामय कर्म भी अनुपादेय है, 'काम्यानां कर्मणां न्यासं सन्यासं कवयो विदुः' यही बुद्धियोग है। यहां एक प्रश्न उपस्थित होता है। मनुष्य तत्तत् कर्मों में तत्तत् फलाशा को लेकर ही प्रवृत्त होता है। यदि उसे यह विदित होजाता है कि अमुक कर्म करने से मुझे अमुक फल न मिलेगा तो वह भूल कर भी उस निरर्थक कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार जो बात बन नहीं सकती, उस के लिए—'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' यह असम्भव आज्ञा कैसे दी गई? इसके उत्तर में अभी यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि मनुष्य की आध्यात्मिकसत्ता एक सीमित सत्ता है। उस में ज्ञान—कर्मशक्ति परिमित हैं। कर्मारम्भदशा में ही यदि मनुष्य का ज्ञानकर्ममय आत्मा फल की ओर झुक जायगा तो इस की ज्ञान—कर्मशक्ति बट जायगी। आधा ज्ञानकर्म फल पर चला जायगा, आधा ज्ञानकर्म साध्य कर्म पर रह जायगा। परिणाम इस का यह होगा कि साध्यकर्म की सिद्धि के लिए जितना कर्म अपेक्षित होना चाहिए, उतना (फलांश में विभक्त हो जाने के कारण) न रहेगा, कर्म अधूरा रह जायगा। इसलिए कर्म-काल में फल की चर्वणा (अनुभव) में कर्म को खर्च न कर सर्वात्मना कर्म में ही लीन होना चाहिए। ऐसा होने से फलाशा रखने की दशा में जो कर्मसिद्धि चिरकाल से सम्बन्ध रखती थी, अथवा जिस की सिद्धि में सन्देह था, फलाशापरित्याग से वह कर्म शीघ्र एवं अवश्य ही सफल बन जायगा। कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता। यदि अग्नि पर पानी रक्खा जायगा तो पानी अवश्य

गरम हो जायगा। आप अनन्यभाव से कर्म करें, और फल न हो यह सर्वथा असम्भव है। परन्तु फल उत्पन्न करना आप का काम नहीं है। आप कर्म को सिद्ध कर दीजिए, प्राकृतिक नियम के अनुसार सिद्ध कर्म स्वयं फल का जनक बन जायगा। फल पर दृष्टि रखना अनधिकार चेष्टा है। जो बल कर्मसिद्धि को सम्पादन करने वाला है, उसे निरर्थक खर्च करना है। आप की आशा से फल उत्पन्न नहीं होता, अपि तु आप के कर्म से फलसिद्धि होती है। इसी अभिप्राय से महर्षि चरक ने– 'हेतावीर्ष्युः फले नेर्ष्युः' (चरक सू. सूत्रस्थान—इन्द्रियोपक्रम सद्वृत्तोपदेश)। यह कहा है। अमुक मनुष्य विद्वान् है, उस की इस विद्वत्ता से ईर्ष्या करना बुरा है। अपितु जिस कर्म से उसे विद्याफल मिला है, उस हेतुभूत कर्म के साथ ईर्ष्या करनी चाहिए। अमुक व्यक्ति धनवान् है, इस फलेर्ष्या से आत्मपतन होता है। जिस कर्म से वह धनिक बना है, उस कर्म के साथ ईर्ष्या करने से अभ्युदय होता है। यही उन्नति का अन्यतम एवं सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। फल को कर्म सिद्धि का हेतु मत बनाओ, अपितु कर्म को फल सिद्धि का हेतु समझो, यही कहना है। इस फलाशात्याग से एक तो कर्म अवश्य सिद्ध हो जायगा, फल मिलेगा, उस के आप भोक्ता बनेंगे। दूसरा जो बड़ा भारी लाभ होगा उस का तो कहना ही क्या है। उक्त प्रकार से फलाशात्यागपूर्वक यदि कर्म किया जायगा तो यह कर्म, एवं तज्जनितफल आसक्ति के कारण न बनेंगे—'कुर्वन्नपि न लिप्यते'। फल मिला, उस का आपने भोग किया, परन्तु आसक्ति की जननी आशा के परित्याग से सब कुछ करते हुए भी आप अकर्ता कहलाए, यही तो निष्कामकर्म की विशेषता है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा अधिकार केवल कर्म में है। जब फल तुम्हारे अधिकार में ही नहीं तो फिर आशा ही क्यों करते हो। भगवान् की इस उक्ति का कोई यह अर्थ न समझले कि जब फल की ही आशा नहीं तो कर्म में प्रवृत्ति ही कैसे होगी? इस लिए आगे जाकर भगवान् कहते हैं—'मा कर्म हेतुर्भूः—माते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'। कर्मफल को हेतु मत बनाओ, कर्म को कार्य सिद्धि का हेतु समझो। कभी अकर्म से मित्रता न करो, फल भी तो अकर्म ही है। उस से संग करना कर्मभूमि से वञ्चित रहना है।

एक आपत्ति का जैसे तैसे निराकरण किया गया, दूसरी आपत्ति और उपस्थित हो गई। सुनिए! फलाशा आसक्ति की जननी है, इसलिए भी उसका त्याग करना चाहिए, एवं शक्ति विभाग से यह कर्मसाधक कर्म की शक्ति कम करने के कारण भी छोड़ने योग्य है। साथ ही में फलाशा अनधिकार चेष्टा है, कर्मसिद्धि में इस की कोई अपेक्षा नहीं, यहां तक तो सब परिस्थिति ठीक ठीक हो गई। परन्तु जो कामना कर्म की जननी है, उस के परित्याग का आदेश कैसे संभव हुआ? कामना (इच्छा) के बिना यत्न नहीं हो सकता, फलतः परम्परया कामना का कर्मजनकत्व, किंवा कर्मप्रवृत्तिहेतुत्व सिद्ध होजाता है। उधर फलाशावत् कामना को आसक्ति की जननी बताया जाता है। ऐसी परिस्थिति में ऐसा कोई कर्म नहीं रहता जो बिना कामना के सपन्न हो जाय। सभी कर्म सकाम हैं, अतएव कर्ममात्र (सकाम बनते हुए) आसक्ति के प्रवर्तक बनते हुए आवरणरूप बन्धन के कारण हैं। फलतः सन्यास का 'सर्वकर्मपरित्याग-लक्षणरूप सन्यास' इस किंवदन्ती पर ही विश्राम मानना पड़ता है। ऐसी दशा में 'कामना रहित हो कर कर्म करो' इस आदेश का कोई मूल्य नहीं है। इस विप्रतिपत्ति के निराकरण के लिए बुद्धि से काम लीजिए, विज्ञानात्मा की शरण में चलिए, समाधान हो जायगा। बुद्धि और मन की प्रधानता अप्रधानता से इच्छा के दो रूप हो जाते हैं। मन की प्रधानता से बुद्धि की स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है, मनोराज्य शेष रह जाता है। मन चान्द्र सोममय होने से स्नेहगुणक है। फलत ऐसे मन की कामना अवश्य ही स्नेहधर्म के कारण आसक्ति की जननी है। उधर बुद्धि की प्रधानता से मन गौण बन जाता है। ऐसे बुद्धिप्रधान मन की कामना स्नेहमयी न रहकर बुद्धिसम्बन्ध से तेजोमयी बन जाती है। तेजतत्त्व असंग है, अतएव तन्मयी कामना असंगभावमयी बनती हुई आसक्ति की जननी नहीं बनती। यही तो बुद्धियोग है। कामना है, परन्तु कामना का जो आसक्तिभाव है, वह बुद्धि की कृपा से मृतप्राय है। ऐसी

अवस्था में इस कामना का स्पर्श न रहने के समान है, यही निष्कामकर्म है।

दार्शनिक परिभाषा के अनुसार विचार कीजिए। दार्शनिकों ने इच्छा के उत्थाप्याकांक्षा, उत्थिताकांक्षा भेद से दो रूप माने हैं। अपने आप उठी हुई इच्छा उत्थिताकांक्षा है। प्रयास से उठाई गई इच्छा उत्थाप्याकांक्षा है। इन दोनों इच्छाओं का प्रथमखण्ड में निरूपण किया जा चुका है, अतः यहां विश्लेषण की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिप्रधाना इच्छा आत्मेच्छा है, ईश्वरेच्छा है, यही उत्थाप्याकांक्षा है। मन यदि बुद्धि के अनुगत बन जाता है तो आत्मेच्छा प्रधान बन जाती है, ऐसे मन की कामना अकामना है। यदि मन विषयों की ओर ही झुका रहता है तो आत्मेच्छा से पराङ्मुख होना हुआ, स्वस्वरूप से प्रधान बनता हुआ काममय बन जाता है। यही कामना बन्धन का कारण है। निष्कामकर्म में इसी कामना के परित्याग का आदेश है।

ज्ञान-कर्म दोनों आत्मा के स्वरूप हैं। कर्म करो—यथाप्राप्त, कभी बन्धन न होगा। निवृत्ति-कर्मरूप अविद्या के द्वारा आत्मा पर आया हुआ मृत्युरूप कर्मसंस्कार हट जायगा, अमृतात्मा का साक्षात्कार हो जायगा। मृत्युरूप कर्म-(संस्काररूप कर्म,-समुद्र का तरण निवृत्तिकर्मरूपा अविद्या से ही हो सकता है-'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः' इत्यादि में कर्म शब्द काम्यकर्म का ही वाचक है। त्याग शब्द से कामना का परित्याग ही अभिप्रेत है। कामना का त्याग ही तो वास्तविक त्याग है। कर्म छोड़ दिया, कामना बनी रही, यह तो परित्याग नहीं कहता है। निष्कर्ष यही हुआ कि मध्यस्थ विज्ञानात्मा में विद्या—अविद्या (कर्म) दोनों हैं। दोनों स्वतन्त्र होकर बुरे हैं। मिलकर बन्धन को हटाने में समर्थ हैं। इन दोनों के समन्वय से अव्यय के दोनों भाग समता को प्राप्त हो जाते हैं। यह समत्व ही सच्चा बुद्धियोग है, समत्व ही शान्ति है, शान्ति ही आत्मानन्द है।

इस प्रकार हमारा यह तृतीय अधिकरण (विषयक्रमानुसार चतुर्थ अधिकरण) विद्या-अविद्यात्मक सूर्य का, एवं तदंशभूत विद्या-अविद्यात्मिका बुद्धि का स्वरूप बतलाता हुआ, दोनों की समष्टिरूप बुद्धियोग का ही उपदेश देता है। श्रुति को अध्यात्म-अधिदैवत दोनों संस्थाओं का स्वरूप बतलाना अभीष्ट था, अतएव उसने दोनों के (सूर्य और बुद्धि के) सामान्यधर्मों से सम्बन्ध रखने वाले 'विद्या-अविद्या' शब्दों का ही प्रयोग किया है। विद्या-अविद्यात्मक विज्ञानात्माधिकरण समाप्त हुआ, अब क्रमप्राप्त संभूति-असंभूत्यात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। —

इति-विज्ञानात्माधिकरणम्

— ॥३०६॥ —

मत्कृतात्माधिकरणे-

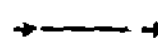
विज्ञानात्माधिकरणं समाप्तम्

३



पूर्णमदः  पूर्णमिदम्

४-चन्द्रमा  **प्रज्ञानवैभव** *४-प्रज्ञानात्मा*

अधिदैवतम्  अध्यात्मम्

ब्रह्मसत्यान्तर —

सम्भूति-असम्भूतिमयः प्राकृतात्मा चन्द्रमाः प्रज्ञानात्मा

३

चन्द्रमा ← —— ←←←**अन्नम्**→→→ ———→प्रज्ञानात्मा

(प्राकृतात्माधिकरणे *प्रज्ञानात्माधिकरण चतुर्थम्*)

ब्रह्मस्वेदवेदावच्छिन्न -सम्भूति-असम्भूतिमयात्मा

यज्ञसम्बन्धात्मक

१-अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥
२-अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसंभवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥
३-सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥

(ईशोपनिषत् १२-१३-१४-मं०)





प्रज्ञानात्मस्वरूपनिदर्शन

१– यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ॥
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (यजु १४।१) ।

२– यत् प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतम्प्रजासु ॥
यस्मान्न ऋते किञ्चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (१४।२) ।

३– येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम् ।
येन यज्ञस्तायते सप्त होता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु ॥ (३५।३) ।

४– अमीय ऋक्षा निहितास उच्चा नक्तं ददृशे कुह चिद्दिवेयुः ।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि विचाकशच्चन्द्रमा नक्तमेति ॥ (ऋक् १।२४।१०) ।

५– चन्द्रमा अप्स्वन्तरा सुपर्णो धावते दिवि ॥
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥ (१।१०५।१) ।

६– नवो नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम् ॥
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन् प्र चन्द्रमा स्तिरते दीर्घमायुः ॥ (ऋ १०।८५।१९)

७– चन्द्रमा मनसो जात (यजुः ३१।१२)

८– चन्द्रमा मे मनसि श्रितः" (तै ब्रा ३।१०।८) ।

९– तदयन्मनश्चन्द्रमास्सः (जै० उ० १।२८।२) ॥

१०– मनो मे, रेता म प्रजा म पुनः सम्भूतिम तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि) ॥
(जै उ ३।२७।४) ।

११– यदन्मन आसीत्, स चन्द्रमा अभवत् । (जै० उ० २।२।३) ।

॥ श्रीः ॥

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः ।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत् ॥१॥
आकाशमण्डलं शुभ्रं देवताऽप्य सदाशिवः ।
नादरूपं भ्रुवोर्मध्ये मनसो मण्डलं विदुः ॥२॥
विषं वर्षति सूर्योऽसौ स्रवत्यमृतमुन्मुखः ।
तालुमूले स्थितश्चन्द्रः सुधां वर्षत्यधोमुखः ॥३॥
भित्ते चलति संसारो निश्चले मोक्ष उच्यते ।
तस्माच्चित्तं स्थिरीकुर्यात् प्रज्ञया परया विधे ॥४॥
चित्तं कारणमर्थानां तस्मिन् सति जगत्त्रयम् ।
तस्मिन् क्षीणे जगत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नतः ॥५॥
मनोऽहं गगनाकारं मनोऽहं सर्वतोमुखम् ।
मनोऽहं सर्वमात्मा च न मनः केवलः परः ॥६॥
मनः कर्माणि जायन्ते मनो लिप्यति पातकैः ।
मनश्चेदुन्मनीभूयान्न पुण्यं न च पातकम् ॥७॥
मनसा मन आलोक्य वृत्तिशून्यं यदा भवेत् ।
ततः परं परब्रह्म दृश्यते च सुदुर्लभम् ॥८॥
मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्ति-स्थितिकारणम् ।
मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् ॥९॥





मेरा के सभी कङ्कर नर्मदेश्वर शङ्कर, शालग्राम के सभी कङ्कर शालग्राम। इसी प्रकार ईश्वर प्रजापति के सभी पर्व ईश्वरप्रजापति। समष्टिरूप से भी वही सर्वता, व्यष्टिरूप से भी वही सर्वता। अथ-अग्नि दोनों समानधर्मा। 'अहमेवेदं सर्वम्'। ईश्वरप्रजापति का तीसरा पर्व (सूर्य) जहां विद्या-अविद्यात्मक है, वहां यह चौथा पर्व (चन्द्रमा) सम्भूति (उत्पत्ति) और असम्भूति का अधिष्ठाता है। प्रकृत अधिकरण तीन मन्त्रों से इसी का निरूपण करता है।

सृष्टिक्रमानुसार सूर्य के अनन्तर पृथिवी है, तदनन्तर में चन्द्रमा है। परन्तु अध्यात्मसंस्था की दृष्टि से चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में प्रतिष्ठित है। पार्थिव प्रजा पर सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में रहने वाले कृष्णपक्ष के अधिष्ठाता चन्द्रमा का ही अनुग्रह होता है। जब चन्द्रमा पृथिवी के इस ओर आजाता है तो ऐसी अवस्था में चान्द्रसोम का सौर इन्द्र के साथ सम्बन्ध होजाता है। शुक्लपक्ष में, विशेषतः पूर्णिमा में सारा चान्द्रसोम सौर सावित्राग्नि में हुत रहता है। इस शुक्लावस्थाविच्छिन्न चान्द्रसोम का पृथिवी पर आगमन नहीं होता। पृथिवी के चारों ओर घूमने वाला चन्द्रमा जब पृथिवी के उस ओर (सूर्य की ओर) आजाता है तो चन्द्रमा का रूप भाग पृथिवी की ओर अनुगत रहता है। फलतः वहां सौर रश्मिएं नहीं पहुंचने पातीं। इस काल में (कृष्णपक्ष में), विशेषतः अमावास्या में चान्द्रसोम अमृतमात्रा से पृथिवी पर आकर ओषधि–वनस्पतियों में प्रविष्ट हो जाता है। यों तो पूरे कृष्णपक्ष में ही चान्द्रसोम पृथिवी पर आता रहता है, परन्तु जब चन्द्रमा ठीक सूर्य और पृथिवी के मध्य में आजाता है तो सोम सर्वात्मना पृथिवी पर आजाता है। यही सूर्येन्दुसमागमकाल 'अमावास्या' नाम से प्रसिद्ध है। इस दिन चान्द्रसोम पार्थिव अग्नि के साथ निवास करता है, अतएव यह तिथि 'अग्निना–अमा (सह) वसति (सोमः)' इस व्युत्पत्ति से अमावास्या नाम से प्रसिद्ध है। इस अमासोम में सन्तानप्रवर्त्तक पितरप्राण प्रमुख रहता है, अतएव अमावास्या पितृतिथि कहलाती है। सोम के साथ पितर प्राण भी ओषधियों में प्रविष्ट होजाता है। ओषधियां ही पुरुषाग्नि में हुत होकर शुक्ररूप में परिणत होती हैं। पितरप्राणावच्छिन्न शुक्र की योषिदग्नि में आहुति होने से प्रजोत्पत्ति होती है। अतएव इसी पितरप्राण के सम्बन्धन के लिए अमावास्या में दर्शेष्टि की जाती है। कहना यही है कि जब चन्द्रमा सूर्य एवं पृथिवी के मध्य में आता है, तभी वह अध्यात्मसंस्था का उपकारक बनता है। कृष्णपक्ष ही सोम का आदानकाल है, इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर श्रुति कहती है—

"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार–सो ऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृणीतीव बिभ्यन्निलयाञ्चक्रे। स पराः परावतो जगाम। तमन्वेष्टुं दध्रिरे। अग्निर्हे

भवानां, हिरण्यस्तूप ऋषीणां, बृहती छन्दसाम् । समभिरनुविवेद । तेनैतां रात्रिं सहाजगाम । ते देवा अब्रुवन् ममा वै नोऽद्य वसुर्वसति ।+ + × + ।
ते देवा अब्रुवन्—न वा इममन्यत् सोमादिनुपात् । सोममेवास्मै सम्भरामेति । तस्मै सोमं समभरन् । एष वै सोमो राजा देवानामन्नं यच्चन्द्रमा । स यत्रैष एतां रात्रिं न पुरस्तान्न पश्चाद्ददृशे, तदिमं लोकमागच्छति । स इह-मापश्चौषधीश्च प्रविशति । स वै देवानां वसु, अन्नं ह्येषाम् । तद्यदेष एतां रात्रिमिहामावसति–तस्मादमावास्या नाम" ।

(शत० ब्रा० १।६।४।१–५)।

"जिस समय इन्द्रने वृत्रासुर के लिए (वृत्रासुर पर) वज्र फेंका–(उस समय) इन्द्र अपने आप को (वृत्रवध में असमर्थ समझते हुए) दूर से दूर भाग गए । तात्पर्य यह हुआ कि इन्द्रने आंख मीच कर वृत्रासुर पर वज्र फेंकने को तो फेंक दिया, परन्तु उन्हें यह विश्वास न था कि मेरे वज्र से वृत्र मारा ही जायगा । फलत वज्रप्रहार कर वृत्र के फिर बचकर प्रहार करने के भय से इन्द्र बड़ी दूर निकल गए । (चूंकि इन्द्र देवता ऋषि, छन्द आदि के आश्रय थे, अत उनके गुम होजाने पर) इन्हें (देवताओंने) ढूंढना आरम्भ किया । (ढूंढने के लिए) देवताओं की ओर से अग्नि गए, ऋषियों की ओर से हिरण्यस्तूप गए, एवं छन्दों में बृहती गया । अन्तत अग्निने इन्द्र को ढूंढ निकाला । इस अग्नि के साथ यह इन्द्र इस (अमावास्या) रात्रि में लौट आए । (अग्नि के साथ इन्द्र को लौट आया देखकर) देवता आपस में कहने लगे कि आज अपना यह (वसु बहुमूल्य निधिरूप इन्द्र) अग्नि के साथ निवास कर रहा है । + + + + । [चूंकि वृत्रवधकर्म में इन्द्र की शक्ति क्षीण होगई थी इसलिए देवताओंने बल प्रदान के लिए यह निश्चय किया कि] सोम के अतिरिक्त दूसरा पदार्थ इन्द्र को तृप्त नहीं कर सकता । अतएव इन्द्र के लिए सोम का ही सम्भरण करें । फलत देवताओंने इन्द्र के लिए सोम प्रदान किया । यही वह सोमराजा देवताओं का अन्न है, जो कि आकाश में प्रत्यक्ष दृष्ट यह चन्द्रमा है । यह जिस रात न पूर्व दिखलाई देता, न पश्चिम, उस रात्रि में यह इस लोक

[पृथिवी लोक] में आजाता है। वह यहाँ ओषधि एवं पानी में प्रविष्ट होजाता है। यह देवताओं की निधि है, अन्न है। यह इस रात्रि में इन्द्र के साथ रहता है, इसलिए (भी) यह तिथि +"अमावास्या" कहलाती है ॥"।

हमारी (आध्यात्मिकसंस्था की) सम्भूति एवं असम्भूति का कारण सूर्य-पृथिवीमध्यस्थ कृष्णपक्षाधिष्ठाता चन्द्रमा है, अतएव उपनिषत् में सृष्टिक्रम की उपेक्षा कर उक्त स्थितिक्रम को प्रधान मानते हुए सूर्यात्मक विज्ञानात्मा के अनन्तर (सृष्टिक्रमप्राप्त पृथिवी का निरूपण न कर) चन्द्रात्मक प्रज्ञानात्मा का ही निरूपण किया है।

'गायत्रो वै पुरुषः' (ऐ० ब्रा० ४।३।१) इस निगम श्रुति के अनुसार पुरुष गायत्र है, एवं 'पुरुष एवेद सर्वम् (यजुः सं० ३१।२) के अनुसार सारा प्रपञ्च पुरुष है। पुरुष के यद्यपि अनेक विवर्त हैं, तथापि प्रकृत में केवल ईश्वरपुरुष, जीवपुरुष (मनुष्यपुरुष) इन दो विवर्तों की प्रधानता समझनी चाहिए। ईश्वरपुरुष मात्राध्यक्ष है, उपास्य है। जीवपुरुष मात्रिकर्त्ता है, उपासक है। यह दोनों ही पुरुष परस्परबद्ध एक पुरुष है। अष्टाक्षर-विभूति के सम्बन्ध से ईश्वर पुरुष भी गायत्र है, जीवपुरुष भी गायत्र है। शब्दच्छन्द और अर्थच्छन्द का अभिमामात्र सम्बन्ध है। जिस प्रकार नियत अक्षर-पद-वाक्यों के समन्वय से शब्दछन्द का स्वरूप निष्पन्न होता है, एवमेव नियत पदार्थों के समन्वय से अर्थछन्द का स्वरूप निष्पन्न हो जाता है। पुरुष आठ पदार्थों की समष्टि है। उधर आठ अक्षर के छन्द का नाम गायत्री है, अतएव आठ पदार्थ स्वरूप आठ अक्षर की समष्टिरूप इस पुरुष को गायत्री छन्द से छन्दित होने के कारण अवश्य ही 'गायत्र' कहा जासकता है। गायत्र पुरुष में सब कुछ अन्तर्भूत है, गायत्र पुरुष साक्षात् ब्रह्म है—(देखिए छां० उ० ३ प्र० ।१२ख)—बे० ड० भा० १ अनु०। ४ सं० । ५ कं०)।

+ इस सम्बन्ध का विशद वैज्ञानिक विवेचन शतपथविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

गायत्रपुरुष का पहिला पर्व रस–बलरूप है यही मूलपर्व है । रस सत् है, बल असत् है । असद्बलयुक्त सद्रस की समष्टि ही पहिला पर्व है । इसी प्रथमपर्व को परात्पर कहा जाता है (देखिए ई. वि. प्र. सं २१५६) । आगे के सात पर्व इसी प्रथम पर्व का विकास है । परात्पर का रसभाग मायाकृत अन्तश्चिति से आनन्दविज्ञानमनोमय बनता हुआ 'अमृत' नाम से, एवं बलभाग मायाकृत बहिश्चिति से मनमाणवाड्मय बनता हुआ 'मृत्यु' नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । रस का प्रथम विकास अमृत है, बल का प्रथम विकास मृत्यु है । रस बलशब्द जहां परात्परतत्त्व के लिए नियत हैं, वहां अमृत–मृत्युशब्द मायोपाधिक पुरुषविकर्ष के लिए नियत हैं । जैसे परात्पर की रस-बल कक्षा सत्–असत् नाम से प्रसिद्ध हैं, एवमेव पुरुष की उक्त दोनों कक्षाओं के लिए क्रमशः विद्या–कर्म शब्द नियत हैं । अमृत-मृत्युरूप विद्या-कर्म की समष्टि यह पुरुष (षोडशीपुरुष) उस गायत्रपुरुष का दूसरा पर्व, किंवा दूसरा अक्षर है । पुरुष का रसप्रधान विद्यामय अमृत भाग ही आगे जाकर 'स्थिति' रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान कर्ममय मृत्युभाग ही आगे जाकर 'गति' रूप में परिणत होता है । स्थिति गति उस रस-बल का द्वितीय विकास है । यही विकासावस्था 'वेद' नाम से प्रसिद्ध है, इसे ही 'स्वयम्भू' कहा जाता है । यही गायत्रपुरुष का तीसरा पर्व, किंवा तीसरा अक्षर है । रसप्रधाना स्थिति, बलप्रधाना गति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अनिरुक्त-निरुक्त शब्द नियत हैं । अव्यक्त स्वयम्भू का रसप्रधान अनिरुक्त स्थितिभाग ही आगे जाकर स्नेहरूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान निरुक्त गतिभाग ही आगे जाकर तेजरूप में परिणत होता है । यह स्नेह–तेज उस रस-बल का तृतीय विकास है । यही विकासावस्था 'सुवेद' नाम से प्रसिद्ध है, यही 'परमेष्ठी' नाम से व्यवहृत होता है । गायत्रपुरुष का यही चौथा पर्व, किंवा चौथा अक्षर है । रसप्रधान स्नेह, बलप्रधान तेज इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः रयि–प्राण शब्द नियत हैं । व्यक्ताव्यक्त परमेष्ठी का रसप्रधान रयिरूप स्नेहभाग ही आगे जाकर (वेदाग्नि के सम्बन्ध से) विद्यारूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान प्राणरूप तेजभाग ही आगे जाकर अविद्या रूप में परिणत होता है । यह विद्या–अविद्या उस रस-बल का चतुर्थ विकास है । यही

विकासावस्था 'हिरण्यगर्भ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी को सूर्य कहा जाता है। यज्ञपुरुष क
यही पाँचवाँ पर्व, किंवा पाँचवा अक्षर है। रसप्रधाना विद्या, बलप्रधाना अविद्या इन दोनों शब्द
के लिए क्रमशः ज्योति-तम शब्द नियत हैं। उक्त सूर्य का रसप्रधान ज्योतिर्मय विभाग
ही आगे जाकर सम्भूति रूप में परिणत होता है, एवं बलप्रधान तमोमय अविद्याभाग।
आगे जाकर असम्भूति (विनाश) रूप में परिणत होता है। यह सम्भूति एवं असम्भूति उ
रस-बल का पाँचवाँ विकास है। यही विकासावस्था 'विश्वरूप' नाम से प्रसिद्ध है, इसी
'चन्द्रमा' कहा जाता है। यज्ञपुरुष का यही ६ठा पर्व, किंवा ६ठा अक्षर है। रसप्रधाना सम्भू
बलप्रधाना असम्भूति इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः उत्पत्ति-लय यह दो शब्द नियत हैं
अर्थ चन्द्रमा का रसप्रधान उत्पत्तिमय सम्भूतिभाग ही आगे जाकर ज्ञानरूप में परिणत हो
हुआ सर्वज्ञ नाम से व्यवहृत होता है, एवं बलप्रधान लयरूप असम्भूतिभाग ही आगे जा
अर्थरूप में परिणत होता हुआ विराट् नाम से प्रसिद्ध होता है। इन दोनों के मध्य में ए
तीसरे क्रियामय हिरण्यगर्भ तत्व का विकास और होता है। ज्ञानमूर्ति सर्वज्ञ क्रियामू
हिरण्यगर्भ, अर्थमूर्ति विराट् की समष्टि ही 'देवसत्य' नाम से प्रसिद्ध है। इस की प्रति
अमृता पृथिवी है। यह उस रसबल का ६ ठा विकास है। यज्ञपुरुष का यही ७वाँ प
किंवा ७ वाँ अक्षर है। अग्निमूर्ति देवसत्य के रसप्रधान ज्ञानभाग से आगे जाकर देव
का विकास होता है एवं बलप्रधान अर्थभाग से भूत का विकास होता है। यह 'देव
(प्राण) 'भूत' उस रस-बल का सातवाँ विकास है। यही विकासावस्था 'भूपिण्ड' नाम
प्रसिद्ध है। यज्ञ पुरुष का यही ८ वाँ पर्व, किंवा ८ वाँ अक्षर है। रसप्रधान देवता, ब
प्रधान भूत इन दोनों शब्दों के लिए क्रमशः अमूर्त-मूर्त-शब्द नियत हैं। यही आठों प
जीवपुरुष में हैं। केवल नाम् आदि के नामों में अन्तर है। इस प्रकार एक ही रस-ब
विविधतारतम्य से उक्त आठ रूपों में परिणत होजाता है। यही तो उस ब्रह्म का महामह
महामहिमा है।

उक्त यज्ञपुरुष-तालिका से पाठकों को विदित हुआ होगा कि चन्द्रमा ही सम्भूति और विनाश का कारण है। चन्द्रमा से पहिले सूर्य, सूर्य से पहिले परमेष्ठी की सम्भूति (उत्पत्ति) होजाती है । भूपिण्ड सूर्य का उपग्रह है। स्वान्त में भूपिण्ड से चन्द्रमा का जन्म होता है, अतएव पृथिवी सूर्य का उपग्रह कहलाती है, एवमेव चन्द्रमा पृथिवी का उपग्रह कहलाता है। पृथिवी में रहने वाला सूर्यविरोधी, पारदर्शकता का प्रतिबन्धक धामच्छद् प्राण 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है । यह प्राण वाक्प्रधान है, एवं वाक्तत्व आवरण का जनक है। फलतः वाङ्मय अग्निप्राण का भी आवरकत्व सिद्ध होजाता है। भूपिण्ड अपने अक्ष पर घूमता हुआ इस स्वावपरिभ्रमण से दैनंदिनगति चक्र (अहोरात्र चक्र) स्वरूप सम्पादन करता हुआ, सूर्य के चारों ओर अपने नियत क्रान्तिवृत्त पर घूमता हुआ संवत्सरगति (वार्षिक गति) का अधिष्ठाता बन रहा है। प्रबलवेग से घूमते हुए भूपिण्ड के साथ सहस्रांशु सूर्य के अग्नि का सम्बन्ध होता रहता है। इस सौर अग्नि के ताप से पार्थिव वाङ्मय अग्निप्राण (पार्थिववाङ्मय अङ्गिरस) द्रुत होता रहता है। पिघला हुआ यह अग्निप्राण भूपिण्ड के साथ साथ ही भूपिण्ड से संलग्न रहता हुआ घूमता रहता है । ऐसी तीन परिक्रमाओं के अनन्तर वह द्रुत अग्निप्राण (अङ्गिरस) सोमरूप में परिणत होजाता है। सौर अग्नि से परितप्यमान यह सोमभाग अग्नि लेन से मुक्त कर घनीभूत होता हुआ चन्द्रपिण्डरूप में परिणत होजाता है।

बात यह है कि अग्निशरीर का जितना अंश सोमरूप में परिणत होजाता है, वह उस पार्थिव वाङ्मय, अतएव घन अग्नि की अपेक्षा हलका बन जाता है। हलका बनते ही वह पार्थिव अग्नि से पृथक् होकर चारों ओर दिशाओं में सूक्ष्मरूप से व्याप्त होता हुआ पृथिवी की ओर ही अनुगत होने लगता है। अन्तरिक्ष में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध वायु चन्द्रकक्षा धरातल पर (वायु में इतस्ततः) व्याप्त सोमपरमाणुओं को एककक्षावच्छेदेन समेट कर उन्हें पुञ्जीभूत बना डालता है। वायु का यह पिण्डसम्पादनव्यापार पृथिवी की २१ परिक्रमा पर समाप्त होता है। अर्थात् भूपिण्ड के चारों ओर घूमते हुए सोमपरमाणु क्रमशः घन होते होते वायुव्यापार से पृथिवी के २१ परिक्रमण के अनन्तर दृश्यमान चन्द्रपिण्डरूप में परि

व्याप्त होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर पुच्छाकाश में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्थिव पानी वाष्परूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष प्रदेश में व्याप्त होजाते हैं, वही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु यज्ञवराह नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई०द्वि०ख०अन्य-तमसाधिकरण३१९) वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगृहीत होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुञ्ज) क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परिणत हुए हैं—(देखिए ई०द्वि०ख० २११९), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्थिव सोम स्वयं ही क्रमशः पिण्डीभूत होकर चन्द्ररूप में परिणत हुए हैं। इसी चन्द्रोत्पत्ति रहस्य को लक्ष्य में रख कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।
ब्रह्मणो मानसात्पूर्वं प्रजासर्गं विधित्सतः ॥१॥
अनुत्तरं नाम तपो येन तप्तं महत्पुरा।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति हि नः श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य हि।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
तदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता स्त्रियः।
ततः सहाभिः शीतांशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥
पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥६॥

गायत्रपुरुषपरिलेख

अष्टाक्षरा वै गायत्री - ईश्वरपुरुषो गायत्रः - जीवपुरुषो गायत्रः

१–	१–रस (सत्) २–बलम् (असत्)	——→ परात्पर	——→ परात्पर
२–	१–अमृतम् (विद्या) २–मृत्यु (कर्म)	——→ षोडशीपुरुष	——→ षोडशीपुरुष
३–	१–स्थिति (अनिरुक्त) २–गति (निरुक्त)	——→ स्वयम्भू	——→ अव्यक्तात्मा
४–	१–स्नेह (रयि) २–तेज (प्राण)	——→ परमेष्ठी	——→ महानात्मा
५–	१–विद्या (ज्योति) २–अविद्या (तम)	——→ सूर्य्य	——→ विज्ञानात्मा
६–	१–संभूति (उत्पत्ति) २–विनाशः (क्षय)	——→ चन्द्रमा	——→ प्रज्ञानात्मा
७–	१–ज्ञानम् (ब्रह्म) २–कार्य (कर्म)	——→ साक्षीसुपर्ण	——→ भोक्तासुपर्ण
८–	१–रूपता (अमूर्तम्) २–भूतानि (मूर्तम्)	——→ मृत्पिण्डम्	——→ शरीरम्

गत होते हैं। यही पिण्ड पृथिवी के चारों ओर धुवरातल में घूमता हुआ दिखलाई दे रहा है। दिन में सूर्यकिरणों द्वारा पार्थिव पानी वाष्परूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष धरातल में व्याप्त होजाते हैं यही पानी रात्रि में सूर्य के अभाव से फिर पृथिवी की ओर (ओस रूप से) गिरने लगते हैं। यही अवस्था सोम के सम्बन्ध में समझिए। सोम अन्तरिक्ष में जाकर पुनः पृथिवी पर गिरना चाहता है, परन्तु धाम्मराड् नाम से प्रसिद्ध उसी वायु से (देखिए ई०द्वि०स०अन्यक्तामाविकरण७४५)वेष्टित होकर पिण्डरूप में परिणत होता हुआ निगृहीत होजाता है। जिस प्रकार आकाश में इतस्ततः व्याप्त केतु (अग्निपुञ्ज) क्रमशः पिण्डीभूत बनकर सूर्यरूप में परिणत हुए हैं–(देखिए ई०द्वि०स० २११५), एवमेव इतस्ततः फैले हुए पार्थिव सोम खण्ड ही क्रमशः पिण्डीभूत होकर चन्द्ररूप में परिणत हुए हैं। इसी चन्द्रोत्पत्ति रहस्य को लक्ष्य में रख कर पुराण कहता है—

पिता सोमस्य वै विप्रा जज्ञेऽत्रिर्भगवानृषिः।
काष्ठकुड्यशिलाभूत ऊर्ध्वबाहुर्महाद्युतिः ॥१॥
सुदुश्चरं नाम तपो येन तप्तं महत् पुरा।
त्रीणि वर्षसहस्राणि दिव्यानीति ह नः श्रुतम् ॥२॥
तस्योर्ध्वरेतसस्तत्र स्थितस्यानिमिषस्य हि।
सोमत्वं तनुरापेदे महाबुद्धिः स वै द्विजः ॥३॥
ऊर्ध्वमाचक्रमे तस्य सोमत्वं भावितात्मनः।
नेत्राभ्यामस्रवत् सोमो दशधा द्योतयन् दिशः ॥४॥
तदा न धारणे शक्तास्तस्य गर्भस्य ता दिशः।
ततः सहाभिः शीतांशुर्निपपात वसुन्धराम् ॥५॥
पतन्तं सोममालोक्य ब्रह्मा लोकपितामहः।
रथमारोपयामास लोकानां हितकाम्यया ॥६॥

स तेन रथमुख्येन सागरान्तां वसुन्धराम् ।
त्रि सप्तकृत्वो ऽतियशाश्चकाराभिप्रदक्षिणाम् ॥८॥
तस्य यद्द्रवितं तेजः पृथिवीमन्वपद्यत ।
ओषध्यस्ताः समुद्भूतास्तेजसा ज्वलयंत्युत ॥८॥
ताभिः पुष्णात्ययं लोकान् प्रजाश्चापि चतुर्विधाः ।
पोष्टा हि भगवान् सोमो जगतो हि द्विजोत्तमा ॥९॥
ततस्तस्मै ददौ राज्यं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः ।
बीजौषधीनां विप्राणामपां च द्विजसत्तमा ॥१०॥

[ब्रह्माण्डोपाख्यान]

"हे ब्राह्मणो ! एक बार सोम के पिता भगवान् अत्रि ऋषिने यज्ञ किया । (यज्ञसिद्धि के लिए) पुरायुग में (चन्द्रसृष्टि के आरम्भकाल में) महातेजस्वी ऋषि महर्षिने अपने हाथों को ऊंचाकर, शरीर से स्थिर पाषाण की प्रतिमा समान बनकर 'अनुत्तर' नाम का बड़ा उग्र तप किया । हमने सुना है कि तीन हजार दिव्य वर्ष पर्यन्त तो ऋषिने यह उग्र तप किया । सर्वथा निश्चेष्ट एकाग्र रूप से स्थित ऊर्ध्वरेता उन ऋषि महर्षि का शरीर महाबुद्धिशाली ब्राह्मण सोमरूप में परिणत होगया । सोम की भावना करने वाले ऋषि महर्षि का वह सोम ऊपर की ओर उठा नेत्रों से सोमरस वह निकला, उसने दसों दिशाओं को प्रकाशित कर दिया । जब दिशाएं उस गर्भीभूत सोम को धारण करने में समर्थ न होसकी तो वह शीतांशु सोम पृथिवी की ओर गिरने लगा । सोम को पृथिवी कीओर गिरता हुआ देखकर ब्रह्माने उसे लोककल्याण के लिए अपने रथ में बैठा लिया । रथ में बैठा कर ब्रह्माने २१ बार उसे भूपिण्ड की परिक्रमा करवाई । गिरते हुए सोम का जो द्रवद् भाग पृथिवी में गिर गया उससे ओषधियें उत्पन्न हुई । इन्हीं ओषधियों से चन्द्रमा चतुर्विध प्रजा का पोषण करता है । हे द्विजश्रेष्ठो ! भगवान् सोम जगत् के पोषक हैं । वेदविदों में श्रेष्ठ ब्रह्माने चन्द्रमा को राज्य का अधिकारी बनाया, ओषधि और ब्राह्मणों का अधिपति बनाया—'सोमोऽस्माकं ब्राह्मणा राजा'' ।

यह आख्यान समानरूप से आधिदैविक (प्राकृतिक) एवं आधिभौतिक (ऐतिहासिक) चरित्र का निरूपण करता है। सौम्य प्रधानें अत्रि महर्षि के पुत्र चन्द्रमा का राज्याभिषेक कर इन्हें उत्तरदिशा का दिक्पाल बनाया था, एवं सोम और ब्राह्मणों का लोकपाल बनाया था। आगे चलकर गुरुपत्नी तारा के अपहरण से अवमत चन्द्रमा की उदासीनता से असुरों द्वारा शासनक सोमवंश [सोमपत्नी] का समूल विनाश हुआ। इसप्रकार गन्धर्वगणाधिष्ठाता चन्द्रमा की कृपा से सौमवेधर्म सदा के लिए उच्छिन्न होगया। इसीलिए असुरसम्प्रदाय वाले आज भी अपने धार्मिक कार्यों में चन्द्रमा को ही प्रधानता देते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में भी चन्द्ररूप में परिणत अत्रि द्वारा ही अन्धकार की निवृत्ति मानी गई है, जैसा कि वायुदेव कहते हैं—

इत्युक्तस्त्वर्जुनस्तूष्णीमभूद्वायुस्तमब्रवीत्।
शृणु मे हैहयश्रेष्ठ! कर्माऽत्रेः सुमहात्मनः॥ १॥
घोरे तमस्ययुध्यन्त सहिता देवदानवाः।
अविध्यत शरैस्तत्र स्वर्भानुः सोमभास्करौ॥ २॥
अथ ते तमसा ग्रस्ता निहन्यन्ते स्म दानवैः।
देवा नृपतिशार्दूल! सहैव बलिभिस्तदा॥ ३॥
असुरैर्वध्यमानास्ते क्षीणप्राणा दिवौकसः।
अपश्यन्त तपस्यन्तमत्रिं विप्रं तपोधनम्॥ ४॥
अथैनमब्रुवन् देवाः शान्तक्रोधं जितेन्द्रियम्।
असुरैरिषुभिर्विद्धौ चन्द्रादित्याविमावुभौ॥ ५॥
वयं वध्यामहे चापि शत्रुभिस्तमसावृते।
नाधिगच्छाम शान्तिं च भयात्त्रायस्व नः प्रभो॥ ६॥

अत्रिरुवाच

कथं रक्षामि भवतस्तेऽब्रुवंश्चन्द्रमा भव ।
तिमिरघ्नश्च सविता दस्युहन्ता च नो भव ॥ ७ ॥
एवमुक्तस्तदात्रिर्वै तमोनुदभवच्छशी ॥
अपश्यत् सौम्यभावाच्च सोमवत् प्रियदर्शनः ॥ ८ ॥
दृष्ट्वा नातिप्रभं सोमं तथा सूर्यं च पार्थिव ।
प्रकाशमकरोदत्रिस्तपसा स्वेन संयुगे ॥ ९ ॥
जगद्वितिमिरं चापि प्रदीप्तमकरोत्तदा ॥ १० ॥

[महाभारत अनु पर्व १५७ अ] ।

"यह सुनकर अर्जुन चुप होगया। वायु ने (पुनः) कहा कि हे हैहयवंश में श्रेष्ठ! तुम (अब) महात्माओं में सुप्रसिद्ध अत्रि का कर्म (चरित्र) सुनो। (एकबार) घोर अन्धकार में देव दानव (देवता और असुर) एक स्थान पर सम्मिलित होकर युद्ध करने लगे। (उस युद्ध में) स्वर्भानु नाम के राहु ने सैकड़ों तीरों से चन्द्रमा और सूर्य का शरीर छलनी बना डाला। हे राजाओं में श्रेष्ठ! इस प्रकार उन महा बलवान् दानवों से पीड़ित वे देवता उस घोर अन्धकार से घिर गए। उस समय असुरों से संत्रस्त वे देवता सर्वथा जर्जरित होगए। (उसी अवसर में) उन क्षीणकाय देवताओं ने (एक स्थान पर) तपस्वी ऋषि को तप करते हुए देखा। सर्वथा शांतमूर्ति एवं जितेन्द्रिय अत्रि से देवता (विनय पूर्वक) कहने लगे कि (हे महर्षे!) इस युद्ध में सूर्य और चन्द्रमा असुरों द्वारा तीरों से बींध डाले गए हैं। (अतः हम सबसमुच) इस घोर अन्धकार में इन शत्रुओं से मारे जायेंगे। हमें इस समय जरा भी शान्ति नहीं है। हे प्रभो! आप (ही इस समय) इस भय से हमारी रक्षा कीजिए। (देवताओं की यह कातर याचना सुन कर) ऋषि कहने लगे—हे देवताओ! तुम्हीं बतलाओ, मैं किस उपाय से तुम्हारी रक्षा करूं! देवता कहने लगे, हे महर्षे! आप चन्द्रमा बन जाइए, एवं अंधकार का नाश करने वाले सूर्य

बन जाए। इस प्रकार सूर्य चन्द्रमा बन कर आप इन दस्युओं के नाश का कारण बनिए। देवताओं से यह सुनकर अत्रि (तत्काल) अन्धकार दूर करने वाले चन्द्रमा बन गए। एक सोम-मानवत् सुन्दर बच्चे की तरह दीखने में सुन्दर उस चन्द्रमा को अत्रि ने देखा। हे राजन्! उस चन्द्रमा और सूर्य को अधिक प्रकाशयुक्त न देख कर उस युद्ध में अपने तपोबल से अत्रि ने उन दोनों में अधिक प्रकाश कर दिया। इस प्रकार अत्रि ने अपने तपोबल से संसार को अन्धकार शून्य कर दिया, सर्वत्र उजाला कर दिया"।

इतिहास के साथ साथ उक्त पौराणिक आख्यान में गहन विज्ञान भी छिपा हुआ है, जिसका कि निरूपण विस्तार भय से प्रकृत में नहीं किया जा सकता। इन पौराणिक आख्यानों के मूल स्रोत आख्यान ही हैं। प्रायः इसी से मिलता जुलता आख्यान ऋक् संहिता में, एवं ब्राह्मणों में भी उपलब्ध होता है। देखिए,—

१–यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
२–स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥
३–ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन्।
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरप माया अघुक्षत्॥
४–यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः।
अत्रयस्तमन्वविन्दन् नह्यन्ये अशक्नुवन्॥

(ऋक् सं० ५।४०।५–६–८–९)।

१–"स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसा विध्यत्। स तमसा विद्धो न व्यरोचत, तस्य ते अत्रिरेवैतत्तमोऽपाहताम्। सोऽपहतपाप्मा तपति"।

(ता० ४ । ५ । २ । १–२)।

इस प्रकार आगमसाहित्य में चन्द्रमा की उत्पत्ति पार्थिव अग्नि से मानी गई है, एवं चन्द्रमा को सोम का पिण्ड, एवं पृथिवी का उपग्रह माना गया है। इधर वर्तमान विज्ञान के अनुसार चन्द्रमा किसी समय का एक स्वतन्त्र सूर्य है। पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि—"किसी समय चन्द्रमा घोर उष्ण था, दूसरा सूर्य था। वह धीरे धीरे ठंडा होने लगा, कालान्तर में बाहर का स्तर ठंडा हो गया, गर्भ में अग्नि रह गया, इसी अवस्था का नाम पृथिवी हुआ। पृथिवी का यह भाग जो सर्वथा अग्निशून्य बनता हुआ पृथिवी की पकड़ से बाहर होकर पृथिवी के चारों ओर घूमने लगा, वही चन्द्रमा कहलाया"। अस्तु इन मतमतान्तरों से हमारा कोई प्रयोजन नहीं है। यह बात सर्वात्मना सिद्ध है कि चन्द्रमा पृथिवी के पीछे उत्पन्न हुआ है, एवं यह पृथिवी का उपग्रह है।

जब यह सिद्ध है कि चन्द्रमा सृष्टिक्रम में सब के अन्त में उत्पन्न होने वाला पर्व है तो ऐसी स्थिति में चन्द्रमा को विश्व की सम्भूति, एवं विनाश का कारण मानना कैसे संगत हो सकता है ? हम पार्थिव प्राणियों की उत्पत्ति-नाश का कारण तो फिर भी यथा कथञ्चित् चन्द्रमा माना जासकता है, परन्तु एकदेशवर्ती चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्ति-परायण मान बैठना कैसे संगत हुआ ? उक्त प्रश्न का समाधान करें, इस से पहिले संक्षेप से संभूति, एवं विनाश शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक होगा।

प्रकरण के आरम्भ में ही यह बतलाया गया है कि रस—बल के अवस्थातारतम्य से विश्व में विविध भाव उत्पन्न हो जाते हैं। रस और बल इन दोनों में रस प्रत्येक दशा में असङ्ग रहता है एवं बल रस की व्यापक अवस्था में असंग, एवं रस की परिच्छिन्न दशा में ससंग बन जाता है। रस की व्यापक एवं परिच्छिन्न दशाओं से बल की चार अवस्थाएं होजाती हैं। वे ही चारों अवस्थाएं आविर्भाव, तिरोभाव, सम्भूति विनाश इन नामों से प्रसिद्ध हैं। रस व्यापक है। इस व्यापक रससमुद्र में असंख्य बल उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। रस की व्यापकता के कारण इन ससंगधर्मा बलों को परस्पर में अभिनिवेश करने का अवसर नहीं मिलता। अपितु जिस प्रकार एक असीम समुद्र में लहरें उठती रहती हैं, एवं

बैठती रहती है, इसी प्रकार उच्चावचभावापन्न बल उस रसधरातल में सहचर सम्बन्ध से ठीक लहरों के समान उदित होते रहते हैं, एवं अस्त होते रहते हैं। बलों का यह सम्बन्ध असंगसम्बन्ध है। आविर्भाव-तिरोभाव, उदय अस्त यही इस सम्बन्ध का स्वरूप है। बलों का ऐसा सम्बन्ध सव्याप्तिलक्षण-हृदयग्रन्थिमूलक ग्रन्थिसम्बन्ध से सर्वथा बहिर्भूत है। आगे जाकर माया की कृपा से रस परिच्छिन्न हो जाता है। इस परिच्छेदभाव के कारण हृदयबल उत्पन्न हो जाता है। हृदयबल से सर्वप्रथम 'सत्तारस' का उदय होता है। पुरुषात्माधिकरण की पुरुष निरुक्ति में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि बल की चिति से एक ही रसतत्त्व आनन्द-विज्ञान-मन प्राण-वाक् भेद से पञ्चकोशरूप में परिणत हो जाता है—(देखिए—ई० भा० भि० ख० २६५से२८५)। इनमें मन-प्राण वाक् की समष्टि ही सत्तारस है। इसी सत्तारस का नाम 'अस्तित्व' है। यही सत्तारस सम्भूति का कारण है। यदि बल ग्रन्थिसम्बन्ध से सत्तारस के उदर में आ जाते हैं तो उस सत्तायुक्त बलसमुच्चय में अपूर्व नाम-रूप-कर्म का उदय हो जाता है। बल सत्तारस के ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध में बलों का अपूर्व नाम रूप धारण कर लेना ही बल की 'सम्भूति' है। एवं ग्रन्थिबन्धन के टूट जाने से उस बलसंघात का सत्तारस से पृथक् होते हुए नाम रूप का परित्याग कर देना ही 'विनाश' है।

सत्तार्थक भू धातु से सम्भूति शब्द निष्पन्न हुआ है। 'अयं घटोऽस्ति' घट पदार्थ का यह सत्तालक्षण निर्वचन है। मिट्टी में जो मनप्राणवाङ्मय सत्तारस था, उसे लेकर आज घट सम्भूति का अधिष्ठाता बन रहा है। जिस दिन घट में से मिट्टी की सत्ता निकल जायगी, उस दिन घट अपने नामरूप का परित्याग कर देगा। यही घट का विनाशकाल होगा। बलों पर सत्तारस का अनुग्रह भी दो प्रकार से होता है। आप पृथिवीतल पर प्रतिष्ठित हैं। पृथिवी की गुरुत्वलक्षणा सत्ता ने आपको पकड़ रक्खा है। यदि क्षणमात्र के लिए भी इस पार्थिव सत्ता से आपका वियोग हो जाता है तो आत्मा मथाध्यग्र हो जाता है। आप मार्ग में जा रहे हैं। बिन्दु बिन्दु पर पार्थिव सत्ता आपकी अनुग्राहिका बन रही है। चलते चलते आपकी दृष्टि किसी

सुन्दर दृश्य पर जाती है। उसे देखने में आप इतने तल्लीन हो जाते हैं कि आपको मार्ग में आने वाले गर्त (गड्ढे) का ध्यान नहीं रहता। अकस्मात् पैर फिसल जाता है। उसी समय आत्मा में एक प्रकार का कम्प हो पड़ता है। यह कम्प और कुछ नहीं, केवल क्षणमात्र के लिए पृथिवी की प्रतिष्ठारूपा सत्ता का वियोग है। यदि जानबूझ कर सावधानी से आप तीन फिट के गहरे गर्त में भी पांव रख देते हैं तो भय नहीं होता, कारण इस समय आप का लक्ष्य उस सत्ता पर रहता है। परन्तु अज्ञात दशा में यदि आपका पैर फुटपाथ से सड़क पर भी गिर जाता है तो आत्मा कम्पित हो जाता है, क्योंकि वहां आपकी दृष्टि सत्ता पर नहीं रहती। इस निदर्शन से बतलाना यही है कि हमारे पर पृथिवी की सत्ता का अनुग्रह रहता है। हम पार्थिव सत्ता के गर्भ में प्रतिष्ठित रहते हैं। एक मिट्टी के ढेले को आप कितना ही ऊंचा फेंकिए, उसी पार्थिवसत्ता के आकर्षण से वह तत्काल नीचे आ जायगा। इस प्रकार तत्तल्लोक की तत्तत्प्रजाओं पर तत्तल्लोकों की प्रतिष्ठात्मिका सत्ता का अनुग्रह रहता है। परन्तु इस सत्तारस का हमारे साथ ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध नहीं है, अपितु विभूतिसम्बन्ध है। इस सत्ता से हमारे में किसी अपूर्व नाम-रूप का उदय नहीं होता, केवल रक्षकता होती है, अतएव इस सत्तारस के अनुग्रह को हम सम्भूति न कहकर 'विभूति' ही कहेंगे। कुछ मिट्टी का हिस्सा शरीररूप में परिणत हो गया है। हमारा शरीर पार्थिव है। पृथिवी की सत्ता ही ग्रन्थिबन्धन सम्बन्ध से अपूर्व नाम—रूपोदय की जननी बनती हुई हमारी (शरीर की) सम्भूति का कारण बनी है। हृदय एक निम्न बिन्दु है। इस एकमात्रात्मिका हृदयबिन्दु के साथ पार्थिव सत्ता का जब ग्रन्थिबन्धन हो जाता है, तभी अपूर्वभाव का उदय होता है। इसी अभिप्राय से इस अपूर्वावस्था को 'सम्भूति' कहा है। 'समित्येकीभावे' इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार 'सम्' एकीभाव का सूचक है, 'भूति' सत्तामात्र का घोतक है। ऐसी भूति (सत्ता), जो ग्रन्थिबन्धन द्वारा वस्तुसमष्टि के साथ एकीभाव को प्राप्त हो जाय, वही 'सम्भूति' है। भूति का एकीभाव से पृथक् हो जाना ही वस्तु का विनाश है। वस्तु नष्ट नहीं होता, ग्रन्थिबन्धन से वस्तु की उत्पत्ति मान ली जाती है, एवं ग्रन्थिविमोकावस्था ही वस्तु का विनाश मान

लिया जाता है। जो बलसंघात ग्रन्थिबन्धन से युक्त सत्तारस से अपूर्व नाम-रूप धारण करता हुआ प्रकट हुआ था, वही ग्रन्थिबन्धन के टूट जाने से आज उसी सत्ता के गर्भ में विलीन हो रहा है। सत्तारस को अपने केन्द्र में रख लेना दूसरे शब्दों में सत्ता को अपने उदर में रख लेना बल की सम्भूति है, एवं बल का सत्ता के गर्भ में चला जाना बल का विनाश माना जाता है। सत्ता नीचे है, बल ऊंचा है, बल का 'उत्-अयन' (सत्ता के ऊपर गमन) है, यही उदयावस्था है, यही सम्भूति है। उत् अयन हट गया, बल सत्ता के उदर में लीन हो गया, यही विनाशावस्था है। इसी रहस्य को समझाने के लिए उत्पत्तिलक्षणा सम्भूति के लिए जहां ऋषियों ने 'सृष्टि' शब्द प्रयुक्त किया है, वहां विनाश के लिए 'प्रलय' शब्द प्रयुक्त किया है। बलों का लयभाव ही इन का विनाश है, उदयभाव ही इनकी उत्पत्ति है। सम्भूति में बलप्रधान है, विनाश में रसप्रधान है। दूसरे शब्दों में सम्भूति में सत्ता बल की अनुगामिनी बन रही है। विनाश में बल सत्ता का अनुगामी बन रहा है। बन्धन सम्भूति है, बन्धनविमोक विनाश है। एक ही तत्व की अवस्था विशेष सम्भूति है, अवस्थाविशेष विनाश है, परमार्थतः न सम्भूति है न विनाश है—'न जायते म्रियते वा कदाचित्'।

सम्भूति एवं विनाश का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया गया, अब उक्त प्रश्न का विवेचन किया जाता है। यह प्रकरण सम्भूति-विनाशात्मक चन्द्रमा का निरूपण करता है। सम्पूर्ण विश्व चन्द्रमा से ही उत्पन्न होता है, एवं चन्द्रमा ही विश्वविनाश का कारण है। इस पर पूर्वपक्ष यह हुआ था कि विश्वपर्वों के अन्त में पृथिवी से उत्पन्न होने वाला चन्द्रमा सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे माना जासकता है! इस प्रश्न के समाधान के लिए थोड़ी देर के लिए हमें यज्ञपुरुष की शरण में चलना होगा। पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में यज्ञात्मक का स्वरूप बतलाते हुए यज्ञसंस्था का स्वरूप बतलाया गया है—(देखिए ई० वि० २ स० २८१-२०२)। अग्नि में सोम की आहुति होने से अग्निसोम के समन्वय से जो एक अपूर्वभाव उत्पन्न होता है, उसी का नाम यज्ञ है। इसी यज्ञ से विश्व में रहने वाली प्रजा

सर्वथ होती है। इधर हम सर्वांरस से युक्त बलसंघात को सम्भूति का कारण बतला रहे हैं। दोनों विरुद्ध मार्गों का समन्वय कीजिए। मनप्राणवाङ्मयमूर्तिरस सत्ता है, यह विज्ञानरूप चित् एवं आनन्द से अभिन्नामूत है। रसमूर्ति पञ्चकल, किंवा त्रिकल सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अव्यय है। अक्षर एवं क्षरसम्पर नाम से प्रसिद्ध इस अव्यय की दो अन्तरङ्ग प्रकृतिएं हैं। यह उस पुरुष की समावमूता है, अतएव उस से अभिन्नामूत है। रसप्रधान, अतएव रसमूर्ति अन्तरङ्गप्रकृतिविशिष्ट पुरुष ही 'षोडशीप्रजापति' है। यद्यपि सम्भूति का कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही है, तथापि सत्तांभाग को ही प्रधान माना गया है। आनन्द और विज्ञान (चित्) भी सम्भूति के कारण हैं, किन्तु गौणरूप से। आनन्द विज्ञान उस अव्यय ब्रह्म का मुक्तिसाक्षी भाग है। मन-प्राण-वाङ्मय सत्तांभाग सृष्टिसाक्षी है। मुक्ति में यह गौण है, वह प्रधान है। सृष्टि में यह प्रधान है, वह गौण है। इसी अभिप्राय से मन-प्राण-वाक् की समष्टिरूप सर्वांरस के समन्वय-असमन्वय को ही सम्भूति एवं विनाश का कारण बतलाया गया है। मन से कामना का उदय होता है, प्राणव्यापार उसका तप है, वाग्व्यापार श्रम है। काम-तप-श्रम ही सृष्टि के साधारण अनुबन्ध हैं-(ई०भा०१खं०३।०पृ०)। यह सत्तांघन प्रजापति अक्षरमय है, अक्षर वेदमूर्ति है, वेद का यजुर्भाग प्रजाग्नि है। ऐसी दशा में सत्तारसरूप वेदमूर्ति षोडशी प्रजापति को अवश्य ही 'अग्नि' (वेदाग्निमूर्ति) कहा जासकता है। पुरुष साक्षात् 'अग्नि' है—"पुरुषो वा अग्निः" (शत० १०।२।१।१४)-"ब्रह्म वा अग्निः" (कौ०९।५)-"आत्मा वा अग्निः" (शत० ७।१।१।२)।

इस पुरुषाग्नि में बलप्रधाना पञ्चधा विभक्त प्रकृति की आहुति होती है। यह आहुयमाना प्रकृति ही 'सोम' है। 'सुतो भवति' 'सूयते ऽसौ' 'अभिषुतो भवति' इत्यादि निर्वचनों के अनुसार अग्नि में आहुत होने वाला पदार्थ ही 'सोम' है। यह सोम अग्नि में आहुत होकर अग्नि को प्रदीप्त करता हुआ, मयमपि रश्मिप्रसार करता हुआ प्रदीप्त होजाता है, अतएव सोम को 'चन्द्रमा' शब्द से व्यवहृत कर दिया जाता है। आप अन्तरिक्ष में चन्द्रिकामय जो पिण्ड देखते हैं उसी का नाम चन्द्रमा नहीं है। अपितु चन्द्रमा सोमतत्त्व है, चन्द्रमा शब्द सोमतत्त्व का।

वाचक है, सोमतत्त्व आहुतिद्रव्य का वाचक है। इस सामान्य परिभाषा के अनुसार आहुत होने वाले जितने भी पदार्थ हैं, सब सोम हैं। एवं जिन पदार्थों में इन सोमरूप पदार्थों की आहुति होती है, वे सब पदार्थ 'अन्नाद' बनते हुए अग्नि हैं। पुरुषप्रजापति में रस की प्रधानता है, प्राण–आप–वागादि पाँचों महर्षियों में बल की प्रधानता है। यह रस है, यह बल है। यह भोक्ता (अन्नाद) बनता हुआ पूर्वकथनानुसार साक्षात् अग्नि है, यह भोग्य (अन्न) बनता हुआ साक्षात् सोम है। रस की उसमें आहुति होती है, रसबलात्मक अग्नीषोममूर्ति पुरुषप्रकृति का समन्वय होता है, इसी यज्ञ से विश्व सम्भूत हुआ है। साथ ही सोमरूप प्रकृति की पुरुष में आहुति होने से ही उत्पन्न हुआ है। अग्नि में पुरुष की प्रधानता रहती है, दूसरे शब्दों में रस की प्रधानता रहती है, अतएव पुरुष (मनुष्य) को आग्नेय बतलाया जाता है। सोम में प्रकृति की, दूसरे शब्दों में बलतत्त्व की प्रधानता रहती है, अतएव स्त्री को सौम्या कहा जाता है। पुरुष–प्रकृति, रस–बल, अग्नि–सोम सब अविनाभूतक हैं। प्रकृति–पुरुष का समन्वय, रस–बल का समन्वय, अग्नि–सोम का समन्वय एवं असमन्वय ही सम्भूति विनाश का कारण है। इसी रहस्य को सामने रखते हुए हम कह सकते हैं कि अव्यय (सोम–प्रकृति) ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का अधिष्ठाता है।

अपेक्षया सभी सोम हैं, सभी अग्नि हैं। हम यदि अन्य पदार्थों के प्रत्यंशों को लेकर उन्हें अपने शरीर अग्नि में आहुत करते हुए उन आहुत पदार्थों की अपेक्षा अन्नाद (अग्नि) हैं तो अन्य पदार्थों के लिए हम अन्न (सोम) भी हैं। हमारा रस सूर्य ले रहा है, सूर्य का रस हम ले रहे हैं। हम सूर्य से उत्पन्न हुए हैं। उस के पदार्थों को जहाँ हम खा रहे हैं, वह हमारे प्राणों का आदान करता हुआ आदित्य बन रहा है। इसी प्रकार प्रजा में भी एक प्रजा दूसरी प्रजा के प्रत्यंशों का लेती देती रहती है। सर्वत्र आदान विसर्गात्मक अन्नान्नादभाव व्याप्त है। सभी अन्न हैं, सभी सोम हैं। सभी अग्नि हैं, सभी अन्नाद हैं—"अन्नाद एवाग्निरन्नमेव सोमः। अन्नादश्च वा इदं सर्वमन्नं च" (शत० ११।१।६।१९)। इसी व्यापक अन्न–अन्नादभाव का निरूपण करती हुई अन्नश्रुति कहती है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य नाम ।
यो मा ददाति स इ देवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि ॥

यह तो हुई शास्त्रदृष्टि । अब प्रसङ्गदृष्टि से सोम की सम्भूति विनाश का विचार कीजिए । समष्टि (सृष्टि) आत्मा–प्रकृति–विकृति इन तीन भागों में विभक्त है । आत्मसृष्टि–प्रकृतिसृष्टि विकृतिसृष्टि भेद से सम्भूतिरूपा सृष्टि के तीन विवर्त हैं । इन तीनों ही सृष्टियों का अधिष्ठाता सोमतत्व है । महदात्माधिकरण में यह विस्तार से बतलाया जा चुका है कि सोमभूमि महान् में ही षोडशी आत्मा गर्भ धारण करता है–'मम योनिर्महद्ब्रह्म' । आत्मविकासभूमि एकमात्र महत्सोम (पारमेष्ठ्य सोम) ही है । प्रकृति ब्रह्म से विश्व का निर्माण हुआ है, परन्तु अपूतत्व की आहुति से । अपूतत्व साक्षात् सोम है । इस प्रकार प्रकृति का प्रकृतिस्वरूप सृष्टिकर्तृत्व भी सोमसम्बन्ध पर ही निर्भर है । इसी सोमाहुति से सूर्य का विकास हुआ है, इसी सोम से परमेष्ठी का विकास हुआ है, यही सोम अव्यक्त पुण्डीर स्वयम्भू का जनक है । इसी सोमाहुति से भूपिण्ड निष्पन्न हुआ है । इसी सोम का प्रत्यक्ष पिण्ड चन्द्रमा है । इस प्रकार आगे जाकर चन्द्रमा नाम धारण करने वाला सोम ही सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बन जाता है । सोम की इसी सम्भूतिलक्षणा विभूति का निरूपण करती हुई श्रुति कहती है–

१– महत्तत् सोमो महिषश्चकारापां यद्गर्भोऽवृणीत देवान् ।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजोऽजनयत् सूर्ये ज्योतिरिन्दुः ॥ [ऋक्. ९ । ९७ । ४१] ।

२– अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मञ्जनयत् प्रजा भुवनस्य राजा ।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये बृहत्सोमो वावृधे सुवान इन्दुः ॥ [ऋ. ९।९७।४०] ।

३– पवित्रेभिः पवमानो नृचक्षा राजा देवानामुत मर्त्यानाम् ।
द्विता भुवद्रयिपती रयीणामृतं भरत् सुभृतं चार्विन्दुः ॥ [ऋ. ९ । ९७ । २४] ।

४- एष विश्ववित् पवते मनीषी सोमो विश्वस्य भुवनस्य राजा ।
द्रप्साँ ईरयन् विदथेष्विन्दुर्वि वारमव्यं समयाति याति ॥ (ऋ ९।९७।५६)।

५- या ते धामानि दिवि या पृथिव्यां या पर्वतेष्वोषधीष्वप्सु ।
तेभिर्नो विश्वैः सुमना अहेळन्राजन्त्सोम प्रति हव्या गृभाय (ऋ १।९१।४)।

६- त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः ।
त्वमा ततन्थोर्वन्तरिक्षं त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ ॥ (ऋ १।९१।२२)।

१- (महानात्मा का स्वरूप सम्पादन करने के कारण)-महिष-(महान् नाम से प्रसिद्ध) सोम ने यह महत् कर्म (बड़ा भारी कर्म्म) किया है, जो कि पानी के गर्भ बने हुए देवताओं का (सौर देवताओं का) वरण कर लिया है। (आपोमय परमेष्ठी मण्डल में प्रतिष्ठित अमृतत्व की निरन्तरस्वरूप सोम की आहुति से ही ज्योतिर्मय सौर देवताओं का विकास हुआ है, इसी अभिप्राय से "अपां यद्गर्भोऽवृणीत देवान्" यह कहा है)। (दूषित भाग को निकालने के कारण) पवमान [नाम से प्रसिद्ध इसी पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम] ने इन्द्र (सौर प्राणप्राण) में ओज [बलप्रद वीर्य्य] स्थापित किया है-[तभी तो "या च का च बलकृतिरिन्द्रकर्म्मैव तत्" यह कहा जाता है)। इसी इन्दु (सोम) ने सूर्य में ज्योति (प्रकाश) उत्पन्न की है। "त्वं ज्योतिषा वि तमो ववर्थ" इस ऋक्सिद्धान्त के अनुसार द्राव पारमेष्ठ्य सोम की दाहक सौर सावित्राग्नि में निरन्तर आहुति होती रहती है। इसी सोमाहुति से सौर मण्डल में प्रकाश होरहा है। "आ कृष्णेन रजसा वर्तमान" इस मधु श्रुति के अनुसार सूर्य्य, किंवा सौर अग्नि भी स्वस्वरूप से घोर कृष्ण [काला] है, एवं "प्रजा कृष्णसम मोऽस्तु-चन्द्रमा वै प्रजाकृष्णः" इस मन्त्र-ब्राह्मण श्रुति के अनुसार चन्द्रमा (सोम) भी घोर कृष्ण है। न अग्नि में प्रकाश है, न सोम में प्रकाश है। प्रकाश उत्पन्न होता है दोनों के समन्वय से। इस समन्वय में योनि स्थानीय अग्नि स्वस्थान पर प्रतिष्ठित रहता है। इस में रेतः

स्थानीय सोम की आहुति होती है। इसीलिए सोम को ही ज्योति का प्रवर्त्तक माना जाता है। यही नित्याग्निहोत्र है, यही जरामर्यसत्र है—"सूर्य्यो ह वा अग्निहोत्रम्" (शत २कां।२प्र।४ब्रा।१क.) ॥१॥

२— पानी की वर्षा करने के कारण समुद्र नाम से प्रसिद्ध यह सोम राजा इस विशाल अन्तरिक्ष में (त्रैलोक्य में अपनी आहुति से) प्रजा उत्पन्न करता हुआ सब का अतिक्रमण कर रहा है। तात्पर्य यही है कि छान्दोग्य उपनिषत् की पञ्चाग्निविद्या के अनुसार श्रद्धात्मक सोम ही क्रमशः श्रद्धा-सोम-वृष्टि (पानी)-अन्न-रेत रूप में परिणत होता हुआ क्रमशः द्यु-पर्जन्य-पृथिवी-पुरुष-योषित् इन पाँचों अग्नियों में आहुत होता हुआ "इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इस सिद्धान्त के अनुसार प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है। अग्निरूपमात्र करोत्पत्तीश यह प्रदीप्त सोम विशेषरूप से प्रवृद्ध होता है ॥२॥

३— सूर्य की पवित्र रश्मियों से पवित्रतम बना हुआ, देवता मनुष्यादि प्रजाओं का अधिपति, सम्पूर्ण सम्पत्तियों का अधिष्ठाता यह सोम भलीभांति सगृहीत होता हुआ कल्याणप्रद सम्मार्ग को धारण करता है ॥३॥

४— सर्वज्ञ, मनीषी, त्रैलोक्य का राजा यह सोम सर्वत्र व्याप्त होरहा है। यही कर्म्मों में अपनी शक्ति प्रदान करता है। यही सब का वेष्टन करता हुआ, कल्म सम्भाषण करता हुआ आगे चलता है ॥४॥ (शेष दोनों का अर्थ स्पष्ट है)।



पूर्व निरूपण से यह भलीभांति सिद्ध होजाता है कि वास्तव में सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण एकमात्र सोम ही है। सोम की इस व्याप्ति को लक्ष्य में रखिए एवं सुप्रसिद्ध सोम (चन्द्रपिण्ड) पर दृष्टि डालिए। उपनिषत् श्रुति को सामान्यरूप से सम्भूति और विनाश का स्वरूप बतलाना है, साथ ही में महानात्मा का भी निरूपण करना है, इधर महानात्मा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष इस चन्द्रपिण्ड के साथ ही है, अतएव किसी विशेषभाव का उल्लेख न कर सा

भाष्य रूप से "सम्भूतिं च विनाशं च" इत्यादि कह दिया गया है। सोम सारे विश्व की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे है? इस का समाधान होगया। अब यही सोम हमारे आध्यात्मिक प्रपञ्च की सम्भूति एवं विनाश का कारण कैसे बनता है? इस प्रश्न के समाधान के लिए आपको उस व्यापक सोम ही के प्रत्यक्षभूत सृष्टि के अन्तिम पर्वरूप, पृथिवी के उपग्रहभूत सुप्रसिद्ध चन्द्रपिण्ड को ही सामने रखना पड़ेगा। इस चन्द्रपिण्ड से सम्बन्ध रखने वाली सम्भूति सम्भूति एवं पुनःसम्भूति भेद से दो भागों में विभक्त है। हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण आधिदैविक चन्द्रमा है, एवं उत्तरोत्तर होने वाली जन्मान्तररूपा सम्भूति का कारण आध्यात्मिक चन्द्रमा है। प्रकृत अधिकरण प्रधानरूप से इसी आध्यात्मिक चन्द्रमा का निरूपण करता है। आधिदैविक चन्द्रमा हमारी प्राथमिक सम्भूति का कारण कैसे बनता है? पहिले इसी प्रश्न का विचार कीजिए।

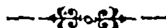
"अग्नीषोमात्मकं जगत्" (जाबालोपनिषत्) इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत् (रोदसी त्रैलोक्य) अग्नीषोमात्मक है। त्रैलोक्यरूप जगत् प्राणियों के सम्बन्ध से 'जगत्' नाम से प्रसिद्ध है। विश्व और जगत् शब्द परस्पर में पर्याय नहीं हैं। संयती-क्रन्दसी रोदसी इन तीनों त्रैलोक्यों की समष्टि विश्व है, एवं एकमात्र रोदसी त्रिलोकी जगत् है। यह जगत् सचमुच अग्नीषोममय है। जगत्स्वरूपसम्पादक अग्नि और सोम दोनों ही अनेक भागों में विभक्त हैं। परन्तु इतना ध्यान रखिए कि तेजन अग्नि का सामान्य लक्षण है, एवं स्नेहन सोम का सामान्य लक्षण है। एक की प्रतिष्ठा हृदय है, एक की प्रतिष्ठा परिधि है। अग्नितत्त्व केन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित होता हुआ अर्करूप से निरन्तर परिधि की ओर जाया करता है एवं सोमतत्त्व परिधि से निरन्तर केन्द्र की ओर आया करता है। अग्नि अपने तेजनस्वभाव से उत्तरोत्तर विशकलित होता जाता है। इसी विशकलन से इस की अग्नि-यम-आदित्य यह तीन प्रधान अवस्थाएं हो जाती हैं। ठीक इसके विपरीत सोमतत्त्व अपने स्नेहनस्वभाव से उत्तरोत्तर सङ्कुचित होता जाता है। इसी सङ्कोच से इस की आप-वायु-सोम यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। अग्निरूपी अङ्गिरा है। अङ्गिरा पिण्ड से निकलकर निरन्तर ऊपर की ओर

आया करता है, विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुँच ने से इसकी विकास क्रिया बंद हो जाती है। विकास की अन्तिम अवस्था पर पहुंचते ही अंगिरा की गति पलट जाती है। विरुद्धगतिमापन्न अङ्गिरा ही भृगुरूप में परिणत होकर केन्द्र की ओर आने लगता है। केन्द्र की ओर आते आते जब भृगुमयी (आप–वायु–सोम) ठीक केन्द्रबिन्दु पर आ जाती है तो स्नेहलक्षणा क्रिया अवरुद्ध हो जाती है, तत्काल दोनों में सघर्ष हो जाता है। इस सघर्ष से अंगिरा का जन्म हो जाता है। दूसरे शब्दों में केन्द्र में आकर भृगु ही अंगिरा रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार एक ही प्रजापतितत्त्व गति–आगति भेद से अग्नि (अङ्गिरा), सोम (भृगु) यह दो रूप धारण कर लेता है। जो अग्नि है वही सोम है। जो सोम है, वही अग्नि है। अग्नि अग्नि है, सोम पानी है। अग्नि पराकाष्ठा पर पहुंचकर पानी बन जाता है, पानी उद्ग्राम की चरमावस्था पहुंचकर अग्नि बन जाता है। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् में तेज–स्नेहलक्षण अग्नि–सोम का साम्राज्य है। इनमें तेजोरूप अग्नितत्त्व के अग्नि, यम, आदित्य, सार्पयाजुष, देव, ऋतु, सत्य, वैश्वानर, आहुत, प्रहुत, उद्धुत, धिष्ण्य आदि अवान्तर अनेक भेद हैं। सोम के भी अवान्तर अनेक भेद हैं। उन सब अवान्तर सोमों का १० जातियों में अन्तर्भाव माना जा सकता है। अग्नि–सोम के इसी वैजात्य से जगत् में वैजात्य उपलब्ध होता है। सोम की ये १० जातिए निम्नलिखित नामों से प्रसिद्ध हैं।

१–परमा—(१–ध्रुव २–धर्म, ३–धरुण:, ४–धर्म)
२–असुर —(१–वृत्र, २–नमुचि:, ३–वलम, ४–मन्मः)
३–यज्ञ—(१–राजा, २–सामः, ३–ग्रहः, ४–हवि)
४–आप:—(भृगव –अंगिरसः)।
५–सर—(अग्निमनवः)।
६–ओषधी:—(अग्निगर्भित)।
७–अप्सु —(मधु)
८–रविम्—(प्राणापति)।
९–दिक्—(सवत्सापक)।
१०–माया—(महान्)।

अग्नि में सोम की आहुति से पुरुष उत्पन्न होता है। इस आहुतिकर्म का ही नाम यज्ञ है। अतएव हम कह सकते हैं कि पुरुष की सम्भूति का कारण यज्ञ ही है। 'पाङ्क्तो वै यज्ञः' के अनुसार यह पुरुषस्वरूप सम्पादक यज्ञ पञ्चपर्वा है। पुरुषयज्ञ से सम्बन्ध रखने वाले अग्नि के भी पाँच ही पर्व हैं, एवं सोम के भी पाँच ही पर्व हैं। दोनों की समष्टि दशाक्षर विराट् यज्ञ है। उस महाविराट् से इस क्षुद्रविराट् का जन्म होता है—"अर्द्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत् प्रभुः"। अग्नि पुरुष है सोम स्त्री है। दोनों प्रतिपक्षियों के मिथुन से उस महाविराट् की सम्भूति हुई है, एवं उसी से क्षुद्रविराट् सम्भूत हुआ है। पुरुषरूप अग्नि के पाँचों पर्व क्रमशः द्यु, पर्जन्य, पृथिवी, पुरुष, योषित् इन नामों से प्रसिद्ध हैं। एवं सोमतत्त्व के पाँचों पर्व क्रमशः श्रद्धा, सोम, वर्षा, अन्न, रेत इन नामों से प्रसिद्ध हैं। दिव्यलोक का अग्नि पहिला अग्नि है, आन्तरिक्ष्य अग्नि दूसरा अग्नि है, पार्थिव अग्नि तीसरा अग्नि है, पुरुषाग्नि चौथा अग्नि है, योषिदग्नि पाँचवाँ अग्नि है। पार्थिव अग्नि घनाग्नि है, आन्तरिक्ष्य अग्नि तरलाग्नि है यही वायु है। 'वायुर्वै तृप्ता इषे' इस श्रुतिवाक्य के अनुसार पर्जन्य नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्ष्य तरलवायु ही वृष्टि का अधिष्ठाता है। दिव्य अग्नि विरलावस्थापन्न है, यही आदित्याग्नि है। अग्नित्रयी ही अग्नि–वायु–आदित्य है। यही पृथिवी–पर्जन्य–द्यु हैं। पुरुषाग्नि में इन तीनों अग्नियों का समुच्चय है। अग्नित्रय के संयोग से नया तापधर्मा अग्नि उत्पन्न होजाता है, यही वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध है। पुरुष साक्षात् वैश्वानर अग्नि की प्रतिमा है। यह चारों अग्नि (द्यु–पर्जन्य–पृथिवी–पुरुषरूप आदित्य–यम–अग्नित्रय–वैश्वानर) स्वाग्नि हैं। पाँचवाँ योषित् अग्नि ऋतरूप है। ऋतु का स्वरूप इसी ऋताग्नि से स्पष्ट होता है। इसी ऋताग्नि से स्त्री का आत्मा बनता है। स्त्री आपोमयी है। सभी समयों में इसमें ऋताग्नि का आविर्भाव नहीं होता, अपि तु ऋतुकाल में ही ऋताग्नि का विकास होता है। ऋतुमती स्त्री के ऋताग्नि में जब सोमाहुति होती है तभी प्रजोत्पत्ति होती है।

१–द्यु	दिव्यविरलाग्निः ——→	आदित्यः	अङ्गिरामयी	सत्याग्नि
२–पर्जन्य	आन्तरिक्ष्यतरलाग्नि ——→	वायु		
३–पृथिवी	पार्थिवघनाग्निः ——→	अग्निः		
४–पुरुषः	अग्नित्रयसंयोगजन्मा ——→	वैश्वानर		
५–योषित्	ऋतुकाले व्याप्तो ऋताग्नि ——→	ऋताग्निः		ऋताग्नि



इसी प्रकार श्रद्धातत्त्व सोम की विरलावस्था है, सोम तरलावस्था है, वर्षा (पानी) घनावस्था है। तीनों की समष्टि 'भृगु' है। इन तीनों के समन्वय से अन्न का विकास होता है, अन्न ही आगे जाकर रेतोरूप में परिणत होता है। उक्त पाँचों अग्नियों में क्रमशः इन पाँचों सोमों की आहुति होती है। पाँचवीं आहुति में पुरुष उत्पन्न होता है। प्राणदेवता यज्ञ के सञ्चालक हैं, आहुति देने वाले हैं। दिव्याग्नि में श्रद्धा सोम की आहुति होती है। चान्द्ररस का नाम ही श्रद्धा है। यह रस आपोमय है, चन्द्रमा स्वयं पानीयपिण्ड है, श्रद्धा का पिण्ड है। प्रत्येक पानी में यह चान्द्ररस प्रतिष्ठित रहता है, इसी रसभाग के लिए 'यो वः शिवतमो रसः' यह कहा जाता है। अपिच इसी आधार पर–'आपो वै श्रद्धा सनमन्ते' "श्रद्धा वा मेध्या-वा आपः" इत्यादि श्रुतिवचन प्रसिद्ध हैं। यही चान्द्रश्रद्धारस दिव्याग्नि में आहुत होकर सोमरूप में परिणत हो जाता है। श्रद्धा पहिली अवस्था है, सोम दूसरी अवस्था है। इस सोम की पर्जन्याग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से वृष्टिरूप 'स्थूल पानी' उत्पन्न होता है। यह स्थूलपानी उस श्रद्धा नाम के सूक्ष्मपानी की तीसरी अवस्था है। इस वर्षा की तीसरे पार्थिवाग्नि में आहुति होती है। इस आहुति से 'अन्न' उत्पन्न होता है। यह चौथी अवस्था है। आध्यात्मिक प्राणदेवताओं द्वारा (इन्द्रियों द्वारा) इस अन्न की पुरुषाग्नि (वैश्वानराग्नि) में आहुति होती है। शरीराग्नि में आहुत अन्नसोम रस-मल के क्रमिक विभाजन से क्रमशः रस–असृक्–मांस–मेद–अस्थि–मज्जा रूप में परिणत होता हुआ सर्वान्त में रेतोरूप में परिणत हो जाता है। यह रेत अन्नमूर्ति उस श्रद्धासोम की पाँचवीं अवस्था है। ऋतुकाल में स्त्री के योषाग्नि में ([illegible] में) इस रेत सोम

की आहुति होती है। इसी से पुरुषोत्पत्ति होती है। इस प्रकार यह श्रद्धारूप अप्तत्त्व श्रद्धा सोम-वर्षा-अन्न-रेतोरूप में परिणत होता हुआ पाँचवी आहुति में पुरुषरूप में परिणत हो जाता है, जैसाकि निम्न लिखित उपनिषद्वचन से स्पष्ट है—

"इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"

(छां० उ० ५।९।१)।

उक्त आख्यान से यह सिद्ध होजाता है कि यह श्रद्धारूप चान्द्रसोम ही परम्परया पुरुष की प्रथमसम्भूति का कारण बनता है। पुरुष वस्तुमात्र का उपलक्षण है। त्रैलोक्य में जितने भी पदार्थ हैं, सब की सम्भूति का कारण चन्द्रमा ही है। त्रैलोक्यव्यापक सप्त साध्य देवगण (साध्यसुपर्ण) भी यजुःसामात्मक चन्द्रमा से ही सम्भूत हैं। इतर सारे जड़ चेतन पदार्थ भी इसी से उत्पन्न हुए हैं। सूर्य कश्यप प्रजापति है, चन्द्रमा दक्षप्रजापति है, चन्द्रमा जिस चक्र पर पृथिवी की परिक्रमा लगाता है वह वृत्त 'दक्षवृत्त' नाम से प्रसिद्ध है। यह वृत्त चान्द्रसोम से व्याप्त रहता है। दक्षवृत्तावच्छिन्न इस चान्द्र सोम के सूर्यसम्बन्ध से १२ विभाग होजाते हैं। १२ मास ही १२ विभाग हैं। चान्द्रसोमावच्छिन्न १० राशिरूप समोक्ष का एक एक प्रदेश एक एक मास है। एक संवत्सरचक्र में ऐसे १२ मास हैं। इन १२ दाक्षायणियों के साथ सौर-कश्यपप्रजापति का योग होता है। दिति के साथ योग होने से दैत्य, अदिति से आदित्य, कद्रू से सर्प, विनता से गरुड़, आदि प्रजाएं उत्पन्न होती हैं। संसार की सारी प्रजाएं कश्यप प्रजापति द्वारा इन्हीं १२ दाक्षायणियों से उत्पन्न हुई हैं। धर्म-अरिष्टनेमि-शिव-कृशाश्व-सर्प-चन्द्रमा-कश्यप आदि भेद से यह सोम-तत्त्व ६० भागों में विभक्त होजाता है। दक्षप्रजापति की इन ६० कन्याओं से ही सृष्टि का संचालन होता है। इन्हीं सब कारणों से हम सोमघन चन्द्रमा को अवश्य ही 'सम्भूति' का कारण मानने के लिए तय्यार हैं।

प्रत्येक वस्तु अपने अपने नियत समय पर उत्पन्न होती है। यह नियत समय ही लोकभाषा

में 'मौसम' नाम से प्रसिद्ध है। मौसम ऋतु है। ऋतुकाल में ही वस्तु की उत्पत्ति होती है। ऋतुसमष्टि संवत्सर है। इस संवत्सर का स्वरूप ऋतसोम की आहुति से ही सम्पन्न होता है। चान्द्ररेत ही ऋतुरूप संवत्सर का अधिष्ठाता है। संवत्सर के १२ विभाग चन्द्रमा के सम्बन्ध से ही 'मास' नाम से प्रसिद्ध हैं। चन्द्रमा नक्षत्र सम्बन्ध से बदलता रहता है। इस परिणाम-भाव से ही चन्द्रमा 'मास' (मसि परिणामे) नाम से प्रसिद्ध है। मास् का (चन्द्रमा) जो भोग काल है, वही (मास –अय–मास) के अनुसार 'मास' (महिमा) नाम से प्रसिद्ध है। इस दृष्टि से भी चन्द्रमा को ही सम्भूति का कारण मानना पड़ता है। इसी प्रकार विनाश का अधिष्ठाता भी यही चन्द्रमा है। जैसी स्थिति अवरोहक्रम में है, वैसी ही स्थिति आरोहक्रम में है। अवरोह सम्भूति है, आरोह विनाश है। "तदन्तर प्रतिपत्तौ रंहति सपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम्" "त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात्" "प्राणगतेश्च"(ब्र॰सू॰,३अ॰।१–२ से॰) इत्यादि सूत्रों से आरोह–अवरोह क्रम का ही निरूपण किया गया है। जिस क्रम से ग्रन्थिबन्धनरूपा सम्भूति हुई थी, उसी क्रम से ग्रन्थिविमोकरूप विनाश होता है। दोनों का अधिष्ठाता चन्द्रमा ही है। चन्द्रमा के द्वारा ऋतुरूप से होने वाली इसी सम्भूति एवं विनाश का स्वरूप बतलाते हुए महर्षि कौषीतकि कहते हैं—

'स होवाच–ये वै केचास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। तेषां प्राणैः पूर्वपक्ष आप्यायते, तानपरपक्षे न प्रजनयति। + + + +। स यदि प्रत्याह तमतिसृजते, अथ य एनं न प्रत्याह, तमिह वृष्टिर्भूत्वा वर्षति। स इह कीटो वा, पतङ्गो वा, शकुनिर्वा, शार्दूलो वा, सिंहो वा, मत्स्यो वा, परश्वा वा, पुरुषो वा, अन्यो वा–एतेषु स्थानेषु प्रत्याजायते यथा कर्म, यथा विद्यम्। तमागतं पृच्छति–कोऽसि? इति। तं प्रतिब्रूयात्–विचक्षणादृत वो रेत आभृतं, पञ्चदशात् प्रसूतात् पित्र्यावतस्तन्मा पुंसि कर्त्तर्येरयध्वम्। पुंसा कर्त्रा मातरि निषिञ्च स जाय उपजायमानो, द्वादशत्रयोदश उपमासो, द्वादशत्रयोदशेन पित्राऽऽसतद्विदे, प्रतितद्विदेऽहं, तन्म ऋतवो मर्त्यव आभर

ध्यप । तेन सत्येन तेन तपसा—ऋतुरसि, आर्तवोऽसि, कोऽसि त्वमस्मीति, तमति सृजते । + + + + । तं ब्रह्मा पृच्छति-कोऽसीति ? तं प्रतिब्रूयात्-ऋतु रसि, आर्तवोऽसि । आकाशाद्योनेः संभूतो, भार्यायै रेत संवत्सरस्य तेजो-भूतस्य भूतस्य भूतस्याऽऽत्मा त्वमात्मासि । यस्त्वमसि-सोऽस्मि-इति" ।
(कौ० उ० १ अ० ६ ख०) ।

चन्द्रमा ही विभवतत्त्व है । यही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार ऋतु द्वारा रेत बनकर सब की सम्भूति का कारण बनता हुआ तत्तद्रूप में परिणत होता है । इसी विज्ञान के आधार पर निम्न लिखित श्रौत वचन हमारे सामने आते हैं—

१–" असौ वै सोमो राजा विचक्षणश्चन्द्रमा " (कौ० उ० ७।७।१।१०) ।
२–"चन्द्रमा वै जायते पुनः" (तै० ब्रा० १।८।५।४) ।
३–"एष वै (चन्द्रमा) रेतः" (शत० ६।१। ।८) ।
४–"चन्द्रमा एव सर्वम्" (गो० ब्रा०पू० ५।१५) ।

जो चन्द्रमा सम्भूति का कारण है, पूर्वकथनानुसार वही विनाश का भी अधिष्ठाता है । सोम शिवतत्त्व है । जब तक यह अग्नि में आहुत होता रहता है, तभी तक सम्भूतिरूप शिवभाव है, तभी तक यज्ञ है । यज्ञ वायु के आते ही सोमसंघात टूट जाता है, यज्ञ बंद होजाता है । बलसन्धियें टूट जाती हैं, रस से बल (प्रतिपत्सम्बन्ध की अपेक्षा से) पृथक होकर असद्रूप में परिणत हो जाता है । इसी का नाम विनाश है । जिस क्रम से [illegible] से प्रतिसञ्चर है । यही कारण है कि सम्भूत[illegible]
में जाता है, बाद वह पारलौकिक हो [illegible]
आत्मगति के लिए दो मार्ग नियत होते
आत्मा चन्द्रमा में पहुंच कर उत्तरायण में
धजन्य से आगे दक्षिणमार्ग में जाता है

दक्षिणायन यह सब चान्द्रभाग हैं। शरीरज्याति, प्रहः, शुक्लपक्ष, उत्तरायण, संवत्सर यह सब सौरभाग हैं। चन्द्रमा में जाने के लिए प्रेतात्मा को १२ मास (चान्द्रमास) लगते हैं। यह आत्मा चिरकाल तक पृथिवी पर रहा है, अतएव इस का चान्द्र आत्मा (महानात्मा) पार्थिव आवरण से बद्ध रहता है। शरीरत्यागानन्तर इधर से इसे पृथिवी खचती है, उधर से चन्द्रमा खींचता है। दुर्भाग्य से यदि (पार्थिवसम्पत्ति में अधिक आसक्ति रहने से) पार्थिव आवरण प्रबल होता है तो इसे ऊपर (चन्द्रलोक में) जाने में महा कष्ट होता है। यही अवस्था 'अश्रुमुखपितर' नाम से प्रसिद्ध है। इस समय पार्थिव आवरण को निर्बल बनाने के लिए चान्द्ररस पहुंचाना अत्यावश्यक है, इस का एक मात्र उपाय है— पिण्डदानप्रधान श्राद्ध[१]। प्रेतपिता के श्रद्धामय सु पुत्र द्वारा प्रदत्त सोममय तण्डुलपिण्ड इसे चान्द्ररस से युक्त कर सबल बना देते हैं। पिण्डभोग से सबल बना हुआ प्रेतात्मा बिना कष्ट के स्वलोक में जाने में समर्थ होजाता है। अस्तु श्राद्धनिरूपण अप्रकृत है, यहां यही कहना है कि जो चन्द्रमा उत्पादक है, वही संहारक है।

प्रकरण के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि हमारी प्रथम सम्भूति का कारण चन्द्रमा है, एवं पुनःसम्भूति का कारण चन्द्रप्राणमूल प्रज्ञान मन है। इन दोनों पक्षों में से प्रथम पक्ष का समाधान हो गया अब क्रमप्राप्त पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता आध्यात्मिक चन्द्रमा का स्वरूप उपस्थित किया जाता है। अध्यात्मसंस्था में दो प्रकार से चान्द्र सोम का भोग होता है। चान्द्रसोम ही पूर्वप्रदर्शित क्रमानुसार 'रेत' बनता है। उस रेत की आहुति से हम उत्पन्न होते हैं, यह पहिला भोग है। हम सायं प्रातः प्रतिदिन जो अन्न खाते हैं, उस में पार्थिव-आन्तरिक्ष्य-दिव्य तीनों लोकों के रस प्रतिष्ठित हैं। पार्थिव घनरस से अन्न का घन भाग (रूपा) बनता है, आन्तरिक्ष तरलरस से अन्न में रहने वाले घृतभाग (चिकनाई-स्नेहन) का उदय होता है। दिव्य स्वरस से पूप (भाप) का गौन्ध से एक प्रकार का सुगन्ध बनाता है। दिव्य विरलरस के आगमन से अन्न में मिठास उत्पन्न होता है। यह

[१] इस का विस्तृत विवरण विज्ञान 'श्राद्धविज्ञान' में देखना चाहिए।

मधुभाग सूर्य का रस है। चौथा रस चान्द्रसोम है। इस का दिव्यरस में ही अन्तर्भाव है। मधु और रेत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। अन्न में जो एक स्वादविशेष (चापल्य) होता है, वह यही सोमरस है। विज्ञानभाषा में यही दिव्यरस अमृत नाम से प्रसिद्ध है। कहीं कहीं इसे चौथे लोक का रस भी माना जाता है। पृथिवी–अन्तरिक्ष–द्यौ–दिक्–यह चार लोक हैं। इन चारों लोकों के क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य–चन्द्रमा यह चार देवता अधिष्ठाता हैं। अन्न में अग्नि से दधि (घन) रस आता है। वायु से घृत (तरल) रस आता है। आदित्य से मधु (विरल) रस आता है। एवं चन्द्रमा से अमृतरस आता है। भुक्त अन्न में जो पार्थिव दधिभाग (घनभाग) है, वह रस असृक् मांस मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र इन सात भागों में विभक्त है। शुक्र चरम पार्थिवरस है। पार्थिव भाग के हट जाने से केवल आन्तरिक्ष्य वायु, एवं दिव्य सौर चान्द्ररस रह जाते हैं। इन रसों की समष्टि ही 'ओज' है। ओज वायुप्रधान प्राणमय धातु है। आगे जाकर आन्तरिक्ष्य रस भी हट जाता है। इसी मधुमय विशुद्ध सोमरस का नाम 'मन' है। इस प्रकार लोकरसों के तारतम्य से एक ही भुक्तान्नरस शुक्र–ओज–मन इन तीन रूपों में परिणत हो जाता है। पार्थिव सप्तधातुरूप शुक्र वाक्तत्त्व है, आन्तरिक्ष्य वायुमय ओज प्राणतत्त्व है, दिव्य आदित्यमय चान्द्ररस मनस्तत्त्व है। मन–प्राण–वाक् की समष्टि ही 'इम' (आत्मा) हैं।

१–पार्थिवघनरस —— पृथिवी — अग्नि —दधि]–सप्तधातवः शुक्रम् वाक्
२–आन्तरिक्ष्यतरलरस–(अन्तरिक्षम्–वायुः — घृतम्]–ओजः ———प्राणः
३–दिव्यविरलरसः — द्यौः ——आदित्यः मधु
४–दिव्यामृतरसः —–दिशः —— चन्द्रमाः—अमृतम् } मनः—— ——मनः } → आत्मा

—— • ——

शुक्र भी चान्द्र है, मन भी चान्द्र है। शुक्राहुति से हम उत्पन्न होते हैं। इस शुक्र में सजातीय आकर्षण सिद्धान्त के अनुसार चान्द्ररस आया करता है, साथ ही में अन्नाहार भी

चान्द्ररस व्याप्त करता है । जो चान्द्ररस स्वतन्त्ररूप से शुक्र में आता है वह—'सहासि' नाम से प्रसिद्ध है । नक्षत्र सम्बन्ध से शुक्रप्रतिष्ठ चान्द्र सहोभाग २८ भागों में विभक्त होजाते हैं । यही आध्यात्मिक सतानप्रवर्तक पितर हैं । इन का मन के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । एव अन्नद्वारा जो चान्द्ररस हमारे में आता है, वही पूर्वोक्त विशकलन प्रक्रिया के अनुसार 'मन' बनता है—'अन्नमयं हि सौम्य मनः' । 'षोडशकलो वै चन्द्रमाः' (षड्विंश ब्रा० ४।६।) के अनुसार चन्द्रमा षोडशकल है । एक एक चान्द्र संवत्सर में एक एक मन कला का विकास होता है । इस क्रम से मन की सर्वात्मकता में आयु के १६ वर्ष लग जाते हैं । मन विता १६ वें वर्ष में सघन होती है । यही चान्द्रसोम का दूसरा भोग है । हमारा मन साक्षात् आध्यात्मिक चन्द्रमा है, यह अन्न द्वारा सपन्न हुआ है, अन्नद्वारा ही अध्यात्मसंस्था में स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित रहता है । मन का उपादान चन्द्रमा है, हमारा मन चन्द्रमा में प्रतिष्ठित है, इसी अभिप्राय से श्रुति कहती है—

१—"तद्यत्तन्मनश्चन्द्रमाः सः" (जै० उ० १।२८।५)।
२—"मनश्चन्द्रमाः" (जै० उ० ३।२।६)।
३—"चन्द्रमा मे मनसि श्रितः" (तै० ब्रा० ३।१०।८।५)।
४—"यश्चन्मन एष स चन्द्रमाः" (शत० १०।३।३।७)।

चन्द्रमा से (अन्नद्वारा) उत्पन्न मन में स्नेहतत्त्वप्रधान वही श्रद्धारस प्रतिष्ठित है। इसी श्रद्धारूप स्नेह के कारण हमारा मन विषयों में आसक्त होता हुआ उनके साथ बद्ध होजाता है, जैसा कि पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। यही विषयसंस्कार पुञ्ज 'वासना' है । यही वासनापुञ्ज हमें आगे जन्म लेने के लिए बाध्य करता है । जब तक संस्काररूप अविद्यायुक्त मन पर प्रतिष्ठित रहता है, तब तक प्राणी अवश्य ही पुनः-सम्भूति के चक्र में फसा रहता है । कामनामय अविद्यावच्छिन्न मन ही आगे के जन्मों के लिए शुक्र (उपादानकारण) बनता है, अतएव पूर्व के महदात्माधिकरण में काम-अविद्या को शुक्र बतलाया गया है। ग्रन्थिविमोक विनाश है, ग्रन्थिबन्धन सम्भूति है । आत्मा के ग्रन्थिबन्धन

का कारण (वासनामय) मन ही है, एवं बंधनमुक्ति का कारण भी (वासनाशून्य) मन ही है। पुनःसम्भूति एवं विनाश दोनों का कारण यही मन है। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

न देहो न च जीवात्मा नन्द्रियाणि परंतप।
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध-मोक्षयोः॥

शुक्र हमारा वास्तविक रेत (उपादान) नहीं है, अपितु सम्भूति का प्रधान रेत तो कामनामय हमारा मन ही है। यही पुनः सम्भूति का कारण है। इसी अभिप्राय से उपनिषच्छ्रुति कहती है—

"मनो मे, रेतो मे, प्रजा मे, पुनःसम्भूतिर्मे तन्मे त्वयि (चन्द्रमसि)"।
(जै० उ० ३।२७।१४)।

हमारा चन्द्रमा आध्यात्मिकसंस्था की सम्भूति – विनाश का कारण है, उधर आधार विहारी ईश्वर का मन आधिदैविक संस्था की सम्भूति–विनाश का कारण है। पूर्व में चन्द्रमा शब्द को सोमपरक मानते हुए हमने सोमरूपा चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण बतलाया था, आज हम प्रसङ्ग वश इसी चन्द्रमा को सम्पूर्ण विश्व की सम्भूति का कारण कह सकते हैं। हिरण्यगर्भ विद्या के अनुसार विश्वकेन्द्रस्थ सूर्य ही विश्व का प्रभव–प्रतिष्ठा–परायण है। सूर्य से ऊपर के स्वयम्भू–परमेष्ठी दोनों अमृतलोक सूर्य के अमृतभाग से प्रतिष्ठित हैं, एवं सूर्य से नीचे के मर्त्यलोक सूर्य के मर्त्यभाग से सत्यरूप से प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार सूर्य ही त्रैलोक्यविश्व का मूलस्तम्भ (स्तम्भ) बन रहा है। इस सूर्य को जीवित रखने वाला है, यही प्रसङ्ग वश चन्द्रमा। सूर्य स्वरश्मियों से पार्थिव रसों का निरन्तर आदान करता रहता है। इसी आदान से सूर्यप्रजापति का क्षीयमाण भाग पूरा होता रहता है। इस कमी को पूरा करना चान्द्रनाड़ी पर निर्भर है। सुषिरह से सुषुम्ना चान्द्रनाड़ी द्वारा ही पार्थिव रस सूर्य में आहुत होते रहते हैं। जब तक चन्द्रमा है, तब तक चान्द्रनाड़ी है जब तक चान्द्रनाड़ी है तभी तक सौरयज्ञस्थिति है, जब तक यज्ञ है तभी तक सूर्य जीवित है, जब तक सूर्य

जीवित है, तभी तक अमृतमृत्युमय विश्व की सम्भूति है। इस प्रकार परम्परया इस सम्भूति का श्रेय एकमात्र चन्द्रमा को ही है।

अध्यात्मप्रपञ्च को देखिए! हम उत्पन्न हुए हैं, चन्द्रमा से। हमारी पुन सम्भूति होती है चन्द्रमा (मन) से। एवं अपनी आयु के भोगकाल में हम जो कुछ सम्भूति (वैभव) प्राप्त करते हैं, वह भी इसी चन्द्रमा (मन) से। यदि मन नहीं हो तो हमारे विज्ञान(बुद्धि),महान्, अव्यक्तादि कुछ नहीं कर सकते। मन पर ही विज्ञान प्रतिष्ठित है। मन सौम्य पात्र है। इसी पर विज्ञानसूर्य प्रतिबिम्बित होता है। विज्ञानात्माधिकरण में बतलाई गई प्रक्रिया के अनुसार विज्ञानसूर्य के दर्शपूर्णमास से ही महान् में त्रैगुण्यभाव का उदय होता है। त्रैगुण्य महान् ही चिदाभा की योनि है। यदि मन नहीं तो विज्ञान नहीं, विज्ञान नहीं तो त्रिगुणाभावापन्न महान् नहीं, महान् नहीं तो चिदाभास नहीं, चिदाभास नहीं तो कुछ नहीं। यह तो हुई मन से उधर (आभ्यन्तर) की स्थिति, अब चलिए इधर की ओर। 'स उ देवो युनक्ति' (केनोपनिषत्) के अनुसार सारी इन्द्रियें मन से युक्त होकर ही तत्तद्विषयभोग में समर्थ होतीं हैं। विषयज्ञान में प्रज्ञामात्रा-प्राणमात्रा-भूतमात्रा यह त्रिपुटी रहती है। मन में सोम-चित्-प्राण यह तीन कलाएं हैं। इन में चिदंश से प्रज्ञामात्रा पर, सोमांश से भूतमात्रा पर, एवं प्राणांश से प्राणमात्रा पर मन का अनुग्रह होता है। "न हि प्रज्ञापेता वाचन्न की सिद्ध्येत, नामाज्ञासिषम्, अन्यत्र मे मनोऽभूत्" (कौ०उ० ३ अ० ८ ख०) के अनुसार बिना मन के इन्द्रिए विषयभोग में एकान्ततः असमर्थ हैं। बिना विषयभोग के शरीर नहीं, शरीर नहीं तो कुछ नहीं।

इस चान्द्रमन को 'प्रज्ञान' नाम से व्यवहृत किया जाता है। हमारी अध्यात्मसंस्था में तीन प्रकार का मनोराज्य है। पञ्चकल अव्यय वाला मन सर्वालम्बन है। यह जड़-चेतन सब में समानरूप से विद्यमान है। इसी चित्मन की अपेक्षा से भारतीय आर्यसाहित्य का सर्वात्मवाद प्रतिष्ठित है। इस अव्यय मन को 'श्वोवसीयसमन' 'श्वोवस्यसम्राज' आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है। दूसरा है चान्द्रमन। 'नियतविषयत्वमिन्द्रियत्वम्' इन्द्रिय

का यह स्वरूप है। सभी इन्द्रिए अपने अपने रूप–रस–गंधादि नियत विषयों को ही भोगने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। भोग ज्ञानसापेक्ष है। अवश्य ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानकेन्द्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान रश्मियों को लेकर इन्द्रिए स्वस्वविषयभोग में समर्थ बनती हैं। उसी ज्ञानकेन्द्र का नाम प्रज्ञान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय अपना काम नहीं कर सकती। चूंकि यह सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इस का विषय नियत नहीं है, यह सब में है, अतएव नियतविषय स्वरूप इन्द्रिय मर्यादा से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस का सोम भाग विषय से युक्त रहता है अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी न्यायप्राप्त होता है। एक, तीसरा मन और है। उसका काम है—अच्छे बुरे का अनुभव करना। अनुकूल वेदना, प्रति, कूल वेदना इस का नियत विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' (अथर्व) यह कहा जाता है। अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रज्ञान निरूपणात्मिका आगे की केनोपनिषत् में होने वाला है। अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणेन्द्र-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय, अतएव अनिन्द्रिय, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध अन्नमय मन ही अव्यक्त-महत्-विज्ञान-शरीर-इन्द्रिय-शारीरदेवता-भूत-शारीरलोक आदि सब की सम्भूति का कारण है। प्रज्ञानात्मा की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? इति। येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति, यदेतद्-हृदय, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं, मेधा दृष्टि धृति, मति, मनीषा, जूतिः, सङ्कल्पः क्रतु, असुः कामो, वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रजापति, एते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी–वायु–राकाश–आपो–ज्योतींषीत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बी जानीतराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च स्वेदजानि च, उद्भिज्जानि च, अश्वा, गावः, पुरुषा, हस्तिनो, यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमच पतत्रि च, यच स्थावरं, तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः । प्रज्ञा प्रतिष्ठा । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृत समभवत्, समभवत्" ॥

(ऐतरेय आरण्यक २ । ६ । १) ।

सम्भूति–एवं विनाश का क्या स्वरूप है ? अधिदैवत, एवं अध्यात्म में चन्द्रमा और मन ही सम्भूति-विनाश के अधिष्ठाता कैसे हैं ? इत्यादि बहिरङ्ग प्रश्नों का समाधान होचुका । अब मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषत् में प्रकृत अधिकरण के तीन मन्त्रों का 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के विज्ञानात्माधिकरण की तरह यहां भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यही क्रम समझना चाहिए । 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है, 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से विरुद्ध चलने वालों की अधोगति बतलाता है, एवं 'सम्भूतिं च विनाशं च' इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मानते हुए, सम्भूति-विनाशात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१॥

(ई० उ० (१ म०) ।

का यह स्वरूप है। सभी इन्द्रिय अपने अपने रूप–रस–गंधादि नियत विषयों को ही भोगने में समर्थ हैं। यही इन्द्रियों का इन्द्रियत्व है। भोग ज्ञानसापेक्ष है। अवश्य ही सब इन्द्रियों के मूल में एक ऐसा ज्ञानयन्त्र मानना पड़ता है कि जिसकी ज्ञान रश्मियों को लेकर इन्द्रिए स्वस्वविषयभोग में समर्थ बनती हैं। उसी ज्ञानयन्त्र का नाम प्रज्ञान मन है। यह सब इन्द्रियों का प्रभु है। बिना इस का सहारा लिए कोई भी इन्द्रिय अपना कर्म नहीं कर सकती। चूंकि यह सब इन्द्रियों में अनुस्यूत रहता है, अतएव हम इसे 'सर्वेन्द्रियमन' नाम से व्यवहृत कर सकते हैं। इस का विषय नियत नहीं है, यह सब में है, अतएव नियतविषय स्वरूप इन्द्रिय मर्यादा से पृथक् रहता हुआ यही 'अनिन्द्रियमन' नाम से भी प्रसिद्ध है। इस का सोम भाग विरज से युक्त रहता है अतएव इसे 'प्रज्ञानमन' कहना भी न्यायप्राप्त होता है। एक तीसरा मन और है। उसका काम है–अच्छे बुरे का अनुभव करना। अनुकूल वेदना, प्रतिकूल वेदना इस का नियत विषय है, अतएव यह तीसरा मन इन्द्रियकोटि में प्रविष्ट होता हुआ 'इन्द्रियमन' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के लिए 'मनः षष्ठानीन्द्रियाणि' (भगवद्) यह कहा जाता है। अस्तु इन सब विषयों का विशद निरूपण प्रज्ञान निरूपणात्मिका आगे की केनोपनिषत् में होने वाला है। अतः इस विषय को अधिक विस्तृत न कर केवल यही कहना चाहते हैं कि प्राणेन्द्र-प्रज्ञा-सोम की समष्टिरूप यह सर्वेन्द्रिय अतएव अनिन्द्रिय, प्रज्ञानमय नाम से प्रसिद्ध अमृतमय मन ही अव्यक्त-महत्–विज्ञान–शरीर–इन्द्रिय–शारीरदेवता–भूत–शारीरलोक आदि सब की सम्भूति का कारण है। प्रज्ञानात्मा की इसी सर्वता का निरूपण करते हुए महर्षि ऐतरेय कहते हैं—

> कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे, कतरः स आत्मा ? इति। येन वा पश्यति येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चा स्वादु च विजानाति, यदेतत्–हृदयं, मनश्च (इन्द्रियमनश्च), एतत् स ज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं, प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टि धृति, मति, मनीषा, जूतिः, सङ्कल्पः क्रतु, रसुः कामो, वश इति। सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।

एष ब्रह्म, एष इन्द्र, एष प्रजापति, एते सर्वे देवा, इमानि च पञ्चमहाभूतानि पृथिवी–वायु–राकाश–मापो–ज्योतींषीत्येतानि, इमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बी जानीतराणि, चेतराणि चाण्डजानि च, जारुजानि च स्वेदजानि च, उद्भिज्जानि च, अश्वा, गावः, पुरुषा, हस्तिनो, यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमच पतत्रि च, यच्च स्थावरं, तत् प्रज्ञानेत्रं, प्रज्ञाने प्रतिष्ठितम् । प्रज्ञानेत्रो लोकः । प्रज्ञा प्रतिष्ठा । स एतेन प्राज्ञेनात्मनाऽस्माल्लोकादुत्क्रम्य अमुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृत समभवत्, समभवत्" ।।

(ऐतरेय आरण्यक २।६।१)।

सम्भूति–एवं विनाश का क्या स्वरूप है ? अधिदैवत, एवं अध्यात्म में चन्द्रमा और मन की सम्भूति–विनाश के अधिष्ठाता कैसे हैं ? इत्यादि बहिरङ्ग प्रश्नों का समाधान होचुका । अब मूलग्रन्थ की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है ।

उपनिषद् में प्रकृत अधिकरण के तीन मन्त्रों का 'अन्धं तमः प्रविशन्ति' 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यह क्रम उपलब्ध होता है, परन्तु विज्ञानदृष्टि से पूर्व के विद्याविद्याधिकरण की तरह यहां भी 'अन्यदेवाहुः सम्भवात्' अन्ध तमः प्रविशन्ति' 'सम्भूतिं च विनाशं च' यही क्रम समझना चाहिए । 'अन्यदेवाहुः' यह प्रथम मन्त्र प्रज्ञानात्मा का स्वरूप बतलाता है, 'अन्ध तमः प्रविशन्ति' यह मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप से विरुद्ध चलने वालों की अधोगति बतलाता है, एवं 'सम्भूतिं च विनाशं च' इत्यादि मन्त्र प्रतिपादित आत्मस्वरूप का स्पष्टीकरण करता है । इस क्रम को प्रधान मानते हुए, सम्भूति–विनाशात्मक प्रज्ञानात्मा का निरूपण करते हुए निम्नलिखित प्रथम मन्त्र हमारे सामने आता है—

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ।।१।।

(ई० उ० १२ म०)।

"विद्वान् लोग उस (प्रज्ञानात्मतत्त्व) को सम्भव से भी पृथक् कहते हैं, असम्भव से भी पृथक् कहते हैं। जिन वैज्ञानिकों ने हमारे लिए आत्मस्वरूप बतलाया है, उन धीर विद्वानों के द्वारा हम यही सुनते आए हैं—(कि वह आत्मतत्त्व सम्भूति और असम्भूति दोनों से पृथक् है" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। सम्भूति अस्तितत्त्व है, असम्भूति नास्तितत्त्व है। सत्तारस से अनुगृहीत पदार्थ सम्भूति है, सत्तारस से वियुक्त पदार्थ असम्भूति है। उत्पत्ति और विनाश दोनों भाव प्रसिद्ध हैं। यह उत्पत्तिरूपा सम्भूति विनाशरूपा असम्भूति आत्मा के धर्म नहीं हैं। प्रज्ञानात्मा में जो आत्म अंश (चिदंश) है, न वह उत्पन्न होता, न उसका कभी विनाश होता। बलों की ही रसरूप आत्मा के अनुग्रह से सम्भूति होती है, *रसपरित्यागावस्थावस्था में बलों की ही असम्भूति होती है। सम्भूति—असम्भूति दोनों* बल के धर्म हैं। वह इन दोनों का आलम्बन बनता हुआ दोनों से पृथक् है। सम्भूति और असम्भूति जिसके आधार पर होती है, उसे आत्मा (प्रज्ञानात्मा) समझना चाहिए।

अपि च रस—बलसमष्टिरूप वह आत्मा न केवल सम्भूति का अधिष्ठाता है, न केवल असम्भूति का अधिष्ठाता है। अपितु दोनों उसी के विवर्त हैं। वह असम्भूतिरूप है इसलिए तो उसे सम्भूति नहीं कहा जासकता। सम्भूतिरूप है, अतः उसे असम्भूति भी नहीं कहा जा सकता। सम्भूति एवं असम्भूति का परस्पर में विरोध है, अतः उसे उभयात्मक भी नहीं कहा जासकता। ऐसी स्थिति में यदि उसके सम्बन्ध में कुछ कहा जासकता है तो यही कि वह *सम्भूति—असम्भूति दोनों से पृथक् है।*

यदि च आत्मा का रसभाग सम्भूति का अधिष्ठाता है, बलभाग असम्भूति का अधिष्ठाता है। वह न शुद्ध रसरूप है न शुद्ध बलरूप ही है। उस का स्वरूप दोनों से विलक्षण है। अर्थात् दोनों की समष्टि आत्मा है। 'सतो बन्धुमसति निरविन्दन्' 'अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्' 'अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन' 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इत्यादि श्रौत-स्मार्त वचनों के अनुसार लोकदृष्ट्या सम्भव एवं असम्भव दोनों से अन्यत् होता हुआ वह दोनों की समष्टि ही है। ऐसी अवस्था में—

अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्यां रताः ॥१॥
(ई० उ० १२ म)।

जो व्यक्ति केवल असंभूति की उपासना करते हैं, वह घोर अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, एवं इनसे भी अधिक वे मनुष्य अन्धकार में प्रविष्ट होते हैं, जो केवल सम्भूति में ही रत हैं । अर्थात् जो चार्वाकादि केवल क्षणिक बल को ही प्रधान मानते हुए संसार को शून्यं शून्यं समझते हैं, व तो शून्यरूप अन्धकार में हैं ही, परन्तु आस्तिक बनने का गर्व करने वाले जो महानुभाव क्षणिक बल का निरादर कर केवल सांसारिक अस्तित्वरूप विषयों में ही आसक्त रहते हैं। जो यह नहीं समझते कि जिन को हमनें सम्भूति समझ रक्खी है, कालान्तर में उन सब का नाश होने वाला है, ऐसे आसक्त पुरुष और भी अधिक आवरण में हैं ।

'अभिष समभिव्याहारे' के अनुसार सम् का अर्थ है दो वस्तुओं का एकीभाव । प्रकृत में वे दो तत्त्व सुपरिचित रस–बल ही हैं । रस से सत्ता, किंवा सद्भाव अभिप्रेत है, बल से असत्तत्व अभिप्रेत है । इस असत् बल में जो सत् रस का सम्बन्ध है, वही बल की सम्भूति है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जाचुका है । सत्तारस सत्सरूप से सर्वथा एक है । असत्त्वबल–'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' के अनुसार नाना है । जब तक यह बल सत्तारूप एकरस से पृथक् रहता है, तब तक एकीभाव से शून्य रहता हुआ यह नानाभावापन्न है। यही रस से अनुगृहीत होकर एकीभाव को प्राप्त होता हुआ सम्भूति-रूप में परिणत होजाता है। बस–'रसबलयोः–सदसतो –एकीभावः' ही सम्भूति है । सम्भूति सत्तारस है, शुद्ध बल असम्भूति है । बल आवरण सरूप होनें से तम है । ऐसी अवस्था में जो असम्भूतिरूप केवल इस बल भाग की ही उपासना करते हैं, व सचमुच आवरणरूप अन्धतम में प्रविष्ट रहते हैं । बल असत् (नास्ति) भाव है, नास्ति शून्यभाव है, शून्यभाव अन्धकार है । 'असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत्' के अनुसार केवल असत् के

उपासक सब असत् बन जाते हैं। परन्तु वे और भी अधिक गहरे अन्धकार में हैं, जो कि केवल रसरूप सम्भूति की ही उपासना करते हैं। रस तमोलक्षण है। बिना बल के विशुद्ध रस—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमनिर्देश्यं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

के अनुसार सर्वथा अप्रज्ञात–अलक्षण–अप्रतर्क्य–अनिर्देश्य–प्रसुप्त तम है। जब तक बल का आश्रय नहीं लिया जाता, तब तक स्वस्वरूप से रस अनुपाख्यतम है। यह तम अन्धतम से भी गहरा है। बल संसार का स्वरूप है अतः इस की उपासना करने वाला, अन्धतमरूपा सांसारिक संपत्ति तो प्राप्त करलेता है। परन्तु विशुद्ध रसरूप सम्भूति का अनुयायी न इधर का रहता, न उधर का। यही रस का महान्धकार है। ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए? सुनिए—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयं सह।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥३॥
(ई० उ० १४ म०)।

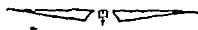
जो धीर विद्वान् सम्भूति और विनाश दोनों को एक बिन्दु पर प्रतिष्ठित देखता है, वह विनाश से मृत्यु का तरण कर सम्भूति से अमृतत्व प्राप्त करने में समर्थ होजाता है। मन्त्रार्थ के सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य नहीं है। मृत्यु ही अमृतप्राप्ति का साधन है। अतः दोनों के समुच्चितरूप की ही उपासना करनी चाहिए। निष्कामभाव से मृत्युरूप संसार की उपासना करते हुए अमृत पर दृष्टि रखिए! यही आदेश है, यही उपदेश है, यही सत्य है यही ब्राह्मी उपनिषत् है।

उपनिषत् का प्रधान लक्ष्य आत्मा है। अत एव प्रत्येक प्रकरण में अन्तिम लक्ष्य अमृतपुरुषरूप आत्मा ही बन जाता है। आत्मस्वरूपपरिज्ञान के लिए आत्मशुद्धि का स्वरूप

जानना भी आवश्यक होजाता है। अतएव अगला उपनिषत् को इस का भी स्वरूप बतलाना पड़ता है। यही कारण है कि उपनिषत् आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों के किसी विशेषभाव का निरूपण न कर सामान्य शब्दों का उपयोग करती है। उपनिषत् ऐसे अक्षर बोलती है, जिन से आत्मा-एवं आत्मसृष्टि दोनों का स्वरूप गतार्थ होजाता है। अतएव प्रकृत के तीनों मन्त्रों से जहां रसबलात्मक आत्मा का परिज्ञान होता है, एवमेव सम्भूति-विनाशमयी तद्रूपा आत्मसृष्टि का भी परिज्ञान होजाता है। न केवल अधिदैवतचरित्र का ही, किन्तु अध्यात्मस्थिति का भी उन्हीं अक्षरों से स्पष्टीकरण होजाता है। ईश्वरीय जगत् की अपेक्षा से प्रकृत प्रकरण से अमृतसत्यात्मरूप अन्नमय सम्भूति-विनाश के कारणभूत 'चन्द्रमा' का स्वरूपज्ञान होता है। एवं अध्यात्मजगत् की अपेक्षा से मनुष्य की पुनःसम्भूति के अधिष्ठाता प्रज्ञानात्मा का स्वरूप परिचय होजाता है। साथ ही में दोनों विश्वों के आलम्बनभूत सत्यसत्यात्म सम्भूति-विनाशरूप अमृतमृत्युमय आत्मा का बोध होजाता है। इसी सारे प्रज्ञानवैभव का प्रतिपादन करता हुआ **प्रज्ञानात्माधिकरण** समाप्त होता है।

इति प्रज्ञानात्माधिकरणम् ।

४



प्रकृतारम्भाधिकरणे-

प्रज्ञानात्माधिकरणं

समाप्तम्

४

— ◆ —

पूर्णमदः →→ →
साक्षी-देवसत्यः →→— प्राणवैभव भोक्ता देवसत्य
अधिदैवतम् →→—→
पूर्णमिदम्
अध्यात्मम्

देवसत्यान्तर —

ज्ञान-क्रिया-अर्थमयः-वैकृतात्मा साक्षी प्राणात्मा

५

साक्षीदेवसत्य ←——←**अमृतान्नाद** ←——←भोक्तादेवसत्य

(प्राकृतात्माधिकरणे *प्राणात्माधिकरण पञ्चमम्*)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न –ज्ञान-क्रिया–अर्थमयात्मा

भूतात्मा

१– हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्म्माय दृष्टये ॥
२– पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् ।
समूह तेजो, यत्ते रूपं कल्याणतम तत्ते पश्यामि ॥
योऽसावसौ पुरुष सोहमस्मि ॥
३– वायुरनिलममृतम् ।
॥

(ईशोपनिषद् १५–१६–१७ मन्त्र)



देवसत्यात्मस्वरूपनिदर्शन

१— अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

२— वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

३— सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

४— एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
(कठोपनिषद् २ अ० ५ व० ९–१०–११–१२ म०)।

५— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।
ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् । (कठ० २–४–१२)।

६— अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः ।
तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन् मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥ (कठ० २।६।१७)।

७— द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥ (मुण्डक० ३।१।१)।

८— समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मुण्डक० ३।१।२)।

९— यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥ मुण्डक ३।१।३)

१०— प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी ।
आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ (मु० ३।१।४) ।

११— युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता धियः ।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत् ॥ (श्वे० २।१) ।

१२— सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वाऽत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (श्वे० ३।१४) ।





॥ श्रीः ॥

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः ॥ १ ॥

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदापस्तत् प्रजापतिः ॥ २ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः ।
यस्तं न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ३ ॥

गुणान्वयो यः फलकर्मकर्त्ता कृतस्य तस्यैव स चोपभोक्ता ।
स विश्वरूपस्त्रिगुणस्त्रिवर्त्मा प्राणाधिपः सञ्चरति स्वकर्मभिः ॥ ४ ॥

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहंकार समन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥ ५ ॥

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ ६ ॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ८ ॥

—— ० ——



अ सत्य से सम्बन्ध रखने वाले स्वयम्भू, परमेष्ठी सूर्य, चन्द्रमा, इन चार आधिदैविक सत्यात्माओं का, एवं इन्हीं के अंशभूत अव्यक्त, महान्, विज्ञान, प्रज्ञान इन चार आध्यात्मिक सत्यात्माओं का पूर्व के—१—अव्यक्तात्माधिकरण, २—महदात्माधिकरण, ३—विज्ञानात्माधिकरण, ४—प्रज्ञानात्माधिकरण इन चार अधिकरणों में निरूपण किया जाचुका है। हमारी दिष्टि के अनुसार स्वयम्भू—परमेष्ठी—सूर्य—चन्द्रमा—पृथिवी यह क्रम

है। यह पांचों पिण्ड क्रमशः प्राणमय, आपोमय, वाङ्मय, अन्नमय, अन्नादमय इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन पांचों में आत्मा-पद-पुनःपद यह तीन तीन पर्व हैं। अतएव पांचों पिण्ड सहृदय-सशरीरी बनते हुए 'सत्य' हैं। इसी आधार पर इन पांचों सत्यों को हमनें 'सत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्मा' 'ब्रह्मसत्यात्तर' इत्यादि नामों से व्यवहृत किया है। अब तक चार ब्रह्मसत्यों का निरूपण हुआ है। पृथिवी नाम का पांचवां ब्रह्मसत्य शेष रहा है। उचित यह था कि चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर ही उपनिषद् पांचवें पार्थिव ब्रह्मसत्य का निरूपण करती। परन्तु ऐसा न कर पार्थिव ब्रह्मसत्य से पहिले, एवं चान्द्रब्रह्मसत्य के अनन्तर श्रुतिनें पार्थिव देव सत्यात्मा का ही निरूपण किया है।

ब्रह्मसत्यरूप पृथिवी के भूत-प्राण भेद से दो विवर्त हैं। इन दोनों में भूतप्रधाना पृथिवी (भूपिण्ड) ब्रह्मसत्य है। ब्रह्मसत्यात्मक इस भूपिण्ड पर प्राणप्रधाना पृथिवी (महिमपृथिवी) प्रतिष्ठित है। इसी प्राणमयी पृथिवी के साथ देवसत्यात्मा का सम्बन्ध है। देवसत्यप्रतिष्ठामयी प्राणपृथिवी देवरूपा है। यह ब्रह्मसत्यरूप चन्द्रमा, एवं ब्रह्मसत्यरूप भूपिण्ड दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित है। इसी प्राकृतिक स्थिति को लक्ष्य में रखकर उपनिषत् नें चान्द्रब्रह्मसत्य निरूपण के अनन्तर ही प्राणपृथिवी पर प्रतिष्ठित देवसत्यात्मा का निरूपण किया है। इस के अनन्तर बाकी बचे हुए भूपिण्डात्मक पांचवें ब्रह्मसत्यात्मा का निरूपण होगा।

औपनिषद् ज्ञान के लिए जैसे षोडशी प्रजापति का स्वरूप जानना आवश्यक है, एवमेव बिना ब्रह्मसत्य-देवसत्य के स्वरूपज्ञान के भी उपनिषदर्थ का समन्वय करना कठिन है। आगे आने वाली कठोपनिषत् में इस कठिनता का विस्तार के साथ निराकरण किया गया है। अत प्रकृत में प्रकरणसङ्गति के लिए दो चार शब्दों में इन दोनों का परिचयमात्र करा दिया जाता है। ब्रह्मसत्य—देवसत्य के परिज्ञान के लिए निम्न लिखित औपनिषद पर दृष्टि डालिए—

ॐ सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥

(मुण्डको० ३।१।१) ।

"एक वृक्ष की एक शाखा के अग्रभाग पर दो सुनहरी रंग के पक्षी बैठे हैं । दोनों सयुक् (जोड़ले) हैं । दोनों में घनिष्ठ मित्रता है । इन दोनों में से एक पक्षी फल को चख रहा है, दूसरा पक्षी बिना खाए उस खाने वाले की चौकसी कर रहा है ।" यह है मन्त्र का फलितार्थ ।

यह वृक्ष वही आप का सुपरिचित महामायावच्छिन्न अमृत–ब्रह्म–शुक्रमूर्त्ति महेश्वररूप 'अश्वत्थवृक्ष' है । इस अश्वत्थ में सहस्रवल्शा (एक हजार टहनिएं) हैं । प्रत्येक टहनी में स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–पृथिवी यह पांच पर्व (ग्रन्थिएं) हैं , यही सहस्रवल्श महाश्वत्थ है । पक्षी वृक्षपर नहीं बैठता, वृक्ष की टहनी पर बैठता है । टहनी के भी और किसी भाग में न बैठकर टहनी के आगे के छोर पर बैठता है । यही परिस्थिति यहां समझिए । अश्वत्थवृक्ष की एक टहनी में स्वयम्भू मूलभाग है, सूर्य मध्यभाग है, पृथिवी सबसे अन्त का भाग है । इसी पर दोनों पक्षी बैठे हुए हैं । इन दोनों में एक पक्षी फल खाता हुआ 'भोक्ता' बन रहा है । इसी को कठोपनिषत् ने 'मध्वद्' नाम से व्यवहृत किया है । दूसरा फल न खाता हुआ 'साक्षी' बन रहा है । भोक्ता एवं साक्षी दोनों पक्षियों का स्वरूप देवताओं से सम्बद्ध होता है, अतएव यह दोनों 'देवसख' नाम से प्रसिद्ध हैं ।

जीवात्मा और परमात्मा का युग्म माना जाता है । परमात्मा ईश्वर है, जीवात्मा जीव है । जीव और ईश्वर केवल देवसख का नाम है । स्वयम्भू आदि उपेश्वर हैं, अश्वत्थ महेश्वर है, परात्पर परमेश्वर है । स्वयम्भू–परमेष्ठी–सूर्य–चन्द्रमा–भूपिण्ड यह ईश्वर के उपकरण हैं,

* इस अनुपम मन्त्र के ८ अर्थ होते हैं । इन ८ओं का हिरण्यगर्भविद्याप्रतिपादक मुण्डकोपनिषत् में विस्तार से निरूपण हुआ है ।

अव्यक्त–महान्–विज्ञान–प्रज्ञान–शरीर यह जीव के उपकरण हैं। कर्म भोगने वाला, योन्यन्तर में जन्म लेने वाला जीवात्मा केवल भोक्ता देवसत्य है। महान्–विज्ञान अव्यक्तादि का कर्मभोग से कोई सम्बन्ध नहीं है। इस आत्मपृथक्करण से ही आत्मविषयक सन्देह निवृत्त होते हैं। 'जब जीवात्मा कर्म भोगने के लिए लोकान्तर में, किंवा योन्यन्तर में चला गया तो फिर श्राद्ध किसके लिए किया जाता है? जब आत्मा अजन्मा है तो उस की उत्पत्ति कैसे बतलाई जाती है? ऐसे ऐसे प्रश्नों का उस समय कोई मूल्य नहीं रहता, जब कि सर्वथा विभक्त आत्मसत्ताओं का तत्त्वज्ञान होजाता है। श्राद्ध महानात्मा के लिए ही किया जाता है। कर्मभोक्ता उक्त देवसत्य ही है। षोडशी पुरुष सर्वथा अजन्मा ही है। अस्तु आगे आने वाली उपनिषदों में इन सब विषयों का स्पष्टीकरण होता रहेगा। प्रकृत में केवल ईश्वर और जीव का स्वरूप ही विवक्षित है।

देवताओं में सबसे प्रथम का नाम 'अग्नि' है। अग्नितत्त्व को ही अन्नाद कहा जाता है। 'अग्निः सर्वा देवता' 'अग्निपुरोगाः सर्वे देवाः प्रीयन्ताम्' के अनुसार अन्नाद अग्नि ही सब देवताओं की मूलप्रतिष्ठा है। अतएव सब देवताओं के लिए अग्नि में ही आहुति दी जाती है। अग्नि ही देवताओं का मुख है। 'अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस निगम के अनुसार यह प्रजापति अग्नि अमृत–मृत्यु भेद से दो भागों में विभक्त है। अमृताग्नि प्राणाग्नि नाम से, मर्त्याग्नि भूताग्नि नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञपरिभाषानुसार अमृताग्नि को 'चितेनिधेयाग्नि' एवं मर्त्याग्नि को 'चिताग्नि' कहा जाता है। भूतरूप मर्त्याग्नि से भूपिण्ड का निर्माण हुआ है। आप–फेन–मृद्–सिकता–शर्करा–अश्मा–अयः–हिरण्य इन आठ चितियों में परिणत होकर यह मर्त्याग्नि भूपिण्डरूप में परिणत हुआ है अतएव इसे 'चिताग्नि' कहना न्याय संगत होता है। दूसरा अमृताग्नि, किंवा प्राणाग्नि भूकेन्द्र में उक्थरूप से प्रतिष्ठित रहता हुआ अर्क–(रश्मि)–रूप से भूपिण्ड से बाहर निकल कर अपना एक स्वतन्त्र मण्डल बनाता है। जहांतक यह अमृताग्नि व्याप्त रहता है, वहांतक का अमृताग्नि-मण्डल 'महिमापृथिवी' नाम से प्रसिद्ध है। यज्ञाग्निपरिभाषा के अनुसार चिताग्निमय भूपिण्ड 'कृष्णाजिन' कह

जाता है, एवं चितेनिधेयाग्निमय भूमण्डल 'पुष्करपर्ण' नाम से प्रसिद्ध है। इस पुष्करपर्णरूप महिमामण्डल में व्याप्त रहने वाले अग्नि की क्रमशः घन–तरल–विरल–यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। एक ही अग्नि की यह तीनों अवस्थाएं क्रमशः अग्नि–वायु–आदित्य नाम से प्रसिद्ध हैं भूपृष्ठ के मण्डल की सीमा तक व्याप्त रहने वाले भाराग्नि के तीन विभाग कर डालिए। इन तीनों में भी अवस्थातारतम्य मानना पड़ेगा। घनाग्नि की घनावस्था के तारतम्य से आठ अवयव माने जाते हैं, अग्नि के यही आठ अवयव आठ वसु हैं। मध्य के तरलस्तर की (तरलता के तारतम्य से) ११ अवस्थाएं हैं, यही ११ रुद्र हैं। अन्त के विरलस्तर की (विरलता के तारतम्य से) १२ अवस्थाएं हैं, यही १२ आदित्य हैं। इन तीन अवस्थाओं में दो सान्ध्य प्राणों का उदय होता है। इस प्रकार अग्निज्येष्ठ आठ वसु वायुज्येष्ठ ११ रुद्र, इन्द्रज्येष्ठ १२ आदित्य, २ साध्यप्राण, संभूय ३३ देवता हो जाते हैं। एक ही अग्नि पहिले अग्नि–वायु–आदित्यरूप से तीन रूप धारण करता है, वही अवान्तर अवस्थाओं से आगे जाकर ३३ रूप धारण कर लेता है—"अग्निः सर्वा देवताः"।

अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशादित्यास्त्रयस्त्रिंशदरिन्दम।
आदित्या वसवो रुद्रा अश्विनौ च परंतप॥ (वा० रा०)।

पृथिवी में वाक्-गौ-द्यौ यह तीन मनोता हैं। भाष्य के प्रथम खण्ड में शुक्रनिरुक्ति में वाक्-आप अग्नि नाम के तीन शुक्र बतलाए गए हैं–(देखिए ई० भि० १ खं० पृ० १२७)। स्वायम्भुव वाक्स्तर द्यौ है, पारमेष्ठ्य आपस्तर गौ है, एवं सौर अग्निस्तर वाक् है। द्यौ-(वाक् शुक्र)-भाग भूपिण्ड के केन्द्र से आरम्भ कर महापृथिवी के ४८ वें स्तोम तक व्याप्त है। गौ भाग ३३ वें स्तोम तक व्याप्त है, एवं वाक्भाग (अग्निशुक्र) पृथिवी के २१ अहर्गण तक व्याप्त है। 'तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत्' (शत० १०।५।१।१) के अनुसार वाक्स्तर अग्नि है। इस अग्निस्तर की ही अग्नि–वायु–आदित्य यह तीन अवस्थाएं हैं। पृथिवीपृष्ठ से आरम्भ कर ९ वें अहर्गण तक (जो कि अहर्गणों की समष्टि त्रिवृत्स्तोम नाम से प्रसिद्ध है) घनावस्थापन्न अग्नि प्रतिष्ठित है। यहां से पञ्चदशअहर्गण पर्यन्त तरलावस्थापन्न अग्नि (वायु)

प्रतिष्ठित है। एवं यहाँ से २१ पर्यन्त विरज अग्नि (इन्द्र) प्रतिष्ठित है। त्रिवृत्स्तोम इस महिमा पृथिवी का पृथिवीलोक है, इस का अधिष्ठाता (अधिष्ठाता) अग्नि है। पञ्चदशस्तोम महिमा पृथिवी का अन्तरिक्षलोक है, इस का अधिष्ठाता वायु है। एकविंशस्तोम महिमापृथिवी का द्युलोक है, इस का अधिष्ठाता इन्द्र है। इस प्रकार केवल महिमा पृथिवी में ही स्तोमभेद से त्रैलोक्यभाव का उदय होजाता है। यही पार्थिवत्रिलोकी 'स्तौम्यत्रिलोकी' नाम से प्रसिद्ध है। पार्थिव त्रैलोक्य में व्याप्त इन्हीं तीनों अग्नियों के सर्वहुतयज्ञ से वैश्वानर–हिरण्यगर्भ सर्वज्ञमूर्ति ईश्वरीय देवसत्य का जन्म होता है।

पार्थिव त्रिवृदग्नि को आधार बना कर आन्तरिक्ष्य वायु, दिव्य इन्द्र की आहुति होने से, तीनों के समन्वय से वैश्वानर अग्नि उत्पन्न होता है। वैश्वानर अग्नि में यद्यपि त्रैलोक्य का अग्नि है, परन्तु प्रधानता पार्थिव अग्नि की है। आन्तरिक्ष्य वायु में पार्थिव अग्नि दिव्य इन्द्र की आहुति होने से हिरण्यगर्भ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों हैं, परन्तु प्रधानता आन्तरिक्ष्य वायु की ही है। एवं दिव्याग्नि में पार्थिव अग्नि, आन्तरिक्ष्य वायु की आहुति होने से सर्वज्ञ का जन्म होता है। इसमें भी तीनों अग्नि हैं, परन्तु प्रधानता दिव्य अग्नि की ही है। अग्नि अर्थशक्ति का अधिष्ठाता है, अत तत्प्रधान वैश्वानर अग्नि अर्थमूर्ति ही है। वायु क्रियाशक्ति का अधिष्ठाता है, अत तत्प्रधान हिरण्यगर्भ क्रियामूर्ति ही है। एवं इन्द्र ज्ञानशक्ति का अधिष्ठाता है अतः तत्प्रधान सर्वज्ञ ज्ञानमूर्ति ही है। वैश्वानर अग्नि का प्रभव वायु–इन्द्रगर्भित पार्थिव अग्नि है प्रतिष्ठा त्रिवृत्स्तोम है, आयतन (व्याप्तिस्थान) सारा त्रैलोक्य है। इसी आधार पर–'वैश्वानरो यतते सूर्येण' (ऋक्० १।७।१ ९), 'आ यो द्यां भात्या पृथिवीम्' (वा.सं.१ ७।२१) इत्यादि कहा जाता है। हिरण्यगर्भ–वायु का प्रभव पार्थिवाग्नि–इन्द्रगर्भित आन्तरिक्ष्य वायु है प्रतिष्ठा पञ्चदशस्तोम है, आयतन सारा त्रैलोक्य है। एवं सर्वज्ञ इन्द्र का प्रभव अग्निवायुगर्भित दिव्य इन्द्र है, प्रतिष्ठा एकविंशस्तोम है, आयतन त्रैलोक्य है। यही त्रिदेवसमष्टि ज्ञान-क्रिया-अर्थशक्ति से सारे भौतिक विश्व का आत्मा बन रही है। भूतों के अधिष्ठाता होने से ही इस देवसत्य को 'सर्वभूतान्तरात्मा' कहा जाता है। त्रैलोक्य-

निषद् में जिन अग्नि–वायु–इन्द्र का त्रैलोक्य में विजय बतलाया गया है, वह यही सर्वभूतान्तरात्मा है। इस देवसत्य की प्रतिष्ठा ब्रह्मसत्य है, ब्रह्मसत्य की प्रतिष्ठा आत्मसत्य है।

आत्मा के अमृत–ब्रह्म–देव–भूत यह चार विवर्त हैं। षोडशीपुरुष स्वयं अमृतात्मा है। स्वयम्भू–परमेष्ठी आदि पाँचों पर्व ब्रह्मविवर्त है। अग्नि–वायु–इन्द्र की समष्टि देवविवर्त है, भूतप्रपञ्च प्रसिद्ध है। यही चारों संस्थाएं अध्यात्म में हैं। इन चारों आध्यात्मिक संस्थाओं में से अमृतात्मा असंस्करणीय है। ब्रह्म–देव–भूत तीनों का संस्कार किया जाता है। लौकिक शुद्धिसंस्कार भूतसंस्कार हैं, १६ स्मार्तसंस्कार ब्राह्मसंस्कार हैं, २२ श्रौतसंस्कार दैव संस्कार हैं। इन संस्कारों से ब्रह्म–देव–भूत यह तीनों विवर्त शुद्ध संस्कृत बनकर ब्रह्मविभूतिमय बनजाते हैं। जैसा कि अभियुक्त कहते हैं—

संस्कारैः संस्कृतः पूर्वैरुत्तरैरपि संस्कृतः।
नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्रह्म लौकिकम्।
ब्राह्मं पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥

अध्यात्मसंस्था की उक्त चारों संस्थाओं में अमृतसंस्था के तो वे ही नाम रहते हैं, इतर संस्थाओं के नाम बदल जाते हैं। ईश्वरीय देवसत्य का सर्वज्ञ भाग यहां प्राज्ञ नाम से, हिरण्यगर्भ भाग तैजस नाम से, वैश्वानर भाग वैश्वानर नाम से ही प्रसिद्ध है। यही भूतात्मा है। इस की प्रतिष्ठा यही सर्वभूतान्तरात्मा है। यह भोक्ता सुपर्ण है, वह साक्षी सुपर्ण है। यह कर्मकर्त्ता है, वह कर्मसाक्षी है। दोनों सखा हैं, दोनों सयुक् हैं। दोनों सौम्यविशोकीरूप महावृक्ष की शाखा के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं। दोनों की मूलप्रतिष्ठा भूमिपिण्ड है।

सर्वज्ञभाग सहस्रशीर्ष है, हिरण्यगर्भभाग सहस्राक्ष है, वैश्वानरभाग सहस्रपात् है। मूल–मध्य–अन्त भेद से यह त्रिपर्वा है। त्रिपर्वा देवसत्य पादरूप वैश्वानर भाग से भूपिण्ड पर प्रतिष्ठित होरहा है। अध्यात्मसंस्था में जीवरूप से यही दश अंगुल का अतिक्रमण कर (प्रादेशमात्र बनकर) प्रतिष्ठित होरहा है। इसी देवसत्य का समष्टिरूप से निरूपण करती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।
स भूमिं सर्वतस्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ (यजु सं० ३१।१) ।

ईश्वरजगत्

१—परात्पर —एककल
२—अव्यय —पञ्चकल
३—अक्षर—पञ्चकल
४—आत्मक्षर —पञ्चकल
} षोडशीप्रजापतिः (अमृतसत्यात्मा)

—•—

प्राणः——— १—स्वयम्भू —ब्रह्मसत्यात्मा
आपः——— २—परमेष्ठी— ”
वाक्——— ३—सूर्य —— ”
अन्नम्——— ४—चन्द्रमा — ”
} ब्रह्मसत्यात्मा

—•—

अमृतामात्राः महिमापृथिवी {
१—सर्वज्ञ ——इन्द्र
२—हिरण्यगर्भ —वायु
३—वैश्वानर —अग्नि
} देवसत्यात्मा साक्षी

—•—

मर्त्यामात्रा———५—भूपिण्डः]—भूतसत्यम्

} ईश्वरप्रजापति

जीवजगत्

१–परात्पर — एककलः
२–अव्यय — पञ्चकल
३–अक्षर — पञ्चकलः
४–आत्मक्षर — पञ्चकल
} षोडशीप्रजापतिः (अमृतब्रह्मात्मा)

—o—

माया:——१–अव्यक्तात्मा–प्राकृतात्मा
आपः——२ महानात्मा— "
वाक्——३–विज्ञानात्मा— "
अन्नम्——४–प्रज्ञानात्मा— "
} ब्रह्मसत्यात्मा

—o—

अध्यात्मात्मा: { १–प्राज्ञ — इन्द्र, २–तैजस — वायु, ३–वैश्वानर — अग्नि } देवसत्यात्मा भोक्ता

—o—

मर्त्यात्मा —१–शरीरम्] अन्नसत्यम्

} जीवप्रजापतिः

१–प्रथम — आन्तरिक्ष्य–दिव्याग्निनिर्मितपार्थिवत्रिवृदग्निः
१—२–प्रतिष्ठा — त्रिवृत्स्तोमः ...... —
३–आयतन — त्रयीत्रिलोकी... —— —
} वैश्वानराग्नि पार्थिव (सर्वशक्तिप्रवर्तकः)

—o—

१–प्रथम –पार्थिव-दिव्याग्निगर्भित-आन्तरिक्ष्यो वायु
२–२–प्रतिष्ठा—पञ्चदशस्तोम ....
३–आयतन–सौम्यत्रिलोकी ....

हिरण्यगर्भो वायु आन्तरिक्ष्य (क्रियाशक्तिप्रवर्त्तकः)

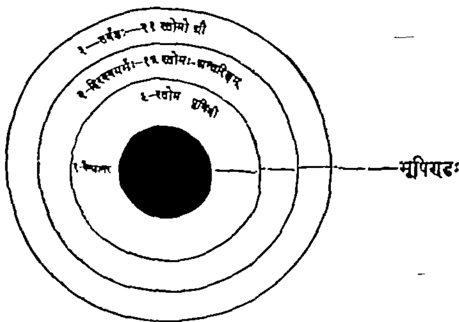
— ० —

१–प्रथम —पार्थिव–आन्तरिक्ष्य-अग्निगर्भितो दिव्येन्द्र
३–२–प्रतिष्ठा—एकविंशस्तोम ....
३–आयतन–सौम्यत्रिलोकी ....

सर्वज्ञ-इन्द्र –दिव्य (ज्ञानशक्तिप्रवर्त्तकः)

— • —

एष सर्वभूतान्तरात्मा



अग्नि–वायु–इन्द्र तीनों ही प्राणात्मक। हैं अतएव प्राणाग्निमयी से सपम इस देवसत्य को हम 'प्राणात्मा' कहनें के लिए तय्यार हैं। इन्द्रियवर्ग, प्रज्ञानमन, एवं बुद्धि के सहारे स्थूल-शरीररूप रथ में प्रतिष्ठित यह रथी कर्म्मात्मा इस लोक की यात्रा करता है, एवं आतिवाहिकशरीररूप (स्थूलशरीररूप) रथ में प्रतिष्ठित होकर परलोक की यात्रा करता है। इस रथी कर्मभोक्ता कर्म्मात्मा के उस छोर में मन (प्रज्ञान)-बुद्धि (विज्ञान)–महत्–अव्यक्त-षोडशी हैं, इस छोर में शरीर है। विज्ञानात्मा सौर है। महद्गर्भित चिदात्मा के चिद्भाग का साक्षात् सम्बन्ध चितिघनावच्छिन्न इसी सौरविज्ञान के साथ होता है। विज्ञान चिदात्मा से साक्षात् सम्बन्ध रखता है, अतएव 'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः' यह कहा जाता है। अध्यात्म-सत्या में विज्ञानपुरुष ही प्रधान तत्त्व है। इसी विज्ञानज्योति से प्रज्ञान प्रकाशित है, इसी से देवसत्यरूप क[र्म्मा]त्मा प्रकाशित है। कर्म्मात्मा–मन–बुद्धि तीनों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मन-बुद्धि के कर्म्मात्मा कर्मभोग करनें में सर्वथा असमर्थ है। अत एव मन बुद्धि को (भोगसाधन होनें से) भोक्तात्मा में अन्तर्भूत मान लिया जाता है। इसी अभिप्राय से इस कर्म्मात्मरूप देव-सत्यात्मक भोक्तात्मा का –'आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः' (कठोपनिषत्) यह लक्षण किया जाता है। प्रज्ञानयुक्त चाक्षुषपुरुषावच्छिन्न (सौरविज्ञानात्मावच्छिन्न) भोक्ता देव सत्य 'अहम्' है, यही जीवात्मा है। चान्द्रयुक्त सौरपुरुषावच्छिन्न साक्षी देवसत्य 'ओम्' है, यही परमात्मा है। सौर एवं विज्ञानावच्छिन्न देवद्वयसमष्टिरूप साक्षी और भोक्ता देवसत्य के लिए ही उपनिषत् नें 'सत्यधर्म' शब्द का प्रयोग किया है।

अब जरा मन्त्रों की सङ्गति का विचार कीजिए। 'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्' इत्यादि मन्त्र चाक्षुषपुरुष (विज्ञानात्मा) की उपासना का, दूसरे शब्दों में उसके प्रसन्न करनें का उपाय बतलाता है। ऐसी अवस्था में उचित यह था कि विज्ञानात्मप्रतिपादक ६–१०–११ मन्त्रो के अन्त में ही (विज्ञानात्माधिकरण में ही) 'हिरण्मयेन पात्रेण' इत्यादि पढ़ा जाता। परन्तु ऐसा न कर ऋषिनें सम्भूतिविनाशात्मक प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में (१४–वें मन्त्र से आगे) इसे पढ़ा है। ऐसा व्यतिक्रम क्यों किया गया? उत्तर स्पष्ट है। उपनिषदुप

देश प्रधानरूप से जीवात्माके स्वरूपज्ञान करवानें के लिए प्रवृत्त हुआ है । जीवसंस्था में— 'स वा एष विज्ञानात्मा प्रज्ञानात्मना सम्परिष्वक्तः' के अनुसार विज्ञान प्रज्ञान में ओतप्रोत है प्रज्ञान विज्ञान में सम्परिष्वक्त है । बिना विज्ञान के प्रज्ञान कुछ नहीं कर सकता, साथ ही में बिना प्रज्ञान के विज्ञान भी स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । न केवल जीवसंस्था में ही, अपितु ईश्वरसंस्था में भी यही स्थिति है । चन्द्रमा (सोम) के बिना सूर्य कभी प्रतिष्ठित नहीं रह सकता । सौरपुरुष आग्नेय है, ज्योतिर्मय है । इसका यह ज्योतिर्भाव चान्द्रसोमाहुति पर निर्भर है । 'स ज्योतिषा ज्योतिषां सवर्य' के अनुसार सोम ने ही सूर्य को ज्योतिर्मय बना रक्खा है, जैसा कि पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है । इसी प्रकार चन्द्रमा सौरप्रकाश से ही चन्द्रिकामय बन रहा है । यही स्थिति अध्यात्म में है । मन पर ही सौरविज्ञानपुरुष प्रतिबिम्बित होता है । यदि मन न हो तो उसी क्षण विज्ञानात्मा उत्क्रान्त होजाय । ऐसी अवस्था में हम कह सकते हैं कि चाक्षुषपुरुष का चाक्षुषात्मा प्रज्ञान सम्बन्ध पर ही अवलम्बित है । निरपेक्ष चाक्षुषपुरुष की उपासना असम्भव है । क्योंकि वह कभी निरपेक्षरूप (एकाकी) रहता ही नहीं । इसी सारी परिस्थिति को लक्ष्य में रखकर ऋषिनें विज्ञानात्माधिकरण के अन्त में विज्ञानपुरुष की प्राप्ति के उपायभूत 'हिरण्मयेन॰' इत्यादि मन्त्र को न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में पढ़ा है । इससे ऋषि को यही सिखाना है कि जिस चाक्षुषपुरुष की तुम उपासना करने चले हो वह उपासना बिना प्रज्ञानमन के सहयोग के असम्भव है । मनोयोग ही चाक्षुषपुरुष की उपासना का आधार है ।

"विज्ञानात्मा की उपासना का प्रकार बतलानें वाले 'हिरण्मयेन' इत्यादि मन्त्र को उसी अधिकरण के अन्त में न पढ़कर प्रज्ञानात्माधिकरण के अन्त में क्यों पढ़ा ?' इस प्रश्न का समाधान तो होगया, परन्तु इसी सम्बन्ध में एक प्रश्न और उपस्थित होता है । प्रकरणविभाग के अनुसार 'हिरण्मयेन॰' इत्यादि मन्त्र का हमनें आध्यात्माधिकरण नाम से प्रसिद्ध कर्मात्मप्रकरण में समावेश माना है । ऐसा क्यों ? पूर्व कथनानुसार तो पूर्व के प्रज्ञानात्माधिकरण में इस मन्त्र का समावेश होना चाहिए था ? इस प्रश्न का उत्तर उपासक कर्मात्मा

ही है। विज्ञानात्मा उपास्य है, प्रज्ञानात्मा उपासना का साधन है, कर्मात्मा उपासक है। उपासक कर्मात्मा ही मनोयोग (प्रज्ञानयोग) द्वारा उस विज्ञान पुरुष की उपासना करता है। ऐसी अवस्था में उपासक कर्मात्मा के साथ उस उपास्य विज्ञानात्मा का सम्बन्ध बतलाना आवश्यक है। इसी सम्बन्ध परिज्ञान के लिए उपासनाप्रकारप्रतिपादक 'हिरण्मयेन०' इत्यादि मन्त्र का कर्मात्माधिकरण के अन्त में समावेश करना उचित होता है।

अपि च जबतक कर्मात्मा शरीर में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक अन्य आत्मसंस्थाएं प्रतिष्ठित रहती हैं। जीवसंस्था में प्रधानता कर्मात्मा की ही है। अध्यात्म (मोक्तात्म)—प्रतिपादक कठोपनिषत् में यह विस्तार से बतलाया जाने वाला है कि वस्तुतः जीवात्मा देवसत्यरूप कर्मात्मा का ही नाम नहीं है, अपितु कर्मात्मापरपर्य्यायक इस भोक्तात्मा का भोक्तापना "आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" के अनुसार बुद्धिरूप चाक्षुषपुरुष, एवं मनोमय प्रज्ञानपुरुष के समन्वय पर ही निर्भर हैं। इसीलिए तो उपनिषत् ने मन एवं बुद्धि को कर्मात्मा के साथ नित्य सम्बद्ध माना है। यद्यपि चाक्षुषपुरुष का जितना घनिष्ट सम्बन्ध प्रज्ञानात्मा के साथ है, उतना देवसत्यरूप प्राणात्मा के साथ नहीं है, तथापि बिना इसके सम्बन्ध के भोक्तात्मा का भोक्तृत्व ही नहीं बन सकता। विज्ञान—प्रज्ञान एक श्रेणि में हैं, भोक्तात्मा दूसरी श्रेणि में है। प्रज्ञान—विज्ञान दोनों का सम्बन्ध इसके साथ होता है। इस देवसत्य की 'अहंता' (आत्मता) प्रज्ञानसपरिष्वक्त सौरविज्ञान के आधार पर ही प्रतिष्ठित है, जैसा कि—'सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च' इत्यादि से स्पष्ट है। देवसत्यप्रतिपादक प्राणात्माधिकरण के मध्य में 'हिरण्मयेन०' इत्यादि का पढ़ा जाना ही यह सूचित करता है कि चाक्षुषपुरुष का सम्बन्ध प्रज्ञान कर्मात्मा दोनों से है। 'मैं क्या हूँ'? इस प्रश्न का उत्तर है 'देवसत्य'। इस देवसत्य का 'मैं पना' उसी चाक्षुषपुरुष पर निर्भर है। पूर्व में ही बतलाया गया है कि देवसत्य की अपेक्षा से विज्ञान का प्रज्ञान के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी स्थिति को लक्ष्य में रखकर प्रज्ञाननिरूपण के अन्त में ही पहिले उस विज्ञान का स्वरूप दो मन्त्रों से बतलाकर तीसरे 'वायुरनिलममृत' मन्त्रभाग से देवसत्य का स्वरूप बतलाया गया है। इस प्रकार इस प्रकरण के तीन

मन्त्रों में से आरम्भ के दो मन्त्र चाक्षुषपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाते हैं, तीसरा मन्त्र प्राणात्मा का स्वरूप बतलाता है। इसी चाक्षुषपुरुष की उपासना का प्रकार बतलाता हुआ निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१॥
(ई० उ० १५ म०)।

"हिरण्मयपात्र से सत्य का मुख ढका हुआ है। हे पूषादेवता! सत्यधर्म की दृष्टि के लिए (साक्षात्कार के लिए) आप उस आवरण को हटाइए" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ। हेमसम्भागर्भित चाक्षुषपुरुष सौर पुरुष है। यह हृदयस्थ मन पर प्रतिष्ठित होकर दक्षिणचक्षु से प्रादेश मात्र बाहर निकलता है, जैसा कि विज्ञानात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जा चुका है। इस विज्ञानपुरुष का आप चर्मदृष्टि से साक्षात्कार कर सकते हैं। परन्तु इतना अवश्य है कि चाक्षुषकृष्ण, दक्षिणाक्षिपुरुष आदि नामों से प्रसिद्ध यह सम्वत्सर सूर्य के हिरण्मय प्रकाश में नहीं दीखता। धूप में आप इसे नहीं देख सकते। यह देखा जासकता है—पार्थिव छायाप्राण की सत्ता में। पञ्चमागप्रधाना पृथिवी ही 'पूषा' कहलाती है। चर्मदृष्टि का भेदक, तमोमय पार्थिव छायामय प्राण ही 'पूषा' है। 'छाया' इस प्राण का वास्तविक स्वरूप है। इस छायामय पूषाप्राण के आगमन से हिरण्मयपात्ररूप आवरण हट जाता है, उसी समय चाक्षुषपुरुष के दर्शन होजाते हैं। प्राचीन व्याख्याताओं के मतानुसार चाक्षुषपुरुष अरुण्यात्मा नहीं है जिसका कि साक्षात्कार न होसके। आप छाया में अपनी दाहिनी आंख से चर्मदृष्टि से एक प्रादेश पर दृष्टि—आरोप का अभ्यास करते जाइए। मनोयोगरूप इस अभ्यासयोग से एक दिन सर्षपाकार इस पुरुष के आपको अवश्य ही दर्शन होजायेंगे। जिस दिन आप इसके दर्शन करेंगे, विश्वास कीजिए उस दिन वेदतत्त्व आपके लिए अपने आप प्रकट होजायगा। कारण चाक्षुषपुरुष सौर है, एवं सूर्यदेवता 'सैषा त्रयीविद्या तपति' के अनुसार वेदमय है।

अपि च प्रकारान्तर से मन्त्राथ का समन्वय कीजिए । सांसारिक संपत्ति हिरण्मयपात्र है, ससार सुनहरा है। सुवर्ण (सम्पत्ति) ने आत्मतत्व को आवृत कर रक्खा है । इस हिरण्मय पात्ररूप वित्तमोह से मुग्ध मनुष्य अन्तर्हृदय में प्रतिष्ठित सत्य आत्मतत्व के दर्शन करने में असमर्थ होरहा है । इस पार्थिव भौतिक सम्पत्ति का अधिष्ठाता पृथिवी का अभिमानी देवता 'पूषा' है । उसी की आराधना से भौतिक आवरण हट सकता है । जो पूषादेवता आवरण का अधिष्ठाता होता है, वही आवरण दूर करने में समर्थ है । हमें प्रणतभाव से उसी पार्थिव अभिमानी देवता से प्रार्थना करनी चाहिए कि हे पूषन् ! आपने स्वशक्ति से सत्यात्मतत्व पर जो भौतिक सम्पत्तिरूप आवरण लगा रक्खा है, उसे हटाइए, हमारे आत्मा को भौतिक बन्धन से मुक्त कीजिए, जिससे कि हम आत्मस्वरूप पहिचान सकें । पूषा देवता आवरण को हटाकर सत्यधर्म का साक्षात्कार करवाती है, यह उक्त मन्त्र से सिद्ध हुआ । वह पूषा देवता किस प्रकार से आवरण हटाती है ? इस प्रश्न का समाधान करती हुई आगे जाकर श्रुति कहती है—

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन्, समूह तेज ।
यत्ते रूप कल्याणतमं तत्ते पश्यामि-योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि ॥२॥
(ई० उ० १६ म०) ।

सृष्टि के मूलप्रवर्तक प्राण को 'ऋषि' कहा जाता है । स्वायम्भुव प्रसवप्राण का ही नाम ऋषि है । पूर्व के अव्यक्तात्माधिकरण में हमने स्वायम्भुव वेद को 'ब्रह्मनिश्वसित' कहा है, एव उस वेद के यजुर्भाग को 'ब्रह्म' कहा है । उस यजु का यत् भाग ही प्राण है, यही ऋषि है । इसी से आगे की सारी सृष्टिए होती हैं । इस ऋषिप्राण की सप्तर्षि, द्व्यर्षि, एकर्षि, त्र्यर्षि आदि अनेक जातिएं हैं । विश्व में उपलब्ध होने वाले एकत्व, द्वित्व-त्रित्व—आदि जितने भाव हैं, उन सब के मूलाधार यही एकर्षि—द्व्यर्षि आदि ऋषिप्राण हैं । सात रङ्ग, सात उपरस, सात धातु, सात उपधातु, सात विष, सात उपविष, सात लोक, सात पाताल, सात द्वीप, सात समुद्र, सात मरुत्, सात रंग, सात छन्द, सप्तास्यप्राण, शरीर सात धातु, सप्तनाड़ी, सप्तार्चि, सप्तसमिध, सप्तहोम आदि आदि जितने भी सप्तक हैं, उन सब का प्रवर्तक एकमात्र 'सप्तर्षिप्राण' है ।

ऋत-सत्य, अग्नी-सोम, सत्य-अनृत, द्यावा-पृथिवी, योषा-वृषा, रयि-प्राण, अन्न-सुमन, स्थिति-गति, आदान-विसर्ग, ब्रह्म-कर्म, ज्ञान-क्रिया, मूर्त-अमूर्त, निरुक्त-अनिरुक्त, अमृत-मृत्यु, सत-असत, अहो-रात्र, शुक्ल-कृष्ण, पुरुष-प्रकृति, पति-पत्नी, पिता-पुत्र, स्वामी-सेवक, आत्मा-शरीर, आग-पानी, अन्न-अन्न, ओषधि-वनस्पति, सूर्य-चन्द्र, श्रोत्रद्वय, चक्षुर्द्वय, प्राणद्वय आदि आदि जितने भी द्वैत भाव हैं, सब की मूलप्रतिष्ठा 'द्व्यर्षि' प्राण ही है।

त्रैलोक्य, त्रेताग्नि वीर्यत्रयी, मात्रात्रयी, वेदत्रयी त्रिसत्य आदि जितने भी त्रित्व भाव हैं, उन सबका मूल त्र्यर्षि प्राण है। एवं एकत्वभावापन्न पदार्थों की मूलप्रतिष्ठा 'एकर्षि' प्राण है। इन प्राणों के अध्यात्म-अधिदैवत-अधियज्ञ-अधिभूत भेद से भिन्न भिन्न कार्य हैं, जैसा कि भाष्यप्रथमखण्ड की विश्वनिरुक्ति में बतलाया जाचुका है—(देखिए ई० भि० भा० १ खं १५२-३६२)।

उसी प्रकरण में साकञ्ज नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षिप्राण का निरूपण किया गया है। इस सप्तर्षिप्राण के समष्टि एवं व्यष्टिरूप से सप्तर्षि-द्व्यर्षि-एकर्षि यह तीन भेद होजाते हैं, जैसा कि निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट होजाता है—

१– १–गोतम २– २–भरद्वाज	}श्रोत्रे ←— द्व्यर्षि		
३– १–विश्वामित्र ४– २–जमदग्नि	}चक्षुषी ←— द्व्यर्षिः	सप्तर्षिः(शत०१४।५।२।४।५।६।७)	
५– १–वसिष्ठ ६– २–कश्यप	}नासिके ←— द्व्यर्षि		
७– १–अत्रि	}वाक् ←— एकर्षिः		

———•———

उक्त सप्तर्षिप्राणों में से सातवां अत्रि प्राण वाङ्मय है । यह वाक् (अग्नि)—मय प्राण ही मुख में प्रतिष्ठित होकर अन्न खाता है, अतएव—'अन्नमत्ति' इस व्युत्पत्ति से इस वाङ्मय प्राण को—'अत्रि' कहा जाता है । अत्रि ही देवताओं की परोक्षभाषा में 'अग्नि' नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

'वागेवात्रिः । वाचा (अग्निना) ह्यन्नमद्यते । अत्तिर्ह वै नामैतद्यदत्रिः । सर्वस्यात्ता भवति, सर्वमस्यान्नं भवति, य एवं वेद" (शत० १४।५।२।५) ।

यह वाक्तत्त्व अङ्गिरा ऋषि है । पूर्व में जिन ऋषिप्राणों का दिग्दर्शन कराया गया है, वे अनन्त प्रकार के हैं । इन सब की मूलप्रतिष्ठा वाङ्मय अङ्गिरा नाम का एकर्षिप्राण ही है जैसा कि 'तेऽङ्गिरसः सूनवः (ऋक् १०।६२।५) इत्यादि मन्त्रवचन से स्पष्ट है । यद्यपि भृगु—अङ्गिरा—अत्रि भेद से अंगिराप्राण अत्रि से पृथक् तत्त्व माना गया है । परन्तु पर मार्थतः तीनों एक ही हैं । अङ्गिरा अग्नि ही विशकलन की पराकाष्ठा पर पहुँच कर भागव सोम-रूप में परिणत होजाता है । एवं अङ्गिरा ही चितिभाव को प्राप्त होकर धामच्छद् बनता हुआ 'अत्रि' कहलाने लगता है । यही आंगिरस अत्रिप्राण भूपिण्ड का स्वरूपसमर्पक है । इसी एकर्षि—वाङ्मय—पार्थिव अत्रिप्राण के मूल भाव से आत्रेय चन्द्रमा उत्पन्न होता है, जैसा कि पूर्व के महानात्माधिकरण में चन्द्रोत्पत्ति-प्रकरण में बतलाया जाचुका है । अङ्गिरा धामच्छद् अवस्था में आकर अत्रि है, यही वागग्नि रूप है । यही अग्निमय प्राण वाक्रूप से (वागिन्द्रिय रूप से) मुख में प्रतिष्ठित होता है—'अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्' । अत्रि नाम से प्रसिद्ध यह अंगिरा ही मन्त्रगण 'एकर्षिप्राण' है । 'प्रजापतिर्वा एकः' (तै० ब्रा० ३।७।१६।१) के अनुसार यह एकऋषि है । इसी अंगिराग्नि से (अंगिराग्नि के मर्त्यभाग की चिति से) भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है । इसी एकर्षिरूप पार्थिव वागग्नि, किंवा अंगिराग्नि, किंवा अत्रि का नाम 'पूषा' है । धामच्छद्भाव के कारण यह अत्रिमूर्ति पूषाप्राण पारदर्शिता का प्रतिबन्धक होता हुआ तमोमय है, कृष्ण है, छायारूप है । इसी पूषा प्राण के सम्बन्ध से पृथिवी को पूषा कहा जाता है, जैसा कि निम्न वचन से स्पष्ट है—

१—स नैव व्यभवत्स पूषणम्, इय वै पूषा, इय हीदं सर्वं पुष्यति—यदिदं किञ्च' (शत० १४।४।२।२५)।

यज्ञविद्या के सम्बन्ध में ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रश्न किया गया गया है कि, "आज्य (घृत) तरल पदार्थ है। इस की अग्नि में आहुति दी जाती है। इस तरल आज्यद्रव्य की आहुति से घनमात्रावयवयुक्त पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है?"। इस प्रश्न का समाधान करते हुए आगे जाकर ब्राह्मणश्रुति ने उत्तर दिया है कि—"*घृत अवश्य तरल पदार्थ* है, परन्तु इसमें हिरण्यशकल (सुवर्णखण्ड) डालकर इस की आहुति दी जाती है, अतएव अस्थिमात्रयुक्त पुरुष उत्पन्न होता है"। इस प्रश्नोत्तर का रहस्य यही है कि घृत शुक्र है यह पार्थिवद्रव्य है साथ ही में तरल है। परन्तु इस पार्थिव तरल शुक्र में हिरण्यशकल-रूप घनता सम्पादक सौर हिरण्मय तेज प्रविष्ट रहता है। इसीलिये अस्थिभाग का निर्माण होता है। जिस प्रजा के शुक्र में सौरप्राण कम होता है उस की हड्डियें निर्बल रहती हैं। सौर सैवत्सर के जितने पर्व हैं पुरुष में उतनी ही हड्डियें हैं। एक एक पर्व से एक एक अस्थि का निर्माण होता है। *'सप्त च ह वै शतानि विंशतिश्च संवत्सरस्याहानि च रात्रयश्च (७२०), इत्येतावन्त एव पुरुषस्यास्थीनि च मज्जानश्च"* (ऐ० आ० पृ० ५।१५।)। यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् (*तथा भारतीय विद्वान् प्रमुख भी*) दांतों को हड्डी नहीं मानते परन्तु वैदिकसत्यविज्ञान के अनुसार दांत हड्डी का प्राथमिक रूप है। कहना यह है कि अस्थि निर्माण सौर तेज से होता है। उत्पन्न शिशु में एक वर्ष तक दांत पैदा नहीं होते। कारण इस का यही है कि एक वर्ष तक इसमें पार्थिवपूषा प्राण की ही प्रधानता रहती है। अतएव सौरप्राण प्रबल नहीं होने पाता, फलतः दांत उत्पन्न नहीं होते। वर्ष भर दांत उत्पन्न न होने का एकमात्र कारण पार्थिव पूषाप्राण की ही प्रधानता है। इसी आधार पर— *'तस्य दुस्तात्* परोक्षाय तस्माददन्तकः पूषा' (कौ० ६।१३) यह कहा जाता है।

श्रुति में पूषा शब्द की अनेकधा व्याप्ति देखी जाती है। सूर्य्य को भी पूषा कहा जाता है। वायु भी पूषा नाम से प्रसिद्ध है। पृथिवी को भी पूषा माना गया है। रेवती नक्षत्र

भी पूषा नाम से व्यवहृत होता है। पूष्णो हस्ताभ्यामाददे नारिसि(यजु ३८।२२) का पूषा शब्द रेवती नक्षत्र-का वाचक है। "सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम्"(साम २।६।१०) का पूषा शब्द पृथिवी का वाचक है। "पूष्णः पोषेण मह्यं दीर्घायुत्वाय शतशारदाय शतं शरद्भ्य आयुषे वर्चसे" (तैत्ति ब्रा १।२।१।१६) का पूषा शब्द सूर्य का वाचक है। "अयं वै पूषा योऽयं (वायुः) पवते, एष हीदं सर्वं पुष्यति–यदिदं किञ्च" (शत १४।२।१।९) का पूषा शब्द वायु का वाचक है। प्रकृतमन्त्र के 'पूषन्' शब्द से रेवती नक्षत्र को छोड़कर शेष तीनों (पृथिवी–वायु–सूर्य) पूषाओं का ग्रहण है। पृथिवी अग्निमयी है, अन्तरिक्ष वायुमय है, सूर्योपलक्षित द्युलोक आदित्यमय है। १२ आदित्यों में से एक पूषा नाम का आदित्य है। प्रकृत में सूर्य शब्द से इसी आदित्य विशेष का ग्रहण है। पार्थिव पूषा पूर्व कथनानुसार 'एकर्षि' है। रोदसी त्रैलोक्य के अन्तरिक्ष में रहने वाला आङ्गिरस वायुरूप पूषा 'यम' है। द्युलोकस्थ आदित्यरूप पूषा 'सूर्य' है। एकर्षि (पार्थिव पूषा), यम (आन्तरिक्ष्य पूषा), सूर्य (दिव्य पूषा) तीनों ही प्राजापत्य हैं, प्रजापति की सन्तान हैं। भूपिण्ड चित्याग्निमय है। इस में चितेनिधेय अग्निरूप नाम का पूषाग्नि प्रतिष्ठित है। केन्द्रस्थ यही पूषा पार्थिव प्रजापति है। इसी पार्थिव प्रजापति की एकर्षि–यम–सूर्य (आदित्य) यह तीन अवस्थाएं हो जाती हैं। पूर्वप्रदर्शित देवसत्य स्वरूप में महिमा पृथिवी में रहने वाले जिन अग्नि–वायु–आदित्य इन तीन देवताओं का दिग्दर्शन कराया गया है, वे यही तीनों हैं। त्रिवृत्स्तोम तक अग्निप्रधान एकर्षि प्राजापत्य पञ्चदशस्तोम तक वायुप्रधान यम प्राजापत्य,एवं एकविंशस्तोम पर्यन्त आदित्य प्रधान सूर्य प्राजापत्य प्रतिष्ठित है। एक ही मूलप्रजापति की यह तीन दशावस्थाएं हैं। अग्नि–वायु–आदित्य तीनों एक ही पार्थिव अग्नि के विवर्त हैं, अतएव तीनों के लिए (समष्टि दृष्टि से) श्रुति में पहिले 'पूषन्' यह कहा है। एवं आगे जाकर इसके व्यष्टिरूप प्राजापत्य भावों का दिग्दर्शन कराते हुए—"एकर्षे! यम! सूर्य! प्राजापत्य" यह कहा है।

सूर्य में ज्योति, गौ, आयु, यह तीन मनोता हैं। ज्योति इन्द्र है, हिरण्मयभाग है, यही देवभाग है। गौ भाग पशु है, यही पूषा है—"पशवो वै पूषा"। आयुर्भाग प्राण है, यही

वरुण है। सूर्य में पानी है, ज्योति है, प्राण है, तीनों की समष्टि सूर्य है। प्राण, अनुप्राण, छन्द आदि प्राण हैं। सूर्य तेजमय है, इस लिए यह इन्द्र है। आपोमय है, इस लिए वरुण है। प्राणमय है, इस लिए 'पूषा' है। इन तीनों में पूषाभाग तेजमय (ज्योति–हिरण्मयपात्र–मण्डल) का विरोधी है। पृथिवी से सूर्य तक यह एक ही पूषाप्राण व्याप्त होरहा है। पृथिवीयुक्त पूषा एकर्षि है, अन्तरिक्षयुक्त पूषा यम है एवं दिव्यलोकस्थ पूषा सूर्य है। जहां एकर्षिप्राण (पार्थिव तमोमय छायारूप पूषाप्राण) रहता है, वहां ऐन्द्र ज्योतिर्भाग नहीं रहता। बस इसी एकर्षि पार्थिव पूषाप्राण को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—हे पूषा! आप पृथिव्यवच्छेदेन एकर्षि हैं, अन्तरिक्षावच्छेदेन यम हैं। दिव्यलोकावच्छेदेन सूर्य हैं। आप महिमारूप से त्रैलोक्य में व्याप्त होकर, अपने प्रजापति (मूल–अव्यय'–रूप को प्राजापत्य (तूल–मर्त्य) रूपों में परिणत कर एकर्षि–यम–आदित्य भेद से तीन स्वरूपों में परिणत होरहे हैं। आप स्वयं (केन्द्रावच्छेदेन) प्रजापति हैं, एवं एकर्षि-यमादि आप के तीनों रूप आप के ही विवर्तभूत होते हुए प्राजापत्य हैं। ऐसे आप अपनी (कृष्ण) रश्मियों को फैलाइए! साथ ही में त्रैलोक्य में व्याप्त हिरण्मय सौर तेज का (सत्यधर्म के दर्शन के लिए) संहरण कीजिए, समेटिए! आप का जो कल्याणतम रूप है मैं उसे ही देखता हूं—(देखना चाहता हूं)। जो यह सौर हिरण्मय पुरुष है, वही मैं हूं।

तात्पर्य यह है कि त्रैलोक्य व्यापक पूषा में सत्यधर्म के अनुकूल–प्रतिकूल दो भाग हैं। पूषा में रहने वाला हिरण्मय (तेजरूप ज्योतिर्मय) –भाग सत्यधर्म के दर्शन का विरोधी है, कारण इस की सत्ता में आयुष्कृष्ण के दर्शन नहीं होसकते। एवं तमोमय निर्दर्शनलक्षण मूलभाग अनुकूल है क्योंकि इसी की सत्ता में आयुष्कृष्ण के दर्शन होते हैं। पूषा का यह पार्थिव तमोमयरूप ही सत्यधर्मदृष्टि में उपयोगी बनता हुआ हमारे लिए कल्याणतमरूप है। सत्यधर्मदर्शन में यही रूप अपेक्षित है। तमोमय मूलभाग पूषा का प्रातिस्विक रूप है। हिरण्मयभाग आगन्तुक है। यह हिरण्मय सौर भाग तो मेरा आत्मा है यह तो स्वयं प्रज्ञा है, उपासक है, उसे देख कर मेरा क्या काम होगा। यह तो स्वयं मैं हूं। मैं देखना चाहता हूं—उस उपा-

रूप कृष्णतत्व को, पूषावच्छिन्न कल्याणतमरूप को । इसी विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

यत्ते कल्याणतम रूप तत्ते पश्यामि ।
योऽसावसौ पुरुष (हिरण्मयः) सोऽहमस्मि"
(न त पश्यामि—स तु—अहमेवेति भावः) ।

पूर्व के सन्दर्भ का निष्कर्ष यही हुआ कि पार्थिव अग्निरूप भाग पूषा है । त्रिवृत्–पञ्चदश–एकविंश भेद से इसके एकर्षि–यम–सूर्य–यह तीन प्राणापत्य रूप हैं । पूषा पृथिवी है । इसके साथ अह (दिन) का भी सम्बन्ध है, रात्रि का भी सम्बन्ध है । अह सौर भाग है, यह चाक्षुषपुरुष का आवरक होने से अकल्याणरूप है । रात्रि का घोरतम भी आगन्तुक होता हुआ, अतएव चाक्षुषपुरुष का आवरक बनता हुआ अकल्याणरूप ही है । प्रातिस्विक छायाभाग ही इसका कल्याणतम रूप है । चाक्षुषपुरुष को न आप दिन में (धूप में) देख सकते, न रात्रि के अन्धकार में देख सकते । वह दीखता है–छाया में । सत्यधर्मदर्शन के लिए हमें पूषा के छायारूप इसी कल्याणतम रूप पर दृष्टि जमानी चाहिए, छायामय भूतप्रधान पूषादेवता की ही उपासना करनी चाहिए ।

मन्त्रार्थ के आरम्भ में हमनें– पूषन्नेकर्षे यम सूर्य०' इत्यादि मन्त्र को "पूषाप्राण का कौनसा रूप सत्यधर्म का साक्षात् करवाने में समर्थ है" इस प्रश्न का समाधान करने वाला बतलाया था । वास्तव में मन्त्र उक्त प्रश्न का ही प्रधान रूप से समाधान करता है । परन्तु केवल इसी अर्थ पर मन्त्र की व्याप्ति समाप्त नहीं होजाती । अपितु उक्तार्थ के साथ साथ ही यह मन्त्र वैश्वानर–तैजस–प्राज्ञरूप जीव देवसत्य का भी निरूपण करता है । पूषा को पिण्ड भूपिण्ड समझिए । इस पर प्रतिष्ठित त्रिवृत्स्थानीय अग्नि एकर्षि है,पञ्चदशस्थानीय वायु यम है, एकविंशस्थानीय आदित्य सूर्य है । एकर्षि अग्निप्रधान वैश्वानर का, यम वायुप्रधान हिरण्य गर्भ का, सूर्य इन्द्रप्रधान सर्वज्ञ का स्वरूप संपादक है । पार्थिव पूषा प्रजापतिरूप ब्रह्मसत्य है, जिसका निरूपण आगे के प्रकरण में होने वाला है । तीनों की समष्टि देवसत्य है, यही

प्राणात्मा है। अन्नाग्निमूलमय शरीर है। इस भौतिक पृथाभाग का यह देवसत्यस्वरूप अमृताग्नि ही कल्याणतम रूप है। सत्यधर्मरूप विज्ञान की उपासना के द्वारा मैं इसे ही देखना चाहता हूँ। पूषा का कल्याणतम अमृतरूप 'मैं' (भोक्ता-चेतसत्य) हूँ यह अमृत भाग उस ईश्वरीय अमृतपुरुष से अभिन्न है, मैं उसी का प्रत्यक्ष हूँ।

⎧ १–पृथिवी –प्राणात्म –अमृताग्नि –विराट्स्थानीय –अग्नि–वैश्वानर (वैश्वा॰) ⎫
⎨ २–यम –प्राणात्मा–अमृताग्नि –पञ्चदशस्थानीय –वायु –हिरण्यगर्भः (तैजस) ⎬ देवसत्यात्मा
⎩ ३–सूर्य* –प्राणात्म –अमृताग्नि –एकविंशस्थानीय–इन्द्र –सर्वज्ञ (प्राज्ञ) ⎭



वैश्वानर अग्नि–तैजस वायु–प्राज्ञ इन्द्र तीनों की समष्टि देवसत्यरूप जीवात्मा है। इसप्रकार यद्यपि 'अहं' भाव में अग्नि–वायु–इन्द्र तीनों प्रविष्ट हैं, तथापि हमारे में प्रधानता वायु की ही है। वायु ही हमारा वास्तविक आत्मा है। चिदाभास को ही जीवात्मा कहा जाता है। चित् का प्रतिबिम्ब ही चिदाभास है। इस चित् का प्रतिबिम्ब–'मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' के अनुसार महान् पर ही प्रतिष्ठित है। वायुरूप ही महद्ब्रह्म है। इस वायु की आप–वायु–सोम यह तीन अवस्थाएं हैं। महद्ब्रह्म की इन तीन अवस्थाओं के कारण ही यह महत् प्रतिबिम्ब पानी–हवा–सोम इन तीन ही स्थानों में प्रतिष्ठित होता है। अतएव जीवसर्ग आप्य जीव, वायव्य जीव, सौम्य जीव भेद से तीन ही भागों में विभक्त है। पानी में रहनें वाले मत्स्यादि जीव आप्य हैं। इन की चेतना का मूलाधार पानी ही है। यदि इन्हें हवा में रख दिया जाता है तो इन आप्य जीवों की चेतना उत्क्रान्त होजाती है। दूसरा विभाग वायव्य जीवों का है। पृथिवी पृष्ठ पर उत्पन्न होनें वाले जीव 'वायव्य' हैं। कृमि–कीट–पक्षि पशु–मनुष्य–इत्यादि सब वायव्य जीव हैं। बिना वायु के इन की जीवनसत्ता नहीं रह सकती। इन

१–यह त्रिस्तोम पर सूर्य है। ३३ पर तो पार्थिव अमृतेन्द्र है। इसी स्थानसमीनता को लक्ष्य में रखकर उक्त विवेद में इन्द्र के लिए सूर्य शब्द का प्रयोग कर दिया है।

वायव्य जीवों को यदि अधिक समय तक पानी में रक्खा जाय तो हमारी जीवनसत्ता उत्क्रान्त होजाय। तीसरा विभाग सौम्य जीवों का है। राक्षस-पिशाच-यक्ष-गन्धर्व-ऐन्द्र-पैत्र्य-प्राजापत्य-ब्राह्म भेदभिन्न अष्टविध सत्वविशालजीव सौम्य हैं। चान्द्रसोम ही इनकी चेतना का आधार है। उक्त जीवविभागों में से उपनिषदुपदेश हम वायव्य जीवों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। हमारी अध्यात्मसंस्था में वायु ही प्रधान है। वैश्वानर अपान सम्बन्धी है, प्राज्ञभाग प्राण सम्बन्धी है, मध्यस्थ वायुरूप तैजसभाग व्यान सम्बन्धी है। जब तक मध्यस्थ व्यान वायु स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रहता है, तभी तक जीवनसाधक प्राणरूप वैश्वानर-प्राज्ञ प्रतिष्ठित रहते हैं।

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन।
इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥१॥
ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति अपान प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं सर्वे देवा उपासते ॥२॥ [कठ ५।५—३।]

उक्त श्रुति के अनुसार मध्यस्थ व्यानवायुमय तैजस ही जीवनसत्ता का कारण है। बीच में बैठा हुआ यह तैजस वायु इस ओर से पार्थिव रस लेता है, उस ओर से दिव्यरस लेता है। पार्थिवभाग भयप्रधान होने से मर्त्य है, दिव्यभाग ज्ञानप्रधान होने से अमृत है। मध्यस्थ वायु इधर अनुगत बनता हुआ मर्त्यभावापन्न है उधर अनुगत रहता हुआ अमृतभावापन्न है। पार्थिवरस 'इरा' नाम से प्रसिद्ध है। महर्षि ऐतरेय ने इस पार्थिव इरा रस के सम्बन्ध से ही प्रज्ञानपुरुष को 'इरामय' बतलाते हुए परोक्षभाव से इसे हिरण्मय कहा है। विज्ञानपुरुष भी हिरण्मय है, प्रज्ञानपुरुष भी हिरण्मय है। दोनों ही हिरण्मय हैं, केवल स्वरूप में अन्तर है। विज्ञानपुरुष हिरण्य (अग्नि) मय होने से हिरण्मय है, एवं प्रज्ञानपुरुष इरामय [पार्थिवान्नरसमय] होने से हिरण्मय है। (देखिए ऐ० आरण्यक २।७।)। इस निदर्शन से प्रकृत में हमें यही कहना है कि पार्थिव अन्न भौतिक रस 'इरा' कहलाता है। सारा भयप्रपञ्च पार्थिव इरामय वैश्वानर से सम्बन्ध रखता है। भूतप्रधान होता हुआ यह बन्धन का कारण बनता हुआ मृत्यु

मय है। जिस पुरुष का वायुमय आत्मा पार्थिव मर्त्य इरा की ओर [पार्थिव सम्पत्ति की ओर] झुक जाता है, उसका वह वायुरूप आत्मा इराप्रधान बनता हुआ मृत्युरूप बन जाता है। जब तक पार्थिव इराचित्त में आसक्ति है, तब तक अमृतत्व का अभाव है। 'नामृतत्वस्य तु माशास्ति वित्तेन'। यदि वायुमय आत्मा पार्थिव इरारस की आसक्ति छोड़कर ब्रह्ममूर्ति प्राण का आश्रय लेता हुआ 'अनिर' (इरा रहित) बन जाता है तो अमृतप्राण की प्रधानता से यह भी अमृतरूप बन जाता है—'ज्ञाना मुक्तिः'। "दैवसत्य ही जीवात्मा है। उसमें प्रथम मध्यस्थ तैजस वायु है। यदि आप आत्मकल्याण चाहते हैं तो अपने इस वायुप्रधान आत्मा को 'अनिर' बनाइए, पार्थिव सम्पत्ति से आसक्ति करना छोड़िए। अनासक्ति—योगरूप बुद्धियोग द्वारा जब आपका वायुभाग अनिर बन जायगा तो विश्वास कीजिए, मर्त्यभाव से पृथक् होता हुआ वह उसी समय—'अमृत' बन जायगा। इसी रहस्य का निरूपण करते हुए आगे जाकर ऋषि कहते हैं—

"वायुरनिलममृतम् ।
॥"

(ई० उ० १७ म०)।

(यदा वायुः (मध्यस्थस्तैजसात्मा) अनिलो—(अनिरो—पार्थिवरसासक्तिविरहितो) भवति—अथ स आत्मा अमृतभावयुक्तो भवति)—

पार्थिव भाग इरा है, इस से भौतिक शरीर बनता है, यही भूतरूपा भूतचिति है। आन्तरिक्ष भाग वायु है, यही प्राण बनता है यही आत्मचिति है। दिव्य भाग इन्द्र है, इस से मन बनता है, यही देवचिति है। इस प्रकार त्रैलोक्य के तीनों वित्तों से अध्यात्म के उक्त तीनों वित्तों का निर्माण होता है। दिव्यलोक मनोमय है, अन्तरिक्षलोक प्राणमय है पृथिवीलोक वाङ्मय है—(देखिए शतपथब्राह्मण——)। शरीर मर्त्य है, मन अमृत है। प्राणवायु दोनों के मध्य में है। यदि यह इरा है तो मृत्युभावापन्न है, अनिर है तो अमृत है।

१—शरीरम्—वाक्—पार्थिवधातु——अग्नि (मृत्यु)—क्षरमय (वायुर्मृत्युमय)

२—श्रोत्र—प्राण—आन्तरिक्ष्य वसम्—वायु

३—मन—मन—दिव्य ज्ञानम्——इन्द्र (अमृतम्)—हिरण्मय (वायुरनिलममृतम्)



इस प्रकार हमारा यह प्राणात्माधिकरण देवसत्य से अलनाभूत वायुरूपपुरुष की उपासना का उपाय बतलाता हुआ, देवसत्य का निरूपण करता हुआ, सशरीर में उसे वायुप्रधान बतलाता हुआ, साथ ही में आत्मा के अमृतभाव के लिए पार्थिव विषयों में अनासक्ति रखने का आदेश देता हुआ समाप्त होता है।

इति—प्राणात्माधिकरणम्



भाक्तात्माधिकरणे

प्राणात्माधिकरणं

समाप्तम्

५



पूर्णमदः →→——→ पूर्णमिदम्
६—भू →→——→ ६—शरीरम्
अधिदैवतम् →→——→ अध्यात्मम्

भूतवैभव

ब्रह्मसत्यान्तर —

वीज-दैवत-भूतमयः प्राकृतात्मा भूः

शरीरम्

६

भू ←——←←←**मर्त्याग्निरादः**→→→——→शरीरम्

(प्राकृतात्माधिकरणे *शरीरात्माधिकरणम्*)

यज्ञमात्रिकवेदावच्छिन्न -वीज—देव—भूतमयात्मा

विश्वात्मा

१— अथेद भस्मान्त शरीरम् ।

ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृत स्मर ॥

(ईशोपनिषत् १७ मन्त्र) ।





शरीरात्मस्वरूपनिदर्शन

१–पञ्चात्मकं पञ्चसु वर्तमानं षडाश्रयं षड्गुणयोगयुक्तम्।

तं सप्तधातुं त्रिमलं द्वियोनिं चतुर्विधाहारमयं **शरीरम्** ॥

(गर्भोपनिषत्)।

२–ख-वायु-र्ज्योति-रापश्च-**पृथिवी** विश्वस्य धारिणी ॥

(कैवल्योपनिषत्)।

३–भस्मनिष्ठस्य दह्यन्ते दोषा भस्माग्निसङ्गमात्।

भस्मस्नानविशुद्धात्मा भस्मनिष्ठ इति स्मृतः ॥

(बृहज्जाबालोपनिषत्)

४–अथ यदेतेषां सप्तानां पुरुषाणां श्रीः, यो, रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तदस्य शिरोऽभवत्। यच्छ्रियं समुदौहन्, तस्माच्छिरः। तस्मिन्नेतस्मिन् प्राणा अश्रयन्त, तस्मादेवैतच्छिरः। अथ यत् सर्वस्मिन्नश्रयन्त, तस्मादु **शरीरम्** ॥

(शत ६ का० ६ कां।१ प्र।१ ब्रा।४ क.)।

५–"आत्मा वै तनूः" (शत० ६।७।२।६।)।

६–"आत्मनो ह्येवाङ्गानि प्ररोहन्ति" (शत० ८।७।२।१५)।

७–"षाड्ढ इतर आत्मा (शरीरं) लोम–त्वक्–मांस–मस्थि–मज्जा" (तां ब्रा ५।१।४)।

८–"षडङ्गोऽयमात्मा (शरी) षड्विध" (कौ० ब्रा० २०।३)।

९–"तस्मादितर आत्मा (शरीरं) मेद्यति च कृश्यति च"। (तां ब्रा ५।१।७)।

१०–"भूम्नेऽएषोऽङ्गानां यदात्मा (शरीरम्)" (शत ६।६।१।१०)।

११–'तस्मादस्य सर्व एवात्मा (शरीर) उष्णः (अभिमयः)।
तद्वैतदेव जीविष्यतश्च मरिष्यतश्च विज्ञानम्।
उष्ण एव जीविष्यन्, शीतो मरिष्यन्" (शत० ८।७।४।११)।

१२–"तद् सर्व आत्मा (शरीर) वाचमप्येति, वाङ्मयो भवति" (कौ० ब्रा० २।७)।

१३–"मध्यो ह्यात्मा (शरीरम्)" (शत० ६।६।२।१५)।

१४–"सप्तपुरुषो ह्ययं पुरुषः [शरीर] यच्चत्वार आत्मा,
त्रयः पक्षपुच्छानि" (शत० ६।१।१।६)।

१५–"आत्मा [शरीर] एव–उखा" (शत० ६।५।३।८)।

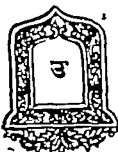




॥ श्री ॥

महाभूतानि सत्त्वानि सप्तानि क्रमेण च ।
सप्तधातुमयो देहो दग्धो योगाग्निना शनैः ॥१॥
यथाकाशस्तथा देहः आकाशादपि निर्मलः ।
सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरो दृश्यः स्थूलात् स्थूलो जडात्मकः ॥२॥
घृतमिव पयसि निगूढं भूते भूते च वसति विज्ञानम् ।
सततं मन्थयितव्यं मनसा मन्थानभूतेन ॥३॥





पनिषद् का वक्तव्य विषय प्राय समाप्त है। आत्मदृष्टि की अपेक्षा से अध्यात्मसंस्था में जो तात्त्विक भाव थे, उनका क्रमिक निरूपण कर उपनिषदर्थ गतार्थ है। जो संसारी उक्त आत्मविवर्तों को न पहिचान कर केवल शरीर की आराधना में ही निमग्न रहते हुए भोग-ऐश्वर्यों में तल्लीन रहते हैं, जिन यथाजात मूढ मनुष्यों के जीवन का एकमात्र उद्देश्य शरीर परिपालन ही है, जिन्होंने—"खाना-पीना मौज़ उड़ाना" (eat drink and be marry) इसी सिद्धान्त को अपने जीवन का परम पुरुषार्थ मान रक्खा है, उन का वह प्रियतम शरीर एक दिन भस्मसात् (राख की ढेरी) होने वाला है। यदि उन्होंने इसी शरीर में प्रतिष्ठित उक्त आत्मसंस्थाओं को न पहिचाना तो अन्त में शरीर तो एक दिन मिट्टी में मिल ही जायगा, साथ ही में वह यथाजात इस जन्म-मृत्युपरम्परालक्षण दुःखार्णव से भी कभी छुटकारा न पासकेंगे। अमृतात्मा निकल गया, रह गया भस्मान्त शरीर।

विश्वास करो जो शरीर एक दिन भस्म बनने वाला है, इसी भस्मान्त शरीर में अमृतात्मा से अनुप्राणित कर्मात्मा प्रतिष्ठित है। उसके स्वरूप को पहिचानो। कर्मात्मा द्वारा प्रज्ञानात्मा [अन्तर्मन] पर, प्रज्ञानद्वारा विज्ञानात्मा [बुद्धि] पर, विज्ञानद्वारा महानात्मा पर, महान् द्वारा

अव्यक्त नाम से प्रसिद्ध शान्तात्मा पर पहुँचते हुए, पराकाष्ठा रूप उस पुरुष तत्त्व को प्राप्त कर अपना जन्म, एवं जीवन सफल करलो। इस दुर्लभ मानव शरीर को पाकर भी यदि तुमने अपना जन्म एवं जीवन, निरर्थक ही गमा दिया तो तुमने अपना सबसे बड़ा अनिष्ट कर लिया। यही शरीर आत्मदृष्टि से तुम्हारे उद्धार का साधन है, यही शरीर तुम्हारे सर्वनाश का कारण है। इसी भाव का बड़े सुन्दर शब्दों में दिग्दर्शन कराती हुई श्रुति कहती है —

१—इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति, न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥ (केनोपनिषद् २।१३)।

२—अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः।
देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ (कठोप० ५।४।)।

३—इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ (कठ० ६।४)।

जिस प्रकार महाविश्व उस विश्वव्यापक ईश्वर का शरीर है एवमेव हमारे जीवात्मा का यह भौतिक शरीर हमारा पिण्ड है। ईश्वरतत्त्व शरीरापेक्षया ८४ अंगुल का है, इधर जीवतत्त्व भी अपने पिण्ड की अपेक्षा से ८४ अंगुल का ही है। दोनों का आकार समान है, तभी तो "पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (मनुष्य ईश्वर के बहुत समीप है, ईश्वर से मिलता जुलता है—(शत० २।५।१।१) यह श्रुति चरितार्थ होती है। ईश्वर और पुरुष ही क्या, प्रत्येक प्राणी का शरीर अपने अंगुल के परिमाण से ८४ अंगुल का ही होता है। एक ६ महीने का बच्चा भी ८४ अंगुल का ही है, एक युवा भी ८४ अंगुल का ही है। कारण इस का यही है कि आत्मसृष्टि का मूल स्तम्भ अष्टाक्षर गायत्री छन्द माना गया है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है—(देखिए ई० उ० वि० भा० महानात्माधिकरण पृ० सं० २१० से २११ पर्यन्त)। "अष्टाक्षरा वै गायत्री" इस सिद्धान्त के अनुसार गायत्री को आठ अक्षर का छन्द माना गया है। प्राणतत्त्व का ही नाम अक्षर है। एवं "प्रादेशमितः प्राणः" (ऐ० आ० १।२।४) के

अनुसार प्राणतत्व प्रादेश परिमित स्थान में अपनी व्याप्ति रखता है। अंगुष्ठ और तर्जनी को फैला दीजिए। इन दोनों के मध्य का जितना प्रदेश होगा, वही प्रादेश कहलावेगा। यह अंगुली-परिमाण की अपेक्षा से १०॥ अंगुलमित होगा, जैसा कि- 'मत्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्'' इत्यादि से स्पष्ट है। निष्कर्ष यह हुआ कि प्रत्येक प्राण की व्याप्ति १०॥ अंगुलावच्छिन्न प्रदेश में रहती है। गायत्री में ऐसे आठ प्राण किंवा आठ अक्षर हैं। फलतः पूरे गायत्री छन्द की व्याप्ति ८४ अंगुलमयी बन जाती है। ब्रह्मरन्ध्र से कण्ठ तक एक प्रादेश है। कण्ठ से हृदय तक दूसरा प्रादेश है। हृदय से नाभि तक तीसरा प्रादेश है। नाभि से ब्रह्मग्रन्थि (गुदस्थान) पर्य्यन्त चौथा प्रादेश है। ब्रह्मग्रन्थि से गोडों की कपाली तक दो प्रादेश हैं। यहां से पाद पर्य्यन्त दो प्रादेश हैं। सम्भूय आठ प्रादेश हो जाते हैं। इस प्रकार आठ प्रादेशों से शरीर चौरासी अंगुल का होजाता है। इन आठों प्रादेशों में क्रमशः सत्य, तप, जनत्, महः, स्व भुवः, पृथिवी, भूः इन आठ पर्वों का उपभोग है। ईश्वर शरीर सप्तवितस्तिकाय नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि—''सप्तेष्टिकापदपन्सप्तवितस्तिकायः'' (भागवत) इत्यादि पुराण-सिद्धान्त से स्पष्ट है।। अंगुष्ठ से कनिष्ठिका अंगुली पर्य्यन्त जो वितत प्रदेश है, उसे ही वितस्ति (बिलांत) कहा जाता है। यह प्रदेश १२ अंगुल मित है। ईश्वर शरीर में भूः—भुवः-स्व —महः—जनत्—तप —सत्यम्—यह सप्तलोकात्मिका सात वितस्तिए हैं। सम्भूय विश्वात्मक ईश्वर शरीर भी चौरासी अंगुल का ही हो जाता है—(१२+७—८४)। जैसी स्थिति इस आध्यात्मिक पुरुष की है, ठीक वही स्थिति उस आधिदैविक पुरुष की है। केवल मध्यस्थ आधिभौतिक प्रपञ्च ने दोनों में भेद उपस्थित कर रक्खा है। देखिए।

योऽध्यात्मिकोऽयं पुरुषः सोऽसावेवाधिदैविकः।
यस्तत्रोभयविच्छेदः पुरुषो ह्याधिभौतिकः॥

[श्रीमद्भागवत द्वि० स्क० १० अ० ८ श्लो०]

ईश्वर के उक्त सात पर्वों मे आठ पर्व होजाते हैं। सातवें, किंवा पहिले भूपर्व के भूः—पृथिवी दो विभाग हैं, जैसा कि पूर्व के मायात्माधिकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

यह आठों ही पर्व—'यदेतद् वै मण्डलं तपति...' 'अग्रे ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्' इस सिद्धान्त के अनुसार अमृत–मर्त्य भेद से दो दो भागों में विभक्त हैं। इन अमृत भागों की समष्टि आत्मसत्ता है, इन मर्त्य भागों की समष्टि विश्वसत्ता है। विश्व रूपप्रधान है, आत्मा कर्मपर्वभित कर्मप्रधान है। कर मूलमात्र है, मूत ही मूर्ति है, मूर्ति ही भस्म है, यही भस्मान्त विश्व है। ठीक यही क्रम अध्यात्म में है। अविरेकत की अमृतमयी आत्मसत्ता से अध्यात्मसंस्थाओं का उदय होता है, एवं विश्वसत्ता से शरीर का स्वरूप निष्पन्न होता है। विश्व का क्या स्वरूप है? एवं विश्वांशभूत शरीर का क्या स्वरूप है? इन सब विषयों का विशद निरूपण ईशभाष्य के प्रथमखण्ड में किया जाचुका है—(देखिए ई० उ० प्र० ख० विश्वनिरुक्ति १४७ से १८० पृष्ठपर्यन्त)। अतः यहां पिष्टपेषण की कोई आवश्यकता नहीं है। प्रकृत में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि हमारे शरीर का निर्माण यद्यपि भूपिण्ड से हुआ है, परन्तु भूपिण्ड पञ्चात्मक, किंवा सप्त लोकात्मक है। अतः तदुत्पन्न शरीर में भी विश्व के सभी भौतिक प्रत्ययों का समावेश सिद्ध होजाता है। आपाद–मस्तक शरीर भौतिक है। इसमें उक्त आठों पर्वों का भोग होरहा है, जैसा कि आगे के परिलेख से स्पष्ट होजायगा।

उक्त शरीरसंस्था का निरूपण करता हुआ ही निम्न लिखित मन्त्र हमारे सामने आता है—

अथेदं भस्मान्तं शरीरम् ।
ओं क्रतो स्मर, कृतं स्मर, क्रतो स्मर, कृतं स्मर ॥

(ई० उ० १७ मन्त्र)।

'अथेदं भस्मान्तं शरीरम्' इस वाक्य से उपनिषत् को यही बतलाना है कि मन का वायुरूप आत्मा अनिल (अनिर) बनता हुआ अमृतभाव को प्राप्त होजाता है, परन्तु शरीर भस्मीभूत बनकर यहीं रह जाता है। इस प्रकार यह ईशोपनिषत् उपक्रमस्थानीय षोडशी पुरुष से आरम्भ कर उपसंहार स्वरूप शरीरपर्यन्त सम्पूर्ण आत्मविभागों का स्वरूप से निरूपण करती हुई अपने—"सर्वोपनिषत्" "पूर्णोपनिषत्" इत्यादि नामों को चरितार्थ कर रही है।

उपनिषदादेश समाप्त हुआ। ईश्वर-एवं जीव दोनों का स्वरूप हमारे सामनें रखकर अन्त में उपनिषत् हमें आदेश करती है कि 'यदि तुम ज्ञानकर्ममय पूर्वोक्त आत्मस्वरूप का यथार्थ स्वरूप जानना चाहते हो तो क्रतु का स्मरण करो एवं कृत का स्मरण करो! अध्यवसायवृत्ति क्रतु है। 'अहमिदं करिष्यामि' (मैं यह करूंगा) इस मानसवृत्ति का नाम ही क्रतु है। इस क्रतु की सफलता 'दक्ष' है। कार्यसिद्धि दक्षभाव है, तदर्थ होनें वाला सङ्कल्प (इरादा) क्रतुभाव है। पहिले क्रतु होता है, अनन्तर तत्स्वरूप दक्षभाव का उदय होता है। प्रत्येक कर्म में क्रतु-दक्ष (क्रतु-कृत) दोनों भाव निविष्ट हैं। मनोयुक्त प्राणव्यापार क्रतु है, वाग्व्यापार कृत है, दोनों का आलम्बन मन है। मन से कामना का उदय होता है, तदनु क्रम प्राणव्यापार हो पड़ता है, तदनन्तर वाग्व्यापार होता है, कर्म सिद्ध होजाता है। प्राणव्यापार कामनामय है, अतएव क्रतु को मानस व्यापार भी मान लिया जाता है, जैसा कि-श्रुति कहती है-

"स यदेव मनसा कामयते-इदं मे स्यात्, इदं कुर्वीय-इति, स एव क्रतुः।"
(शत० ४।१।४।१)।

"इत्सु ह्यय क्रतुर्मनोमयः प्रविष्ट" (शत० ३।१।४।७)।

इरादा क्रतु है, इरादे से जो कम किया जाता है वह कृत है। जो मनुष्य अपने क्रतु और कृत पर पूर्ण दृष्टि रखता है, वही आत्मबोध में समर्थ होता है। लौकिक विषय-सम्बन्धी क्रतु और कृत आसक्ति के कारण हैं, आत्मानुग्राहक क्रतु एवं कृत अनासक्ति के कारण हैं। 'क्या इरादा था, क्या किया' इस प्रकार प्रत्येक कर्म में दोनों पर दृष्टि रक्खो। इस से सदसद्विवेक होगा, अच्छे बुरे की पहिचान होगी। फलतः सत्कार्य में प्रवृत्ति होगी, असत् कर्मों से निवृत्ति होगी। आत्मबोध के लिए प्रत्येक दशा में-'हमारा* क्या इरादा था, हमनें क्या करडाला'

---

* किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति संचिन्त्य मेधावी सततं कर्म्म समाचरेत्॥

इस विचारधारा को लक्ष्य में रक्खो ! इस विचारधारा से कालान्तर में तुम्हें यथार्थ परिस्थिति का ज्ञान होजायगा । आत्मज्ञान के लिए क्रतु और कृत के स्मरण से अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है ।

यदि च तुमनें आत्मोपनिषत् सुनी, आत्मा का शब्दद्वारा (शास्त्रद्वारा) यहें परिज्ञान हुआ। परन्तु यह शाब्दिक ज्ञान तब तक सर्वथा निरर्थक है, जब तक कि तुम तदनुकूल क्रतु-और कृत का आश्रय न लो। "आत्मा नित्य है, हम और यह अभिन्न हैं, हम साक्षात् ब्रह्म हैं" इस प्रकार केवल मुख से शब्द कह देनें से ही आत्मबोध नहीं हुआ करता। आत्मबोध के लिए यहां आत्मस्वरूप श्रवण आवश्यक है, तथैव (श्रवणानन्तर) मनन-निदिध्यासन भी आवश्यक हैं। "आत्मारे वार्य द्रष्टव्यः-(कथ द्रष्टव्यः) ? श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः"। सुनो, मनन करो, तदनुरूप में रत करो तभी आत्मसाक्षात्कार होगा। मन्तव्यः-क्रतुभाव है, निदिध्यासितव्यः-कृतभाव है। श्रवणानुकूल सङ्कल्प रक्खो, सङ्कल्पानुकूल आत्मोपयोगी निष्काम कर्म करो, यही आत्मबोध के मुख्याधार हैं-"क्रतो स्मर-कृत स्मर"। "अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते' के अनुसार पुनरुक्ति दृढ़ता के लिए है। साथ ही में यहीं उपनिषत् समाप्त है, इस समाप्ति सूचना के लिए भी द्विरुक्ति है। "क्रतु का स्मरण करो, कृत को स्मरण में रक्खो" यही अभ्यास का अभ्यन्तम मार्ग है।

इति शरीरात्माधिकरणम् ।



६

उभयो सत्यात्मनोरभिना-ऐकात्म्यम्

स्वयम्भू-परमेष्ठी-सूर्य-चन्द्रमा-पृथिवी यह पांच ईश्वरीय ब्रह्मसत्य हैं, अव्यक्त-महान्-विज्ञान प्रज्ञान-शरीर यह पांच जीव ब्रह्मसत्य हैं। सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-वैश्वानर

मूल श्रुत है । इन वसुओं का आनन्द दाता (स्वरूपसंपादन करने वाला), अतएव 'आत्मवेदा'

नाम से प्रसिद्ध अग्नि ही है । इसी वयुनवित् विश्वमूर्ति अग्नि का स्वरूप बतलाते हुए श्रुति कहती है—

[1]हे अग्ने ! आप सुपथ (आत्मसम्पत्ति-एवं विश्वसम्पत्ति) के लिए हमें अच्छे मार्ग से ले चलिए । क्योंकि संसार की वयुनरूप जितनी भी सम्पत्ति है, आप ही उस सबके अध्यक्ष ज्ञाता हैं । हमारे आत्मा को कुटिल बनाने वाला [असन्मार्ग में ले जाने वाला] जो पाप्मा है, उसे हमसे पृथक् कीजिए । हे अग्ने ! हम आपके लिए बार बार नमः वाक् का उच्चारण करते हैं—[आपके अन्न बनते हैं] "। स्वाहा—स्वधा—स्वगा—वौषट्—श्रौषट्—नमः आदि भेद से अन्न के कई भेद हैं । इनमें मनुष्यरूप अन्न 'नमः' है । 'हम आपको नमस्कार करते हैं' इसका तात्पर्य यही है कि हम आपके भोग्य (अन्न) बनते हैं । अग्नि अन्नाद है । अन्न इसकी प्रसन्नता का कारण है । आज हम स्वयं 'नमः' बोलते हुए इस अग्नि के अन्न, रूप अन्न बन रहे हैं । इस प्रकार प्रज्ञानसत्त्व-देवसत्तात्मभूत वयुनाधिष्ठाता, सन्मार्गप्रवर्तक इसी अग्निदेव को भूयः भूयः नमस्कार करते हुए यह उपनिषत् समाप्त होती है ।

ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

इति वाजसनेयोपनिषत् विज्ञानभाष्यं सम्पूर्णम् ।

——

उपनिषत्–निष्कर्ष

सत्त्वविवेक के अभाव से मनुष्य अपना स्वरूप भूलता हुआ यावज्जीवन फलाशापूर्वक भोगों में ही प्रवृत्त रहता है।

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते" (गीता० २।४४)

इस स्मार्त उपनिषत् के अनुसार जो व्यक्ति भोगैश्वर्य का वास्तविक रहस्य न समझते हुए फलमना पूर्वक इनमें अहोरात्र प्रवृत्त रहते हैं, दूसरे शब्दों में जिनके जीवन का परम लक्ष्य एक मात्र सांसारिक भोग–वैभव ही हैं उन अविवेकी मनुष्यों का भोगप्रसक्त मन चंचल रहता है। मन के साथ बुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में सोमलसमय मन पर प्रतिबिम्बरूप से बुद्धि प्रतिष्ठित है। जिस प्रकार वायु के आघात से समुद्र से पार खेजाने वाली नौका डगमगा जाती है–(वायुर्नावमिवाम्भसि–गीता), अथवा जिस तरह पानी के हिल जाने से तत्प्रतिष्ठ सूर्यप्रतिबिम्ब हिल पड़ता है, ठीक इसी तरह कामासक्तिस्थानीय वायु के आघात से चंचल बना हुआ समुद्र, किंवा अप्स्थानीय मन तत्प्रतिष्ठ नौकास्थानीय बुद्धि को चंचल बना देता है। बुद्धि के साथ महान्' नाम से प्रसिद्ध 'चित्त' की स्वाभाविक स्थिरता मारी जाती है। चित्त का सत्वभाव उत्क्रान्त होजाता है, रजोमिश्रित तमोभाव बुद्धि और मन पर आक्रमण कर लेता है। ऐसी मलिन बुद्धि कभी आत्मशान्तिलक्षणा समाधि में प्रतिष्ठित नहीं रह सकती। भले ही ऐसा संसारी कहने भर को अपने आप को सुखी समझता रहे, परन्तु यदि इस से शपथ पुरस्सर पूछा जाय तो इसे वही उत्तर देना पड़ेगा, जो कि उद्गार कामकामी महाराज ययाति के मुख से निकले थे। पुरु द्वारा प्राप्त युवावस्था से भी जब ययाति की तृप्ति न हुई तो खिन्न होकर अन्त में, उन्हें कहना पड़ा–

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते ॥

इस प्रकार अविवेक के द्वारा दुःखार्णव में निमग्न प्राणियों के समुद्धार के लिए ही ईशोपनिषद् प्रवृत्त हुई है। उपनिषद् का तात्पर्य केवल यही है कि "तुम ईशदृष्टि से मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त रहते हुए निष्कामबुद्धि से यावज्जीवन कर्म्म करते रहो"। निष्कामभाव से कर्म्म करते करते कालान्तर में तुम्हारा मन अनासक्त बन जायगा, प्रज्ञा स्थिर होजायगी, मन की स्थिरता से बुद्धि स्थिर होजायगी। बुद्धि की स्थिरता से चित्तप्रसाद होगा—'प्रसादे सर्व दुःखानां हानिरस्योपजायते'। प्रकृत उपनिषद् में निम्न लिखित ६ वाक्यों पर ही दृष्टि रखनी चाहिए—

१—तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा !

२—मा गृध कस्यस्विद्धनम् !

३—कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेत् !

४—योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽहम् !

५—क्रतो स्मर, कृत स्मर !

६—अग्ने नय सुपथा राये !

—०—

१—ईश से छोड़े हुए भाग का (ही) भोग करो !

२—किसी की सम्पत्ति पर नियत मत बिगाड़ो !

३—काम करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो !

४—जो आदित्य में आत्मा है, वही तुम हो !

५—अपने इरादे को लक्ष्य में रक्खो, जो कर चुके हो उसे लक्ष्य में रक्खो !

६—साथ ही में अपने बल (अभिवित्त) का ठीक मार्ग में उपयोग करो !

—— (०) ——

१– तुम्हें अपने जीवन में जो कुछ भोग मिलने वाला है, वह उस अन्तर्यामी की प्रेरणा से (तुम्हारे ही सञ्चित कर्मों के अनुसार) पहिले से ही नियत है । 'जात्यायुर्भोगाः' इस सिद्धान्त के अनुसार तुम्हारी जाति (योनि) आयु और भोग तीनों पहिले से ही नियत हैं । तुम्हें जो कुछ मिलने वाला है वह तुम्हारा भागधेय (हिस्सा) है, उसे दूसरा नहीं छीन सकता , साथ ही में तुम दूसरे का ले भी नहीं सकते । मिलने वाला मिल ही जायगा, न मिलने वाला नहीं ही मिलेगा । विश्वास करो ! भोजन तुम्हारे जीवन के लिए है, जीवन भोजन के लिए नहीं है । भोजन को जीवन का दास समझो, जीवन को भोजन का गुलाम मत बनाओ ! व्यसनों के दास मत बनो, व्यसनों को अपना दास बनाओ ! खाने के लिए जीवित मत रहो, जीवित रहने के लिए खाओ ! भोजन की दासता में तुम स्वयं संसार के भोजन बन जाओगे, एवं भोजन को अपना दास बनालेने से संसार तुम्हारा भोग्य बन जायगा । यदि ऐसा नहीं करोगे तो—



२– तुम्हारी जिह्वा तुम्हारी पराकाष्ठा तुम्हारी वाञ्छा तुम्हारे आत्मा को गिरा देगी । तुम्हें अन्न की दासता में आत्मसमर्पण करना पड़ेगा कौड़ियों के लिए हीरों की भी बाजी लगानी पड़ेगी , धनलाभ के लिए सब कुछ त्यागना पड़ेगा , धन की दासता में तुम्हें परमुखापेक्षी बनना पड़ेगा दूसरों की झिड़कियां सहनी पड़ेंगी । सोचो ! (मन का व्यापार करो) विचारो (बुद्धि से काम लो) ! सोच समझकर कर्तव्याकर्तव्य का आश्रय लो । तुम क्यों दूसरों की सम्पत्ति में ईर्ष्या करते हो । क्या तुम मनुष्य नहीं हो ? क्या तुम्हारे पास बुद्धिबल नहीं है ? क्या तुम उस सर्वशक्तिमान् के अंश नहीं हो ? हा ! घोर आश्चर्य है ! तुमने अपने अज्ञान (आत्मविस्मृति) से अपना निजस्वरूप भुला रक्खा है । उठो ! जागो !! वेदपुरुष व प्रण कर के आगे बढ़ो यह ... यह तुम्हारा धन है । तुम्हें किस का डर है तुम्हारे पास क्या कमी है । जानते हो आज यह सब तुम्हारे ऊपर अनुग्रह करेंगे ! बस

तुम्हें आत्मबल (Will Power) मिलेगा ? कब तुम्हारी गर्दा छूटेगी ? कब तुम भोगों के पञ्जे से छूटोगे ? नहीं तो सुनो !



१– जो मनुष्य फल को अपने अधिकार से बाहर की वस्तु समझता हुआ अनन्यभाव से केवल कर्म्म में प्रवृत्त रहता है, विश्व की विभूति उस के चरणों में लोट्य करती है। फल को तुम उत्पन्न नहीं करते, फल उत्पन्न होता है तुम्हारे कर्म्म से। तुम कर्म्मदशा में ही जब फल की गवेषणा करने लगते हो तो परिणाम इस का यह होता है कि तुम्हारा मन दोनों तरफ बट जाता है, अनन्यता जाती रहती है। कर्म्मसिद्धि में जितना बल अपेक्षित है, वह बट जाता है, कर्म्म अपूर्ण रह जाता है। फलत पूर्ण कर्म्म से सम्बन्ध रखने वाले पूर्णफल का उदय नहीं होता। इस प्रकार कर्म्मप्रवृत्तिकाल में फल की आशा रखते हुए तुम स्वयं ही फलनाश के कारण बन जाते हो। यही नहीं, फलाशासंस्कार से तुम्हारा मन क्लिष्ट होजाता है, स्पृहा बढ़ जाती है। यदि तुम स्पृहा हटाना चाहते हो निष्काम बनना चाहते हो तो कर्म्मप्रवृत्तिकाल में सर्वथा अनभिहित फलाशा का परित्याग करते हुए शास्त्रसिद्ध चातुर्वर्ण्यधर्म्ममूलक कर्म्मों में निष्कामबुद्धि से प्रवृत्त रहो। भोगलिप्सा के लिए जीवित रहने की इच्छा मत करो, कर्म करने के लिए जीवित रहने की इच्छा करो। परिणाम इस का यह होगा कि कर्म्म की अनन्यता से फलाभिसन्धि में भी सन्देह न रहेगा, एवं फलाशा से सम्बन्ध रखने वाला संस्कार लेप भी न होगा। अरे ! तुम किन तुच्छ फलों की आसक्ति में पड़े हुए हो। त्रैलोक्य की सम्पत्ति के अधिष्ठाता आदिम पुरुष के वंशज होकर इन तुच्छ सम्पत्तियों के पीछे दौड़ते हुए तुम अपने वंशजों की कीर्ति मिट्टी में मिलाते हो। सोचो तुम कौन हो, कहां से आए हो, क्या करना चाहिए था क्या कर रहे हो। यदि तुम यह नहीं जानते कि तुम क्या हो तो सुनो, हम बतलाते हैं।



४– सूर्य तुम्हारे सामने है। त्रैलोक्य इस के प्रकाश से प्रकाशित है। "सूर्य आत्मा जगत स्तस्थुषश्च" (यजु सं०) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हम उसी के अंश हैं। अतः उसी से अभिन्न है। फलतः जो वह है, वही हम हैं। "हम कौन हैं" इस का यही सच्चा इतिहास है। जिन धोकेबाजों ने तुम्हारे इतिहास का स्वरूप विकृत कर तुम्हारे आत्मवैभव का अपहरण कर रक्खा है, एवं जिस कल्पित इतिहास को मोहवश सत्य समझते हुए तुम अपनी जन्मसिद्ध स्वतन्त्रता से वञ्चित होरहे हो, कलङ्कित, कल्पित, कुत्सित, कुतर्कमय उस मिथ्या इतिहासग्रन्थ के पत्रों को जला डालो। अपने अतीत गौरव के सच्चे इतिहास का अन्वेषण करो। वह मिलेगा तुम्हें अपने ऋषियों की वाणी में, उपनिषदों में। वह इतिहास अजर अमर है, अतएव अमिट है। अपने इस सत्य आत्मइतिहास के बल पर तुम जन्मसिद्ध उस आत्मानन्दमूला स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में समर्थ बनोगे। परन्तु इतना ध्यान रखना कि इतिहास देखने में कहीं प्रमाद न हो जाय। कर्म करो, परन्तु सावधानी से। आंख मीच कर यथेच्छाचारी मत बनना। अपितु निम्न लिखित सिद्धान्त को सदा अपने सामने रखते हुए ही कर्ममार्ग में प्रवृत्त रहना–

किं नु मे स्यादिदं कृत्वा किं नु मे स्यादकुर्वतः।
इति सञ्चिन्त्य मेधावी कर्म्म कुर्वीत वा न वा॥

कर्मजाल बड़ा दुस्तर है। "किं कर्म किमकर्म्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः"(गीता) के अनुसार कवि (भृगु–सोम) प्रशम, सोममय मन का संयम करने के कारण कवि नाम से प्रसिद्ध बड़े बड़े मनस्वी भी कभी कभी धोका खा जाते हैं। वे भी कभी कभी वर्णाश्रम धर्म्ममूलक आधिकारिक कर्म्म की उपेक्षा कर अकर्म्म को कर्म्म मान बैठते हैं, कर्म को अकर्म मान बैठते हैं। तुम्हें चाहिए कि—

———

५– तुमने कर्म्म में प्रवृत्त होने के लिए जो इरादा (क्रतु) किया है, उसकी खूब परीक्षा कर लो। साथ ही में जो काम कर चुके हो उस पर दृष्टि रक्खो। सोचो कि अबतक हमने

जो कुछ किया है, उससे हमारा क्या उपकार हुआ है एवं उससे समाज का क्या हित हुआ है। वर्तमान को भव्य बनाने के लिए अतीत को लक्ष्य में रक्खो। कहीं ऐसा न हो कि केवल वर्तमान के झञ्झावात के झपेटे में आकर आँख मींच कर अशास्त्रीय कर्मों को शास्त्रीय मानते हुए, साथ ही में कर्ममार्ग का विविधसमोप करते हुए अपना सर्वनाश करा बैठें। 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति"।

—— ❧ ——

६– तुम्हारा क्रतु (इरादा) भी बड़ा उदात्त है, अतीत भी तुम्हारा बड़ा भव्य था। परन्तु सावधान! कहीं वर्तमान को न भूल जाना। वर्तमान में तुम्हारे पास जितनी शक्ति है उसे ध्यान में रखते हुए ही आगे बढ़ना। लम्बे चौड़े इरादे, अतीत का गौरव ही कर्म प्रवृत्ति के मुख्य द्वार नहीं हैं। इसके लिए तुम्हें वर्तमान बल का आश्रय लेना पड़ेगा। तुम्हारी अध्यात्मसंस्था में कर्म के प्रवर्तक देवता सोमगर्भित अग्नि हैं। अग्नि अङ्गिरा है, सोम भृगु है। यही दोनों तुम्हारे तप [कर्म] के सञ्चालक हैं। "भृग्वाम ङ्गिरसां तपसा तप्यध्वम्" इस श्रौत सिद्धान्त का समादर करते हुए भृगु–अङ्गिरा मय अपने शरीर आग्नेय बल को सामने रखते हुए तदनुसार कर्म करो। यही अग्नि देवता तुम्हें सुपथ का अनुगामी बनाने वाला है। जो व्यक्ति शक्तिसीमा का उल्लंघन करता हुआ असम्भव कर्मों में प्रवृत्त होजाता है वह कभी सफल नहीं होसकता। इस प्रकार क्रतु (इरादा) कृत (अतीत) अग्नि (वर्तमान शक्ति) तीनों को लक्ष्य में रखते हुए, फलाशा छोड़ते हुए कर्म में प्रवृत्त रहो, ऐहलौकिक पारलौकिक दोनों विभूतियें करबद्ध तुम्हारे सामने खड़ी हैं।

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

—— ❧ ——

ईशोपनिषत्-हिन्दीविज्ञानभाष्य

द्वितीयखण्ड

२

समाप्त

